# हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

१९३५

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

वार्षिक मूल्य पाँच रुपए

## लेख-सूची

# हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था---लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्०। मूल्य १)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति---लेखक, रायबहादुर महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा। सचित्र। मूल्य ३)

(३) कवि-रहस्य---लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा। मूल्य १)

(४) अरब और भारत के संबंध---लेखक, मौलाना सैयद सुलैमान साहब नदवी। अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा। मूल्य ४)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता---लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन)। मूल्य ६)

(६) जंतु-जगत---लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी०। सचित्र। मूल्य ६॥)

(७) गोस्वामी तुलसीदास---लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल। सचित्र। मूल्य ३)

(८) सतसई-सप्तक---संग्रहकर्ता, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास। मूल्य ६)

(९) चर्म बनाने के सिद्धांत---लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी०। मूल्य ३)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट---संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। मूल्य १॥)

(११) सौर-परिवार---लेखक, डाक्टर गोरख प्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ्० आर० ए० एस्०। सचित्र। मूल्य १२)

(१२) अयोध्या का इतिहास---लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। सचित्र। मूल्य ३)

(१३) घाघ और भड्डरी---संपादक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी। मूल्य ३)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री  ठाकुर रामसिंह एम० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए०। मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए०। सचित्र। मूल्य ३)

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ। मूल्य ३॥) सजिल्द, ३) बिना जिल्द।

(१७) हिंदी उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा। मूल्य सजिल्द १॥), बिना जिल्द १)

(१८) नातन—लेसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद। अनुवादक—मिर्ज़ा अबुलफ़ज़्ल। मूल्य १)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०। मूल्य सजिल्द ४), बिना जिल्द ३॥)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना। मूल्य सजिल्द ५॥), बिना जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजगोपाल भटनागर, एम्० ए०। मूल्य ४॥) सजिल्द, ४) बिना जिल्द।

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा ( २ भाग )—लेखक, श्रीयुत जयचंद्र विद्यालंकार। मूल्य प्रत्येक भाग का सजिल्द ५॥), बिना जिल्द ५)

(२३) भारतीय चित्रकला—लेखक, श्रीयुत एन्० सी० मेहता, आई० सी० एस्०। सचित्र। मूल्य बिना जिल्द ६), सजिल्द ६॥)

## हिंदुस्तानी

### तिमाही पत्रिका

की पहले चार वर्ष की कुछ फ़ाइलें अभी प्राप्त हो सकती हैं। मूल्य पहले वर्ष का ८) तथा अन्य वर्षों का ५)

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

सोल एजेंट

इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद

# हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ५ } जनवरी, १९३५ { अंक १


# प्राचीन भारत में वास्तुविद्या और मानसार शिल्पशास्त्र


[ लेखक—श्रीयुत सत्यजीवन वर्मा, एम्० ए० ]


**प्राक्कथन**

प्रयाग विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष डाक्टर प्रसन्नकुमार आचार्य आई० ई० एस्, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्० महोदय ने जिस योग्यता और परिश्रम से पाँच जिल्दो मे प्राचीन भारतीय वास्तुविद्या-संबधी विषयो पर प्रकाश डाला है, उस के लिए वे हमारे धन्यवाद के पात्र है। प्रस्तुत पाँच जिल्दो का प्रकाशन कर हमारे प्रात की सरकार ने प्राचीन भारतीय सस्कृति के अध्ययन में भारतीय इतिहास के जिज्ञासुओ के लिए एक अत्यत उपयोगी सामग्री उपस्थित कर अपनी उदारता और ज्ञानाश्रय का परिचय दिया है। इतिहास के मननशील विद्याव्यसनी सरकार की इस नीति पर अवश्य सतोष प्रकट करेगे। यह आशा करना अनुचित नहीं कि इन ग्रथो के अध्ययन से भविष्य मे भारतीय इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड सकेगा और हमारा 'अज्ञात-विगत' बहुत कुछ प्रकाशमय हो कर हमारे सामने उपस्थित होगा और हमे अपनी प्राचीन संस्कृति और विगत उन्नत अवस्था का परिचय करा सकेगा। उल्लिखित ग्रथों के आधार पर ही हम हिंदी पाठकों के लिए यह लेख लिख रहे हैं। एतदर्थ हम श्रीयुत आचार्य के आभारी हैं।

हमारे देश का प्राचीन इतिहास बहुत कुछ अज्ञात-सा है यद्यपि निरन्तर विद्वानों के प्रयत्न से 'अज्ञात-काल' पर प्रकाश पड़ रहा है, परन्तु अभी हमारे देश के प्राचीन इतिहास को शृंखलाबद्ध होने में बहुत समय लगेगा। पता नहीं कितनी सामग्री लुप्त हो गई और अभी कितनी भूगर्भ या अंधकार में पड़ी है। वास्तुविद्या या निर्माण-कला हमारे देश के लिए नई नहीं। प्राचीन नगरों के ध्वंसावशेष में हमें नित्य इस के प्रमाण मिलते हैं, जिस से यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि किसी समय में हमारे देश की वास्तुविद्या उन्नति की चरम सीमा पर पहुंच चुकी थी। ऐतिहासिक दृष्टि से जब हम वास्तुविद्या की खोज करते हैं, तो हमें ज्ञात होता है कि 'सूत्र-काल' के पूर्व हमें इस कला पर कोई शास्त्र नहीं मिलता। वैदिक साहित्य में यत्रतत्र उल्लेख मिलते हैं जिन के आधार पर हम कह सकते हैं कि उस समय अर्थात् वैदिक-युग में भी भवन-निर्माणकला का विकास हो चला था। वेदों का यद्यपि एक निश्चित काल नहीं माना जा सकता, फिर भी उस में आए हुए 'धाम', 'धामन', 'गृह', 'हर्म्य', 'वस्त्य', 'द्वार' आदि शब्दों से निश्चय होता है, कि उस समय लोग मकानों में रहने लग गए थे, और उन के निर्माण की विधि भी आविष्कृत हो चुकी थी। अथर्ववेद में आए हुए उल्लेखों से यह कहना कठिन है कि उस समय वास्तुविद्या की क्या दशा थी परन्तु जिमर के मतानुसार 'चतुश्शाल' या चौपाल की रचना होती थी। चार स्तंभों (उपमित) पर चार 'परिमित' रख कर उन्हें संबद्ध करते थे। फिर 'प्रतिमित' रख कर उस पर 'वंश' डाल कर छाजन बनाते थे। दीवाल के स्थान पर टट्टियां होती थीं। इस में 'पलद' या घास की 'पूलियां' रक्खी जाती थीं। छाजन में काम आने वाली ग्रंथियों के भिन्न-भिन्न नाम भी मिलते हैं, जैसे—नहन, प्राणाह, संदंश, परिष्वजल्य आदि। इन चौपालों में कई कोठरियां या कक्ष होते थे।

वैदिक साहित्य

ऋग्वेद में एक स्थान पर सौ द्वार वाले प्रासाद का उल्लेख है। वशिष्ठ 'त्रिधातु शरण' में रहने की अभिलाषा प्रकट करते हैं। सहस्र स्तंभों आदि के लंबे-चौड़े 'शरण' वाले मकानों का भी उल्लेख आया है। यद्यपि इन उक्तियों में कविकल्पना भी मिली कही जा सकती है, परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि ये सब केवल निर्मूल कल्पना मात्र नहीं थीं।

'शुल्बसूत्र' और 'तैत्तिरीय संहिता' आदि में यज्ञ-मण्डप और यज्ञ-वेदि का विषय-

वर्णन आया है जिस म इटो से बनाई जानवाली अग्निशाला और अग्निकुण्डो का विस्तत वर्णन है। इस से तो निश्चय होता है कि ईट आदि उस समय बना करती थी। हरप्पा और महेजोदडो की खोदाई से यदि उस का स्थिति-काल निश्चय हो सका, तो भारत मे किस समय से पक्के मकान बनने आरभ हुए, यह भली भांति जाना जा सकेगा।

वैदिक साहित्य मे 'ग्राम', 'नगर', 'दुर्ग' आदि के उल्लेख भी आए है जिन से हम कह सकते है कि वास्तुविद्या-सबंधी ज्ञान उस समय अवश्य विकास को प्राप्त हो चुका था। पत्थरो के दुर्ग, अलकृत हर्म्य, ईटो के प्रासाद, प्राचीर सुरक्षित ग्रामादि उस समय की अवस्था का अच्छा परिचय देते है।

**बौद्धकालीन साहित्य**

बौद्धकालीन भारत मे अनेक छोटी-मोटी कलाओ और विद्याओ की उन्नति के साथ-साथ वास्तुविद्या भी अच्छी उन्नति कर चुकी थी। बौद्धकालीन नगरो के ध्वसावशेषो की खोदाई से इस विषय पर यथेष्ट प्रकाश पड़ रहा है। ग्रामो, नगरो, आदि का निर्माण वैज्ञानिक दृष्टि से होता था। उन की रक्षा और स्वास्थ्य-सबधी आवश्यकताओ पर ध्यान रक्खा जाता था। 'विहार', 'अर्धयोग', 'प्रासाद', 'हर्म्य', और 'गुहा' आदि पॉच भवनो के भेद स्वय भगवान बुद्ध ने कहे थे। इन के ध्वसावशेष आजकल भी मिलते है जिन से उन के निर्माण-कौशल का अच्छा प्रमाण मिलता है। उस समय ऊँचे से ऊँचे स्तूपो का निर्माण होता था। 'आरामो' और 'सघारामो' में अनेक कक्ष होते थे। एक, दो, तीन तल्ले के मकानों का प्रचार था। 'सोपान', 'गवाक्ष', 'अलिंद', 'वातायन' आदि सभी इस के प्रमाण है कि उस समय वास्तुविद्या उन्नत अवस्था में थी।

राइस डेविड्स का मत है कि बौद्धकालीन इमारतों का ढॉचा ईटों और लकडियो का होता था, परतु दीवालों पर चूने का पलस्तर होता था, और उस पर चित्रकारी, बेलबूटे आदि अनेक रगों मे बनाए जाते थे। 'चित्रागार' शब्द इस का द्योतक है कि उस समय इस की प्रथा थी। फर्निचर वा 'पर्य्यंक' उस समय अच्छे बनते थे। एक से तीन व्यक्तियो के बैठने योग्य बेंच, पलग, कोच (आसदि) तिपाई आदि की भी चलन थी। पलंग पर 'वितान' होते थे। कुर्सियो के अनेक भेद मिलते है—'आसंदको' (चतुष्कोण), 'सत्तंगो' (बाँहवाली कुर्सी), 'भद्दपीठ' (सोफ़ा), 'पीठिका' (गद्देदार), ऊँचे स्थान पर

बनी कुर्सी (जैसे प्रधान के लिए) बेत से बनी कुर्सी (कोच्छम) नालकी आदि इन के अतिरिक्त कम्बल, शाल, तकिये, गलीचे चंदवा आदि अनेक सामान बनते थे, जिन का उपयोग धनी-मानी लोग करते थे; दरी, मच्छरदानी, परदे, रूमाल, पीकदान आदि का भी उल्लेख बौद्ध-ग्रंथो मे आता है, जिस से निश्चय होता है कि उस समय वास्तुविद्या का प्रसार यथेष्ट था।

**ऐतिहासिक काव्य**

वाल्मीकि-रामायण मे अयोध्या नगरी का वर्णन इतना विशद है, जिस मे तत्कालीन नगर-निर्माणकला का अच्छा परिचय मिलता है। ऊँचे-ऊँचे गगनचुंबी मकानो की चोटियाँ, शिखर, पताके, देवालय, विमान (बारादरी), के विषय में अच्छी झलक मिलती है। महाभारत मे 'मय'-निर्मित अद्भुत प्रासाद का उल्लेख मिलता है। पुराणो मे 'मत्स्यपुराण' मे आठ अध्याय केवल वास्तु-संबधी है। 'स्कंदपुराण' के चार अध्याय इसी विषय पर है। 'गरुड-पुराण' मे चार अध्यायो मे हर्म्य अर्थात् रहने के मकान, दुर्ग, देवालय आदि सभी प्रकार की इमारतो का विशद वर्णन दिया है। 'अग्निपुराण' मे सोलह अध्यायो मे वास्तु-संबंधी विषय पर लिखा गया है। 'नारदपुराण' मे एक अध्याय मे वापी, कूप, तडाग आदि के निर्माण का वर्णन है। इसी प्रकार 'लिंग', 'वायु', 'ब्रह्मांड', 'भविष्य', आदि सभी ने वास्तु-संबधी विशद वर्णन किया है।

'बृहत्संहिता' मे पाँच अध्याय वास्तुविद्या से संबंध रखने वाले हैं। जिन मे स्थान का चुनाव, नींव, मकान की माप आदि का पूरा वर्णन है।

**आगम**

आगमो मे भी (जिन का संबंध अधिकतर शैव-पूजा से है) शिल्पशास्त्र-संबंधी बाते मिलती हैं। कुछ आगमों मे वास्तुविद्या से संबंध रखने वाली बाते विशेष-रूप से दी गई हैं। 'कामिकागम' मे ६० अध्याय इसी से संबंध रखते है और उन की प्रतिपादन-शैली ऐसी है जिस से उसे शिल्प-शास्त्र-संबधी ग्रंथ कहना अनुचित न होगा। 'करणागम' मे भी शिल्प पर विशद-रूपेण लिखा गया है। उपरोक्त दोनो आगमों की तुलना 'मानसार शिल्पशास्त्र' से की जाय तो बहुत कुछ वस्तुसाम्य दिखाई पडेगा। 'सुप्रभेदागम' के पद्रह अध्याय शिल्प से संबंध रखते है। इसी प्रकार 'वैखानसागम', 'अंशुमद्-भेदागम' मे भी 'मानसार' के अनुरूप विषयो का प्रतिपादन हुआ है।

'कौटिल्य-अर्थशास्त्र' में कई अध्याय वास्तु से संबंध रखते हैं, जैसे जनपद निवेश भूमि-छिद्रविधान, दुर्गविधान, दुर्गनिवेश, वास्तुक वा गृहवास्तुक, वास्तु-विक्रय, सीमा-विवाद, मर्यादा-स्थापन आदि। 'शुक्रनीति' में भी दुर्ग आदि के निर्माण का विधान दिया है। 'हर्षचरित्र' में भी तत्कालीन भारत में प्रचलित वास्तुज्ञान के विषय में उल्लेख मिलता है। 'राजतरंगिणी' में वाणशाला, चैत्य, विहार आदि का उल्लेख है। 'गर्गसंहिता' में वास्तु-संबंधी कुछ विधानों का वर्णन है। 'सूर्यसिद्धांत', 'सिद्धांतशिरोमणि' और 'लीलावती' में भी शंकुस्थापन तथा नाप-जोख-संबंधी बातों का वर्णन है। काव्यग्रंथों में आए हुए उल्लेखों में भी वास्तुविद्या के प्रचार के विषय में आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। कालिदासकृत 'विक्रमोर्वशी' में 'गंगातरंगस्फटिकसोपान' से उस समय के सोपान-निर्माण-विधि का साक्षात् होता है। भवभूति ने अपने 'उत्तररामचरित' में 'वज्रलेप' का व्यवहार किया है, जिस का अर्थ एक प्रकार का कठोर पलस्तर ही होगा। उसी नाटक में चित्रशाला का भी उल्लेख है, जिस से उस समय के भित्तिचित्र और 'चित्रागार' का आभास मिलता है। 'मृच्छकटिक' में 'गृहदेहली', 'पक्षद्वारक,' 'चतुःशाला', 'प्रासार', 'बालाग्र-कपोत', 'पालिका', 'श्रेष्ठिचत्वार', 'बहिर्द्वारशाला', 'पक्वेष्टक', 'आमेष्टक', 'प्राकार', 'प्रतोलीद्वार', 'व्यवहारमंडप', 'अधिकरणमंडप', 'दुर्वाचत्वर' आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है, जिस से पता चलता है कि वास्तुशास्त्र के अनुसार इन वस्तुओं का निर्माण होता था। ये सब एक प्रकार के शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द हैं जो नाटक में व्यवहृत हुए हैं। इसी भाँति कोष में भी अनेक शब्द मिलते हैं जिन से निर्माणकला का ज्ञान होता है। 'भास्कर' (शिल्पी) 'इष्टक', 'स्तंभ', 'अट्टालिका' आदि शब्दों की व्युत्पत्ति पर पाणिनि ने भी विचार किया है। इन बातों से यह निश्चय हो जाता है कि प्राचीनकाल ही से भारत में वास्तुकला का यथेष्ट प्रचार रहा है और बहुत प्राचीन समय से ही इस विद्या की उन्नति होती रही है।

**अन्य ग्रंथ**

संस्कृत में शिल्प का अर्थ कला-कौशल तथा यंत्र-संबंधी ज्ञान है। इस व्यापक शब्द से ६४ कलाओं का भी बोध होता है। भवन-निर्माण-संबंधी विषयों में 'शिल्प' शब्द से तात्पर्य वास्तुकला से होता है। परंतु 'वास्तु' शब्द से केवल भवन-निर्माण-कला का बोध होता है, और वास्तु-

**शिल्प और वास्तु**

विद्या-संबंधी शास्त्रों में केवल भवन निर्माण ही का वर्णन नहीं है वरन मानसार के अनुसार इस के अनेक अंग है, जैसे —भूमि (भू-परीक्षा), हर्म्य (भवन-निर्माण), यान (रथ, यंत्रों आदि की रचना) और पर्यंक (शयन, पीठ, आदि अनेक आवश्यक वस्तुओं के बनाने की विधि)। अतः वास्तु-शास्त्र वस्तुतः शिल्प-शास्त्र है।

वास्तु-शास्त्र या शिल्पशास्त्र पर अनेक ग्रंथ उपलब्ध है, यद्यपि उन सब में 'मानसार' की ही प्रधानता है। 'मानसार' में वास्तु-संबंधी विषयों का विशद वर्णन है और एक प्रकार से यह ग्रंथ सर्वांगपूर्ण कहा जा सकता है। इस के विषय में विस्तृत-रूप से आगे कहा जायगा। 'मानसार' के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों का संक्षेप में परिचय दे देना आवश्यक है। ये समस्त ग्रंथ संस्कृत में है।

ग्रंथ

१—**मयमत शिल्पशास्त्र**—इस के रचयिता मयमाचार्य माने जाते है। इस ग्रंथ में ३६ अध्याय है। 'मानसार' से तुलना करने पर यह निश्चय हो जाता है कि ग्रंथकार ने अवश्य अपने ग्रंथ के प्रणयन में 'मानसार' से सहायता ली है। इस ग्रंथ की एक अप्रकाशित प्रति ओरियंटल मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास में है, जिस के विषय में डाक्टर आचार्य का अनुमान है कि वह 'मानसार' का संक्षिप्त संकलन है।

२—**अंशुमद्‌भेद**—यह ग्रंथ 'मानसार' ही के बराबर है। इस के प्रणेता कश्यप माने जाते है। इस में ८६ अध्याय है। इस में शिल्प वा नक्काशी के विषय में सविस्तर वर्णन है। शेष 'मानसार' की शैली पर है, जिस में 'मानसार' की छाया स्पष्ट है।

३—**विश्वकर्म-शिल्प**—इस ग्रंथ के अनेक नाम मिलते हैं—विश्वकर्म-प्रकाश, विश्वकर्म-वास्तुशास्त्र, विश्वकर्मीय-शिल्पशास्त्र। विश्वकर्म-प्रकाश अथवा विश्वकर्म-वास्तुशास्त्र में मकान, सड़क, तालाब आदि की निर्माण-विधि दी है। ये समस्त ग्रंथ 'मयमत' के पश्चात् लिखे गए है और 'मयमत'-द्वारा 'मानसार' की छाप उन पर पड़ी है।

४—**अगस्त्य-सकलाधिकार**—अगस्त्य-रचित इस ग्रंथ की पूरी प्रति प्राप्त नहीं हुई है। परंतु एक प्रति में २४ अध्याय मिले है। 'अगस्त्य' और 'मानसार' में स्पष्ट समता दिखाई पड़ती है। 'मानसार' में 'अगस्त्य' का उल्लेख भी है।

५—**सनत्कुमार-वास्तुशास्त्र**—इस ग्रंथ की अधूरी प्रतियाँ मिली है। एक

प्रति मे आठ अध्याय मिले है आतरिक प्रमाणो से यह निश्चय होता है कि 'सनत्कुमार' ने मानसार से सहायता ली है।

६—**मंडनकृत शिल्पशास्त्र**—मडन के नाम के साथ अनेक विशेषण प्रयुक्त हुए हैं—जैसे राजबल्लभ, सूत्रधार, भूपतिबल्लभ। कहा जाता है कि मडन मेद-पथ के राजा कुभकर्ण के आश्रित थे। जिन की पत्नी का नाम मीराबाई था। टाड के अनुसार कुभ ने मेवाड पर सन् १४१९ से १४६९ तक राज किया। मडन के ग्रंथ का नाम—शिल्प-शास्त्र, वास्तुशास्त्र और प्रासाद-मडन-वास्तु-शास्त्र मिलता है। इस मे चौदह अध्याय है। इन मे भवन, प्रासाद और देवालयो के निर्माण की विधि दी है। एक दूसरी प्रति मे आठ अध्याय मिलते हैं, जिन मे सात उपरोक्त चौदह अध्यायो के अतिरिक्त जान पडते हैं। इस प्रकार कुल इक्कीस अध्याय होते हैं। इस समस्त ग्रथ के अध्ययन से पता चलता है कि ग्रथकार ने अपने पूर्व के अनेक ग्रथो से सहायता ली है, जिन मे 'मानसार' एक अवश्य था।

७—**संग्रह**—इस का दूसरा नाम शिल्प-सग्रह भी मिलता है। इस मे 'मानसार', मयमत, कश्यप, विश्वकर्म, अगस्त्य, भृगु, पौलस्त्य, नारद, नारायण, मौबल्य, शेषभाष्य, चित्रसार, सारस्वत, विश्वसार, चित्र-ज्ञान, कपिंजल-सहिता, कौमुदी, ब्रह्मशिल्प, ब्रह्मयामल, दीप्त-तन्त्र, और दीप्ति-सार—२१ ग्रंथों से संकलन किया गया है। इन मे से पहले पाँच का तो पता लग चुका है, परंतु शेष १६ का अभी कही पता नही लग सका है।

इन प्राप्त शिल्पशास्त्रो की परीक्षा करने पर दो सिद्धात निश्चित होते हैं एक तो यह कि इन मे से अधिकतर केवल 'सकलन' है। दूसरे यह कि इन सब मे 'मानसार' ही सब से सपूर्ण और वैज्ञानिक दृष्टि से लिखा हुआ प्रतीत होता है। अधिक संभव है कि 'मानसार' सब से प्राचीन और प्रामाणिक ग्रथ भी हो। 'मानसार' मौलिक रचना नही है, वरन् यह भी पूर्व-ग्रथकारो के ग्रथो के आधार पर लिखा गया है। ग्रंथकार ने स्वय अपने पूर्ववर्ती ३२ आचार्यों का उल्लेख किया है। परतु यह सब होते हुए भी 'मानसार' की महत्ता इस समय सर्व-प्रधान मानी जा सकती है।

**नाम**

इस ग्रथ का 'मानसार' नामकरण क्यों हुआ अथवा इस नाम से यह वास्तु-शास्त्र क्यों प्रसिद्ध हुआ यह विषय विचारणीय तथा चिंत्य है। ग्रथ मे ७१ अध्याय है। प्रत्येक के अत मे—'मानसारे

वास्तु शास्त्र लिखा मिलता है इस के दोनों अर्थ हो सकते हैं वास्तु शास्त्रे, अथवा मानसारनाम वास्तुशास्त्रे। अतः मानसार से तात्पर्य ग्रंथकार का ग्रंथ दोनों का हो सकता है। एक स्थान पर ग्रंथकार ने स्वयं लिखा है —

> कृतमिति अखिलमुक्तं मानसारपुराणैः
> पिता महेंद्रप्रमुखैः समस्तैर्वेदैरिदं शास्त्रवरं
> पुरोदितम् । तस्मात्समुद्धृत्य हि मानसारम्
> शास्त्रं कृतं लोकहितार्थमेतत् । (३०-११४-११-८)

उपर्युक्त उद्धरण में 'मानसार' दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। (१) वास्तुकार के अर्थ में, और (२) वास्तुशास्त्र के अर्थ में। एक और स्थान पर भी ग्रंथकार 'मानाना सार सगृह्य शास्त्रे सक्षेपत क्रमात्' लिखा है, जिस में यह ध्वनि निकलती है कि नाप-जोख के गूढ़ तत्व से संबंध रखनेवाले ग्रंथ का नाम 'मानसार' समझा गया। अन्यत्र 'मानसार-ऋषिणा कृत शास्त्र मानसारमुनिनामकमार्शात्' मिलता है। एक स्थान पर 'मानसारो बहु श्रुत', और फिर 'सकल मुनिवरैर्मानसारादिमुख्यै.' आता है। आतरिक प्रमाण भ्रमात्मक है। परंतु बाह्य प्रमाणों से यह निश्चय होता है कि 'मानसार' किसी व्यक्ति-विशेष का नाम था। दंडीकृत 'दशकुमारचरित' में मालवा का राजा 'मानसार' कहा गया है। यद्यपि यह केवल कल्पित कथा के प्रसंग में आया है परंतु कथा का आधार ऐतिहासिक हो सकता है और कम से कम यह निश्चय है कि 'मानसार' किसी व्यक्ति का नाम हो सकता है। दो शिलालेखों में भी 'मानसार' नाम आया है जिस से तात्पर्य किसी वास्तु-कार ही से है। ऐसी दशा में यही मानना उचित है कि मानसार-कृत ग्रंथ का नाम 'मानसार' पड़ा और यह वास्तुकार था।

**प्रस्तुत संस्करण**

मानसार का प्रस्तुत संस्करण जो हमें उपलब्ध है इस के लिए डाक्टर प्रसन्न-कुमार आचार्य हमारे धन्यवाद के पात्र हैं। यह आप के १७ वर्षों के अहर्निश निरंतर प्रयत्न और परिश्रम का फल है जो आज 'मानसार' का उद्धार हो सका है। आप ने बड़े परिश्रम और खोज से 'मानसार' की अनेक हस्तलिखित प्रतियों की परीक्षा कर उन के आधार पर अपना संस्करण तैयार किया है। आप के परिश्रम और विद्वत्तापूर्ण गवेषणा की जितनी प्रशंसा की जाय उचित है। 'मानसार' का अंग्रेज़ी अनुवाद, उस के आधार पर उपयोगी मानचित्र आदि भी,

आप ने तीन भिन्न भिन्न पोथियो मे प्रकाशित किया है। इस के अतिरिक्त एक जिल्द मे आप ने 'भारतीय वास्तुकला' पर विचार किया है और अनेक शोधपूर्ण प्रमाणो और तर्कों से 'मानसार' तथा अन्य शिल्प-शास्त्रों पर प्रकाश डाला है। ये सारे प्रयत्न आप ने केवल 'मानसार' के अध्ययन मे सुविधा उपस्थित करने के हेतु किए है। 'मानसार' के प्रस्तुत सस्करण को इन की सहायता से अध्ययन करने पर, निकट भविष्य मे प्राचीन भारत की सस्कृति पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पडने की आशा की जा सकती है।

**विषय-सूची**

'मानसार' मे कुल ७० अध्याय है। आरभ मे ग्रथकार ब्रह्मा की वदना करता है और ग्रथ के विषय मे कहता है कि मानसार ऋषि ने शिव, ब्रह्मा, और विष्णु तथा इद्र, बृहस्पति, नारद और अन्य मुनियो द्वारा कहे हुए वास्तुशास्त्र को सविस्तर वर्णन करने के लिए यह ग्रथ रचा है। 'मानसार' मे वस्तुसूची का क्रम इस प्रकार है। प्रथम-मानोपकरण-विधान (नाप-परिमाण), शिल्पी के गुण-धर्म, पश्चात्, वास्तुभेद, भू-परीक्षा, भूमि-संग्रह (स्थान-निर्णय), शकुस्थापन (दिशा-निर्णय और दागबेल लगाना), पदविन्यास (स्थान निश्चय करना) भूमि-पूजा, गॉव बसाना, नगर-निर्माण, भूमिलब-विधान (ऊँचाई निश्चय करना), गर्भन्यासविधान (नीव रखना), उपपीठविधान (कुर्सी बनाना), अधिष्ठान-विधान (स्तंभ की आधार-रचना), पादमान (स्तंभ का माप), पस्तर-विधान (पाटन-क्रिया), सधिकर्म (जोडाई विशेषत· लकड़ी), विमान-विधान (पक्के मकानो के भेद)। इस के बाद एक से १२ तल्ले के मकानो की माप, रचना-विधि आदि का सविस्तर वर्णन है फिर प्राकार, सभा-रचना, देवालयो के बनाने की विधि, गोपुर-विधान (फाटक-रचना) मंडप-विधान, शाला (बडा कमरा), बडी जगह मे मकान के भिन्न भागों का स्थान निश्चय करना, गृह-प्रवेश-विधि, द्वारस्थान-निश्चय, दरवाजों की नाप, राजा के महल की रचनाविधि, रथ, शयन (पर्यक), सिहासन, तोरण, मध्यरंग (नाटचशाला), कल्पवृक्ष (बेल बूटे) आदि बनाने की विधि, नाप आदि दी है। अत में मुकुट, किरीट, आभूपण, मूर्ति-रचना, लिग (मूर्ति)-रचना, पीठ, शक्तियो (देवियो) की मूर्ति, उन के वाहन, उन की नाप आदि दी है और उन के अगो की दोष-परीक्षा, उन की मोम की मूर्ति बनाना, उन की आँखें खोलना आदि वर्णित है। प्रसगवश 'मानसार' में राजाओं और भूपतियो के लक्षण और उन के

अभिषक के विधान का भी उल्लेख सविस्तर मिलता है इन शीर्षकों से मानसार की सर्वांगपूर्णता का अच्छा आभास मिलता है, परंतु संक्षेप में उस के 'वस्तु' के विषय में थोड़ा और प्रकाश डालना युक्तिसंगत होगा।

उस महाविश्वकर्मा (ईश्वर) ने ब्रह्मांड की रचना की। उस के चार मुख है। पूर्व-मुख का नाम विश्वभू, दक्षिण का विश्वविद्, पश्चिम का विश्व-सृष्टा और उत्तर का

आरंभ

विश्वस्थ है। इन्हीं चारो से विश्वकर्मा (कारीगर, वास्तुकार) की उत्पत्ति हुई। पूर्व मुख से विश्वकर्मा, दक्षिण से मय, उत्तर से त्वष्टा और पश्चिम से मनु उत्पन्न हुए। विश्वकर्मा ने इंद्र की पुत्री से विवाह किया, मय ने सुरेंद्र-तनया से, त्वष्टा ने वैश्रवण-सुता से, और मनु ने नलकन्या से विवाह किया। विश्वकर्मा से स्थापति उत्पन्न हुए, मय से सूत्रग्रह, त्वष्टा से वर्धकी और मनु से तक्षक उत्पन्न हुए।

स्थापति सर्व-प्रधान है। ये सर्वशास्त्रों के ज्ञाता होते है। इन के अधीन शेष तीनों, कार्य-संपादन करते है। वास्तुकला-संबंधी समस्त ज्ञान इन्हें रहता है, और इन की निग-रानी मे वास्तु-निर्माण होता है। सूत्रग्रह का काम नापना-जोखना और मानचित्र बनाना है। इस के अधीन वर्धकी और तक्षक काम करते हैं। वर्धकी का धर्म चित्रकर्म (रंग भरना, बेल-बूटे बनाना) और तक्षक का काम काटना जोड़ना आदि है। इन चारो के परस्पर सहयोग और मजूरो की सहायता से काम होता है।

मुनियो की आंखों से जो दिखाई पड़े उसे 'परमाणु' कहते हैं। 'मानसार'

माप

मे माप परमाणु से आरंभ होता है। संक्षेप मे वह इस प्रकार है।

| | | |
|---|---|---|
| ८ परमाणु | बराबर | १ रथधूलि |
| ८ रथधूलि | ,, | १ बालाग्र (बाल की नोक) |
| ८ बालाग्र | ,, | १ लिक्ष (लीख) |
| ८ लिक्ष | ,, | १ यूक (जूँ) |
| ८ यूक | ,, | १ यव (जौ) |
| ८ यव | ,, | १ अंगुल (मोटाई) |

अगुल तीन प्रकार के होग यह ६ जौ ७ जौ और ८ जौ के भी होग परतु स्थायी अगुल ८ जौ का माना गया ह। और—

| | | |
|---|---|---|
| १२ अंगुल | बराबर | १ वितस्ति (बीता) |
| २ वितस्ति वा २४ अंगुल | ,, | १ किप्कु हस्त |
| २५ अगुल | ,, | १ प्राजापति हस्त |
| २६ अगुल | ,, | १ धनुर्मुष्टि हस्त |
| २७ अगुल | ,, | १ धनुर्ग्रह हस्त |
| ४० हस्त | ,, | १ धनु या दड (कट्ठा) |
| ८ दड | ,, | १ रज्जू (जरीब) |

यान (रथादि), शयन (फर्निचर) की नाप किष्कु हस्त से, विमान (बारादरी) प्राजापत्य हस्त से और वास्तु (मकान, नगर, ग्राम आदि) धनुर्मुष्टि हस्त से होंगे। यो साधारणतया किप्कु हस्त (२४ अंगुल) से सभी नापे जा सकते हैं।

मानदंड अथवा नापने का दंड एक हाथ लवा होना चाहिए। मानदड शमी, शाक, चाप, खदिर, तमालक, क्षीरणी, तित्रिणी आदि लकड़ी का बनाना चाहिए। कर्मुक और बाँस भी काम मे आ सकते है, परंतु उस में गाँठ न हो। लकडी गीली वा टेढी मेढ़ी न हो। मानदंड की चौड़ाई एक अंगुल, मोटाई आधी अंगुल होनी चाहिए। मानदड के लिए लकडी को तीन मास तक पानी मे भिगो कर सिझाना, फिर 'तक्षक' वा बढ़ई से वनवाना चाहिए। दड के अतिरिक्त रज्जू भी नापने के काम में आती थी। इस के लिए नारियल की जटा, कुश, बरगद की छाल, कपास, किंशुक (सेंमल), ताड की छाल, वा केतकी की छाल काम में लाई जाती थी। इस की मोटाई उँगली के इतनी होती थी। विना गाँठ की एक से तीन 'लर' की होती थी। ब्राह्मणों, देवताओ और क्षत्रियो के मकान के लिए तीन 'लर' की, वैश्यो के काम के लिए दो 'लर' की और शूद्रो के लिए एक 'लर' की रज्जू ही काम मे आती थी।

**मानदंड**

वास्तु के चार प्रकार माने गए हैं। धरा (पृथ्वी, भूमि), हर्म्य (इमारत), यान (रथादि) और पर्यक (शय्यादि)। धरा अथवा भूमि मुख्य है, क्योकि इसी पर हर्म्य आदि का निर्माण होता है। प्रासाद,

**वास्तु-भेद**

मंडप सभा शाला प्रपा जलगृह रंगभूमि आदि को हर्म्य कहते हैं। स्यंदन शिविका रथ (तेज सवारी), आदि यान के अन्तर्गत माने जाते हैं। पिंजड़ा, हिंडोला, मंच (सिंहासन), काकाष्ठ (काक के चोंच सा आठ पैर का पलंग), नकुल और बच्चों के पलंग आदि पर्यंक श्रेणी में आते हैं।

धरा ही सब वस्तुओं का आधार है। इस हेतु चारों वर्णों के अनुसार उस का चुनाव होना चाहिए। 'मानसार' में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों के लिए 'धरा' के

**धरा**

लक्षण दिए हैं जिन के अनुसार भूमि का निर्वाचन करने से कल्याण होता है। 'भूमि-संग्रह-विधान' नामक अध्याय में भूमि के चुनाव की विधि 'मानसार' ने दी है। इस के अनुसार देवताओं और मनुष्यों के हर्म्य के उपयुक्त पश्चिम और दक्षिण की ओर उन्नत चौकोर भूमि अच्छी होती है। मिट्टी मुलायम, चिकनी, छूने में सुखकर, उपजाऊ हो। धवल, रक्तवर्ण, सुनहली, काली वा हल्के नीले रंग की हो। भूमि के दक्षिण जलाशय हो और दृश्य मनोहर हो। उस में दीमक, चूहे, हड्डियाँ, घोंघे, बालू और बिल न हों। उस में राख, भूसी, रोड़े न हों। भूमि में मधु, तैल वा घी की गंध न हो। उस में दुर्गंध न हो। पक्षी, मछली, शव (मुर्दे) की बू न आती हो। वहाँ काँटेदार झाड़ियाँ न हों, शालवृक्ष न हों। वह कछुए की पीठ की भाँति गोलाकार वा त्रिकोण न हो अथवा मुगदर की भाँति आकार में न हो, वहाँ जहरीले साँप, बराह, बंदर, शृगाल, उल्लू, जंगली भैंसे आदि भयानक दुखप्रद जंतु न हों। ऐसे स्थान को हर्म्य के लिए उपयुक्त धरा समझना चाहिए। हर्म्य के लिए स्थान सर्व-प्रकार सुरक्षित होना चाहिए।

जिस स्थान में मकान बनाना हो उसे एक हाथ गहरा खोद कर उस में पानी भर दे। प्रातःकाल यदि उस में कुछ पानी शेष मिले तो समझना चाहिए कि भूमि अच्छी

**भूमि-परीक्षा**

है, यदि बिल्कुल सूख जाय तो उस स्थान को निषिद्ध समझना चाहिए। यदि कुछ नमी रहे तो उस स्थान में बसने वाले को दुःख होगा। यदि गड्ढे से निकाली हुई मिट्टी फिर उस में भरपूर समा जाय तो वह स्थान साधारणतया अच्छा, परन्तु यदि मिट्टी बढ़ जाय तो अति उत्तम। यदि पूरी मिट्टी से गड्ढा न भरे, तो उस स्थान को वर्जित समझना चाहिए। भूमि की सर्वत्र परीक्षा करनी चाहिए। मकान के लिए चुनी भूमि को जुताना चाहिए। सारे काम शुभ

मुहूर्त और यथाविधि होते थे इस संबंध में 'मानसार' ने उस समय प्रचलित विश्वास के अनुसार विधि लिखी है, जो वास्तुविद्या की दृष्टि से हमारे काम की नही।

'शंकुस्थापन' से तात्पर्य खूँटी लगा कर दिशा-निर्णय तथा दागबेल लगाने से था। उस की क्रिया का सविस्तर वर्णन 'मानसार' में दिया है। शकु एक प्रकार का खूँटा होता था। इस की लबाई एक हाथ होती थी। नीचे का भाग छः अंगुल मोटा, ऊपर का भाग गोलाकार दो अंगुल मोटा होता था। प्रधान खूटे के अतिरिक्त छोटे खूटे भी होते थे, जिन की लबाई एक हाथ, नीचे की मोटाई ४, वा ५ अगुल, ऊपर की ¾ वा एक अगुल होती थी। ऊपर की ओर खूँटे का आकार छाते की भाँति होता था—अर्थात् मध्य का भाग कुछ ऊपर उठा हुआ। बडे खूँटे को भूमि (धरा) के बीच गाड कर बिंदु-तत्वज्ञ (रेखागणित-विशेषज्ञ) नाप-जोख कर दिशाएँ निश्चित करता था। दिशाओं के जानने का साधन केवल सूर्य माना जाता था। इस लिए खूँटे की छाया से पूरब और पश्चिम निश्चय कर के शेष दिशा-कोण निश्चित किया जाता था। नाप-जोख की जो विधि 'मानसार' ने दी है उस से उस समय के ज्योतिष और रेखागणित के प्रचार का अच्छा परिचय मिलता है। इस प्रकार दिशाएं और दिशा-कोण निश्चित कर सूत्रग्रह हर्म्य के माप के अनुसार दागबेल लगाता था। सूत या तो कपास या सन का बना होता था। दंडमान का प्रयोग इतना अच्छा नही समझा जाता था। सूत ही अधिक उपयुक्त समझा जाता था। नीव के 'गर्भसूत्र' के बाहर और भीतर खूटे लगा कर दागबेल होता था। प्राय आजकल भी यही प्रथा है। खूटे महुए, खैर वा अरिमेद काष्ट के होते थे। नीव की खोदाई के लिए खूंटा लंबाई में २१, वा २५ अगुल, मोटाई में मुट्ठी बराबर ऊपर से नीचे उतरता हुआ नुकीला होता था। शकुस्थापन के समय विशेष प्रकार की पूजा आदि भी होती थी।

**शंकुस्थापन**

किसी नक़्शे के बनाने के पूर्व पदविन्यास-निर्णय की आवश्यकता होती थी। 'पद' एक टुकडे को कहते थे। इन्ही टुकडो की गिनती और विन्यास के अनुसार 'वास्तु' का धराकार होता था। 'पद' चौकोर (समचतुर्भुज), सम-कोण, गोलाकार, अडाकार, आदि अनेक आकार के होते थे। 'मानसार' मे इन 'पदो' के अनुसार 'पदविन्यास' के ३२ भेद किए गए है। सक्षेप मे वे इस प्रकार है :—

**पदविन्यास**

| नाम | पदसंख्या | विशेष |
|---|---|---|
| १—सकल | १ | देवताओं की पूजा, श्राद्ध, भोजन के योग्य मकान के लिए। |
| २—पेशाच (पेचक) | ४ | पूजा तथा स्नानगृह के लिए। |
| ३—पीठ | ९ | |
| ४—महापीठ | १६ | इसका विन्यास कई आकार का होता था। |
| ५—उपपीठ | २५ | |
| ६—उग्रपीठ | ३६ | |
| ७—स्थण्डिल | ४९ | |
| ८—चण्डित | ६४ | इस का विन्यास गोल और समकोण होगा। |
| ९—परमशायिक | ८१ | चौकोर (समकोण), गोलाकार और त्रिकोण। |
| १०—आसन | १०० | समकोण और गोलाकार। |
| ११—स्थानीय | १२१ | |
| १२—देश्य | १४४ | |
| १३—उभय-चण्डित | १६९ | |
| १४—भद्र | १९६ | |
| १५—महासन | २२५ | |
| १६—पद्मगर्भ | २५६ | |
| १७—त्रियुत | २८९ | |
| १८—कर्णाष्टक | ३२४ | |
| १९—गणित | ३६१ | |
| २०—सूर्य्यविशालक | ४०० | |
| २१—सुसंहित | ४४१ | |
| २२—सुप्रतिकांत | ४८४ | |
| २३—विशालक | ५२९ | |
| २४—विप्रगर्भ | ५७६ | |
| २५—विवेश | ६२५ | |

| नाम | पदसंख्या | विशेष |
|---|---|---|
| २६ विपुलभोग | ६७६ | |
| २७—विप्रकांत | ७२९ | |
| २८—विशालाक्ष | ७८४ | |
| २९—विप्रभक्ति | ८४१ | |
| ३०—विश्वेशसार | ९०० | |
| ३१—ईश्वरकांत | ९६१ | |
| ३२—चंद्रकांत | १०२४ | |

उपरोक्त ३२ भेदों के अनुसार 'वास्तु' बनाया जाता था। प्राय नगर, गॉव वा मकान बनाने के पूर्व इस बात का निर्णय होता था कि उस का आकार क्या होगा—उस की लंबाई-चौडाई क्या होगी। फिर उसी के अनुसार पदविन्यास कर उस में स्थान निश्चित करते थे। 'मानसार' में प्रत्येक 'पदविन्यास' में विशेष-विशेष देवताओ आदि के लिए स्थान निश्चित है, जिन के अनुसार 'पदो' का सख्या के अनुसार नाम दिया है। ये केवल धरातल के विभाग है।

ग्रामविन्यास या नगर-निर्माण पर 'मानसार' मे विशद रूप से लिखा गया है। ग्रामविन्यास के आठ भेद दिए गए है:—दडक, सर्वतोभद्र, नंद्यावर्त, पद्मक, स्वस्तिक, प्रस्तर, कार्मुक और चतुर्मुख। गाँव बसाने के पूर्व पहले धरा की माप होती थी, फिर पदविन्यास निर्णय होता था, तदनतर पूजापाठ करते थे। इस के पश्चात् ग्रामविन्यास, फिर ग्रहविन्यास और गर्भविनिक्षेप क्रिया होती थी। अत में पूजापाठ कर गृहप्रवेश होता था। गॉव के नापने के लिए धनुर्ग्रह दंड (२७ अंगुल) काम मे लाते थे। इन आठ प्रकार के गॉवो के विषय में विशेष बाते इस प्रकार है।

**ग्राम-लक्षण**

दडक तीन प्रकार का, अर्थात् छोटा, मध्यम और बडा होता था। सब से छोटा चौड़ाई मे २५ दंडक[1] और चौडाई मे इस का दूना होगा। दो-दो दंडक वृद्धि कर के

[1] एक दंड = ५ फुट १ इंच।

इस के ३९ भेद हो सकते हैं। मध्यम दंडक ३१ दंड चौड़ाई से १०७ दंड तक हो सकता

**दंडक**

है। इस में लम्बाई चौड़ाई की दूनी होगी और दो-दो दंड की वृद्धि करके इस में ४२ भेद हो सकते हैं। सब से बड़ा ४५ तरह का हो सकता है। इस की चौड़ाई ३७ से १७५ दंड तक होती है और दो दो-की वृद्धि कर के उतने भेद किए जा सकते हैं। दंडक ग्राम समान-कोण होगा। इस के चारों तरफ दंडो के आकार (चतुष्र आयत) की प्राचीर होगी। इस में हो कर तीन वा पाँच रथ के योग्य पथ हों। इन की चौड़ाई १ से ५ दंड तक हो सकती है। इस में मिली छोटी छोटी वीथी (गली) हों। गांव के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाने वाली दो सड़कों के एक बगल पथ (पैदल के लिए) हों। परन्तु मुख्य वा प्रधान रथ-मार्ग को दो भाग में काटती हुई एक सड़क हो और प्रधान मार्ग के दोनो बगल पटरियां हों। प्रधान मार्ग को काटने वाली सड़क पर मकान ३, ४, ५ दंड चौड़े हों और लंबाई दुगुनी वा तिगुनी हो। गाव के चारों ओर प्राचीर ओर उस के चारो ओर परिखा हो। चारों दिशाओ में चार द्वार और उपद्वार हो। पश्चिम की ओर विष्णु वा मित्र की मूर्ति स्थापित हो। उत्तर-पूर्व कोण पर शिव की प्रतिमा हो। इस प्रकार का दंडक ब्राह्मणो के बसने योग्य होता है।[1]

**सर्वतोभद्र**

इस का माप चौडाई मे ५० से २०० दंड, लबाई में ६१ से ३१३ दंड; और लबाई में और चौडाई मे दो-दो जोड़ कर अनेक भेद होंगे। परन्तु यह आवश्यक है कि लबाई-चौडाई जूस-ताक (युग्म और अयुग्म) हो। सर्वतोभद्र ग्राम चारो ओर से बराबर (चतुरश्राकार, मुरब्बा) होना चाहिए। सर्वतोभद्र ग्राम के बीच मे मंदिर रहता था। इस मे तपस्वी, योगी, यती, ब्रह्मचारी और पाखंडी, श्रमण (बौद्ध और जैन) सभी रह सकते थे। इस मे एक से पाँच तक रथमार्ग हो सकते हैं। ग्राम के चारो तरफ मे वीथी होगी, इस के दोनों बगल पटरी होगी। गांव के बीच मे जाने वाले मार्ग के एक बगल (पक्ष) पटरी होगी। गाँव से हट कर चारों तरफ कुछ भूमि और एक सड़क रहेगी। गांव चार खंडो में विभाजित होगा और बीच

[1] **इस प्रकार दंडक में १२ से ले कर ३०० ब्राह्मण रह सकते हैं। २४ यति यदि रहें तो इसे 'ग्राम' कहेंगे। नदी तट पर बसाया जाय तो 'पुर'। दीक्षित पचास ब्राह्मण रहें तो 'नगर'; यदि ५८ घर हों तो 'मंगलक'; यदि सौ घर हों तो 'कोष्टक' कहेंगे।**

के चौराहे पर, ब्रह्मा का मदिर एक रहेगा। रक्षा के निमित्त प्राचीर और परिखा होगी। चार द्वार और कुछ उपद्वार (छोटे द्वार) होगे। चौराहे के चारो कोनो पर चार मठ होगे। गॉव के पैशाचभाग (बाहरी भाग) में उत्तर-पूर्व कोने मे क्षेत्रपाल का मंदिर होगा। इस मे प्राय सभी वर्ण और पेशे के लोग बसेगे। 'मानसार' ने उन के स्थान इस प्रकार नियत किए है—सब प्रकार के श्रमोपजीवी (मजूर) प्रधान मार्ग पर बसेगे, दक्षिण ओर वैश्यो के घर और शूद्रो के आवास, पूरब और दक्षिण-पूर्व कोने में गौपाल (ग्वाले) और उन की गायो के लिए गौशाला हो। दक्षिण और पश्चिम वस्त्र-कर्म करने वाले (जोलाहे), फिर 'मूचिक' (दर्जी), चर्मकार (मोची), पश्चिम और उत्तर-पश्चिम के बीच लोहारो के घर हो। इन से हट कर मत्स्य-मासोपजीवी (मछुए और कसाई) रहे। उत्तर और उत्तर-पश्चिम के बीच श्रीकर (कायस्थ) लोग, और वैद्य रहे। ग्राम के बाहरी ओर तेली और बल्कल का काम करने वाले (चमडा सिझाने वाले) बसे। गॉव के बाहर (परिखा के बाहर) दूर पर चामुडा का मंदिर हो। इस से आगे चांडाल बसे। ग्राम के दक्षिण, पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम तड़ाग हों, जिस मे पीने और नहाने के योग्य जल हो। गॉव के चारो कोनो पर अतिथिगृह हो, सत्र वा पानीय-मडप, गॉव के दक्षिण-पूर्व हो। इसी प्रकार इच्छानुसार अन्य धर्मालय बनाए जायँ।

**नंद्यावर्त**

नद्यावर्त का परिमाण इस प्रकार होगा। चौड़ाई १५७ से ५६५ दड, लबाई—चौडाई की दूनी होगी। इस के तीन भाग माने गए है—देव, मानुष, और पैशाच। इस का 'पदविन्यास' कई प्रकार का होता था, जैसे—चंडित, परम-सायिक, स्थाडिल्य। आवश्यकतानुसार यह छोटा-बड़ा बनाया जाता था, परतु इस मे पैशाच भाग अवश्य होगा और वह नद्यावर्त की विशेषता है। इस में सडके छोटी-बडी अनेक होती है और उन का प्रसार उत्तर-दक्षिण वा पूरब-पश्चिम होता है। गॉव के भीतर बाहर सडके होती है, मार्ग, क्षुद्रमार्ग, बीथी, आदि आवश्यकतानुसार होती है। महामार्ग ककड़ (कर्करी) से पिटा हुआ होता है। सडके चौडी और कही एक तरफ पटरी, कही दोनों तरफ पटरियाँ होती है। इस मे सभी वर्ण के लोग बसते है। राजा का प्रासाद भी होता है। 'मानसार' ने प्रत्येक वर्ण और व्यवसाय के लोगो के लिए तथा प्रत्येक कार्य के लिए मकानो का स्थान निश्चित किया है। गॉव मे वैश्य, ब्राह्मण, शूद्र, राजा, सामंत, मंत्री, स्वामिक (अमीर) सभी रहते है। गाने-बजाने वाले, द्वारपाल, रक्षक

(पुलिस), शिल्पिन, नेत्र-रत्न-कार,[1] शल्य बनाने वाले, कर्णीकार (कहार), मच्छुए, कसाई, धोबी, नाचने वाले, दर्जी, लोहार पेटिकार (पेटारी बनाने वाले), शस्त्रकार, चर्मकार—सभी बसते थे। इस में देवताओं के अनेक मंदिर होते थे—पाम, विष्णु, शिव, लक्ष्मी, दुर्गा आदि सभी देवी-देवताओ के। गांव में एक कोस पर चांडाल रहता था। प्राचीर और परिखा आवश्यक थी। चार बड़े द्वार चारो दिशाओ में और आमने-सामने होते थे। कुछ छोटे द्वार पूरब और पश्चिम की ओर होते थे। छोटे-बड़े जलद्वार या, नालिया भी रहती थीं।

पद्मक ग्राम १०० दंड से १००० दंड तक चौड़ाई मे होता था। इस के प्राचीर का आकार चौकार, कोने पर गोलाकार, षट्कोण वा अष्टकोण होता था। बीच में चौक, सड़कें—आर-पार निकली हुई, चारो दिशाओ में चार फाटक होते थे। नगर के बीच में मंडप होता था।

**पद्मक**

स्वस्तिक ग्राम चतुष्कोण लंबाई चौड़ाई में २०१ दंड से २००१ दंड तक होता था। यह राजाओ के रहने योग्य होता था। इस का 'पदविन्यास' पद्मसायिक होगा। पैशाच-पद मे रथ्य-मार्ग होगे। उस का विन्यास स्वस्तिक चिन्ह की भांति होगा। सड़के कर्करी (कंकड़) की होगी। बीच की सड़क में पैदल चलने वालों के लिए पटरी न रहे, वरन् यह ग्राम के चारो ओर बनी सड़क से रहेगी। दरवाज़े (फाटक) ऐसे होगे जैसे हल (त्रिकोण ?), बाहर प्राचीर मे आठ द्वार होगे। कोने पर रक्षक के लिए मीनार हो। इस प्रकार के गाँव की रक्षा का अच्छा प्रबंध रहता था। इस में राजा का मकान कई तल्ले का बनता था। सभी तरह के लोगो के लिए मंदिर आदि रहते थे।

**स्वस्तिक**

'प्रस्तर' आकार मे समकोण वा सम-आयत होता था। एक ओर की लंबाई ३०० से २००० दंड तक होती थी। १०० दंड बढ़ा कर अनेक भेद हो सकते है। यह क्षत्रियो और वैश्यो के रहने योग्य होता था। गाँव के बाहरी भाग (पैशाच भाग) में चौड़ी सड़क होगी, जिस के दोनो ओर पटरियां होगी। भीतरी भाग मे पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, सड़के, रहेगी। सड़कों

**प्रस्तर**

[1] संभवतः चश्मा बनाने वाले।

की चौडाई ६ से १२ दंड तक होगी। 'दैव-भाग' मे राजकीय इमारत, 'वैश्य-सघ' के मकान आदि हो। 'पैशाच-भाग' में श्रमोपजीवी रहे, शेष में और लोग।

कार्मुक ग्राम नदी वा समुद्र-तट पर बसाया जाता था। इस मे विशेषता यह होती थी कि इस मे प्राय वैश्य और उन के आश्रित शूद्र लोग ही रहते थे। यह वाणिज्य-प्रधान होता था। 'मानसार' के अनुसार इस की लबाई ६५ दड से ५०० दड तक होती थी। लबाई इस की दूनी हो सकती थी। इस मे इच्छानुसार द्वार हो सकते थे—प्राचीर रहे वा न रहे।

**कार्मुक**

चतुर्मुख की लबाई पूरब से पश्चिम की ओर होगी। माप ३० से १०० दड चौडा—इसी का दूना लबा। दो-दो दड कर के अनेक भेद कर सकते है। इस में बीच मे हो कर अगल-बगल कोने को काटती हुई और 'मानुष्य' और 'पिशाच' भाग के बीच सडक रहती थी। बीच मे ब्राह्मण, के घर फिर मैदान, सडक, दूकाने, वैश्यो के घर, फिर शूद्रो के घर होते थे। अधिकतर शूद्र 'पिशाच-पद' मे रहते थे। गाँव के चारो ओर प्रदक्षिणा के लिए एक बीथी होती थी। इस की रक्षा के लिए प्राचीर और परिखा आवश्यक थी। और गाँवो की भाँति मंदिर आदि रहते थे।

**चतुर्मुख**

'मानसार' ने राजाओ की आवश्यकता देखते हुए अनेक प्रकार के नगरो का माप दिया है। इस से पता चलता है कि राजाओ के अस्त्रग्राहिन, प्रहारक, पट्टभज, मडलेश, पट्टधार, पार्षणिक, नरेंद्र, महाराज, और चक्रवर्ती आदि भेद होते थे। इन मे प्रथम पद मे छोटा और क्रमश शेष पद मे कुछ बडे होते थे। चक्रवर्ती सब से बडा होता था। इन के नगर आवश्यकतानुसार ४०० दड से ७२०० दड तक परिमाण मे होते थे। साधारणतया चौड़ाई से लंबाई सवाई, डेढ़ी, वा दूनी होती थी। इस के अतिरिक्त रक्षित नगर आठ प्रकार के होते थे। (१) राजधानी, (२) नगर, (३) पुर, (४) नगरी, (५) खेट, (६) खर्वट, (७) कुब्जक और (८) पट्टन। राजधानी मे राजा का महल होता था और लोग भी बसते थे। यह नदी-तट पर होता था। जिस मे चार द्वार, चारो तरफ गोपुर (मीनार) रक्षा-गृह, सेनालय, हाट-बाजार, मदिर आदि होते थे। पुर मे साधारणतया बाग-बगीचे, सट्टी (खरीदने बेचने का स्थान), और वैश्यो के घर होते थे। यदि इस में राजा का महल (राजनिलय) हो तो इसे 'नगरी' कहते थे। यदि नगर नदीतट वा पर्वत पर बसा

**नगर**

हो, सुरक्षित हो, उस में शूद्र रहते हों तो उसे 'खेट' कहते थे। ऊँचे स्थान (खर्वट) पर बसा हो, सीमान्त भूमि हो, उस में सब तरह (वर्ण) के लोग बसें, तो उसे 'खर्वट' कहते थे। खेट और खर्वट के बीच बसा हुआ नगर 'कुब्जक' होता था। इस में मिश्र जनसंख्या होती थी। 'पट्टन' नदी के किनारे बसाया जाता था। यह लंबा होता था, सुरक्षित (प्राचीर से) होता था। उस में प्रायः व्यवसाय करने वाले रहते थे।

दुर्ग के अनेक भेद थे। (१) शिबिर, (२) सेनामुख वा वाहिनीमुख, (३) द्रोणक, (४) सविद्ध, (५) स्थानीय, (६) निगम, (७) स्कंधावार, और (८) कोलक। इस के अतिरिक्त गिरिदुर्ग, सलिलदुर्ग, वनदुर्ग, पंकदुर्ग, रथदुर्ग, देवदुर्ग, मिश्रदुर्ग भी माने गए हैं। 'शिबिर' सीमाप्रान्त पर होता था। इस में दस हजार सेना रहती थी। इसे छावनी कह सकते हैं। 'सेनामुख' में सेना के अतिरिक्त राजा भी रहता था। और लोग भी बसते थे। 'स्थानीय' दुर्ग नदीतट या पर्वत पर होता था। यह स्वतः रक्षित होता था और इस में राजा का मकान भी होता था। आजकल इसे 'नाका' कह सकते हैं। 'द्रोण' प्रायः नदीतट, विशेषतः समुद्र से मिलने वाली नदी के दोनों किनारों पर, बसता था।[1] इस में व्यापारी और अन्य लोग भी रहते थे। 'सविद्ध' सुरक्षित माफी पाए हुए, विद्वान ब्राह्मणों के लिए होता था। इस के समीप एक छोटा गाँव और इस का संबंध एक बड़े गाँव से होता था। यदि इस में 'महाराज' श्रेणी के राजा का घर हो तो इसे 'कोलक' कहते थे। 'निगम' में चारों वर्ण और कारीगरों के मकान होते थे। 'स्कंधावार' में प्रायः क्षत्रिय रहते थे। रक्षा के साधन के अनुसार दुर्ग के, गिरि, सलिल (जल), वन, पंक (जिस की दीवालें मिट्टी की हों) आदि भेद माने गए हैं। जहाँ वृक्ष आदि नहीं होते थे, ऐसे वीरान में चोरों आदि से रक्षा के लिए जो दुर्ग बनता था, उसे रथदुर्ग कहते थे। अनुमानतः यह लकड़ी का होता था। 'मिश्र-दुर्ग' जो पहाड़ों और जंगलों से मिला हो और 'देव-दुर्ग' वह था जहाँ से शत्रुओं पर पत्थर आदि फेंके जा सकें। 'गभवन' यह ऊँचे पहाड़ आदि पर होता था।

साधारणतया सभी दुर्गों के चारों ओर प्राचीर और परिखा होती थी। दीवालें 'इष्टक' (ईंटों) की होती थीं, ऊँचाई १२ हाथ होती थी, बड़े-बड़े फाटक होना भी

---

[1] यदि इस में महाराज श्रेणी के राजा का घर हो तो इसे कोलक कहते थे।

था   गोपुर या फाटक भी होते थ

भूमिलब-विधान शीर्षक अध्याय मे 'मानसार' ने हर्म्य (मकान) की लबाई, चौडाई, और उँचाई का माप तथा उसे निश्चय करने की विधि सविस्तर वर्णन की है।

**भूमिलंब**

'मानसार' के अनुसार हर्म्य का पदविन्यास (ग्राउड-प्लैन) चतुश्रमायात (चौकोर) वर्तुलमायात (समानकोण, गोल), अष्टाश्रमायात (अष्टकोण), षट्कोण, और अडाकार हो सकता है। 'हर्म्य' १ से १२ तल्ले तक का होता है। इन के भेद यो हैं—विमान, हर्म्य, गोपुर, शाला, मडप और वेश्म। इन की चौडाई २ हाथ से ३५ हाथ तक, लबाई ३ हाथ से ४५ हाथ तक हो सकती है। ऊँचाई एक-तल्ले के मकान से १२ तल्ले के मकान की नीचे लिखे भेदानुसार होती थी—

| | | |
|---|---|---|
| अद्भुत | — | चौडाई का दूना |
| धनद् वा सर्वकामिक | — | चौड़ाई का $१\frac{३}{४}$ |
| पार्सणिक वा जयद् | — | चौडाई का $१\frac{१}{२}$ |
| पौष्टिक | — | चौडाई का $१\frac{१}{४}$ |
| सातिक | — | चौडाई के बराबर |

माप के अनुसार हर्म्य के चार भेद माने गए है। जाति, छद, विकल्प, और आभास। इस मे जाति=१ हस्त, छंद=$\frac{३}{४}$ हस्त, विकल्प=$\frac{१}{२}$ हस्त, और आभास=$\frac{१}{४}$ हस्त के होगे। प्रत्येक हर्म्य की लबाई, चौड़ाई और उँचाई के अनुसार उस के तीन भेद माने गए है—कनिष्ठ, मध्यम, और विशाल। उदाहरणार्थ, पाँच तल्ले का मकान इस प्रकार होगा। प्रत्येक प्रकार मे भी पॉच भेद माने गए है। जैसे—

**पंच-तल हर्म्य**

| | | १ | २ | ३ | ४ | ५ | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| (क) कनिष्ठ— | चौड़ाई | ११ | १३ | १५ | १७ | १९ | हाथ |
| | लंबाई | १२ | १४ | १६ | १८ | २० | |
| | उँचाई | २१ | २२ | २३ | २४ | २५ | |
| (ख) मध्यम— | चौडाई | १२ | १४ | १६ | १८ | २० | |
| | लबाई | १३ | १५ | १७ | १५ | २१ | |
| | उँचाई | २२ | २३ | २४ | २५ | २६ | |
| (ग) विशाल— | चौडाई | १३ | १५ | १७ | १९ | २१ | |
| | लंबाई | १४ | १६ | १८ | २० | २२ | |
| | उँचाई | २२ | २३ | २४ | २५ | २६ | |

उँचाई 'जयद्' के अनुसार है।

**एकतल-विधान**

'मानसार' में एक-तल्ले मकान की निर्माण-विधि सविस्तर दी है। इस के अनुसार प्रथम माप के अनुसार हर्म्य के चार भेद हैं—जाति, छंद, विकल्प, और आभास। पुनः हर्म्य के तीन प्रकार हैं—स्थानक, आसन और शयन। इन्हें क्रमशः संचित अपसंचित और असंचित भी कहते हैं। 'स्थानक' में ऊँचाई के अनुसार माप होता है, इस में प्रतिमा खड़ी रक्खी जाती है। 'आसन' में लंबाई प्रमाण है, इस में देवता की मूर्ति 'बैठी' रहती है। 'शयन' में चौड़ाई प्रमाण मानी जाती है, इस में प्रतिमा लेटी अवस्था में होती है। हर्म्य पुंलिंग और स्त्रीलिंग भी माने गए हैं। पुंलिंग (पुरुष), समाश्र, या समवृत्त (समान कोण या गोलाकार); और स्त्रीलिंग (वनिता) आयताकार (चौकोर)। पुरुष हर्म्य में पुरुष की प्रतिमा रक्खी जाय, वनिता हर्म्य में स्त्री (देवी) की। परन्तु 'स्त्री' हर्म्य में पुरुष की प्रतिमा रक्खी जा सकती है। 'मानसार' ने एक-तल्ले मकान की ऊँचाई के अनेक भाग कर 'उत्सेध' का सविस्तर वर्णन किया है। संपूर्ण 'उत्सेध' के आठ भाग में दो 'मसूरक' (कुरसी) हों, 'अंघ्रि' (स्तंभ) दो भाग, 'कंधर' एक भाग, 'शिखर' दो भाग, 'स्तूपिका' (गुंबद) एक भाग। लंबाई के आठ भाग यों हों—सात भाग वेदी के लिए और एक भाग का चार भाग कर 'ग्रीव' के लिए। वेदी, शिखर और आलंबन (कुरसी) तीनों एक सूत (सीध) में हों। इस प्रकार अनेक बातें 'मानसार' ने विशद रूप में लिखी हैं, जिन के लिए ग्रंथ विशेष का १९ अध्याय अध्ययन करना आवश्यक है। साधारणतया एक-तल्ले मकानों के कई भाग होते थे, जैसे—गर्भगृह, अंतराल्य मंडप। मकानों में 'गोपुर' (दरवाजे) प्राकार (फाटक, बारादरी), द्वार, खिड़कियाँ, तोरण आदि भी होते थे। एक-तल्ले मकानों के आठ भेद माने गए हैं जिन का आधार उन की बनावट है। ये भेद यों हैं—वैजयतिक, भोग, श्रीविशाल, स्वस्तिकबंध, श्रीकर, हस्तिपरिष्ठ, स्कंधतार और केशर। इन के लक्षण इस प्रकार हैं।

( १ ) वैजयतिक — जिस का शिरस, शिखा और ग्रीव—गोलाकार या वृत्ताकार हो।

( २ ) भोग — जिस में 'कर्णकूट' ('एटिक पैवेलियन') हो।

( ३ ) श्रीविशाल— जिस में भद्र ('बरसाती') हो।

( ४ ) स्वस्तिकबंध— जिस का शिरस अष्टकोण हो।

( ५ ) श्रीकर — जिस की छत चौखंटा (चतुष्कोण) हो।

( ६ ) हस्तिपरिष्ठ— जिस का शिखर अंडाकार हो।

( ७ ) स्कंध-तार — जिस के शिरष और ग्रीव षट्कोण हों।

( ८ ) केशर — जिस मे भद्र, कर्णकूट, शाला, नासि, शिरस, ग्रीव, वृत्ताकार वा चौकोर हो।

मकानों के अलकृत करने के ढग तथा उनके माप भी 'मानसार' ने दिए है। एक-तल्ले मकान के अनेक परिमाण 'मानसार' में दिए है। अनेक प्रकार के मकानो के नाम ये है—विमान, हर्म्य, आलय, अधिपण्यक, प्रासाद, भवन, क्षेत्र, मंदिर, आयतन, वेश्म, गृह, आवास, क्षय, धाम, वास, गेह, आगार, सदन, वसित, निलय, तल, कोष्ठ और स्थान। विमान में गर्भगृह कुल का १/३ होता है। हर्म्य मे १/४। गेह मे १/३ नाली होती है। क्षय के ११ भागो मे कोष्ठ ६ भाग होता है, १/३० नालिक (नाली) गृह—७ भाग और ६/१५ (कुल का) गर्भगृह होता है। चौड़ाई के दो भाग का एक हिस्सा 'तुंग' (तहखाना) होता है। मकानो में अलकृत द्वार, उस मे मजबूती के लिए कील होना चाहिए, इत्यादि।

आकार-प्रकार के अनुसार मकानो के अनेक भेद किए गए है। इन सब का सविस्तर 'वर्णन मानसार' ने अध्याय २० से ३० तक मे किया है। सक्षेप मे उन के भेद यो है —

**दो से बारह तल्ले के हर्म्य**

दो तल्ले —श्रीकर, विजय, सिद्ध, पौष्टिक, कातिक, अद्भुत, स्वस्तिक और पुष्कल।

तीन तल्ले —श्रीकांत, आसन, सुखालय, केशर, कमलांग, ब्रह्मकाल, मेरुकांत और कैलास।

चार तल्ले —विष्णुकात, चतुर्मुख, सदाशिव, रुद्रकांत, ईश्वरकांत, मंचकांत, वेदिकात और इद्रकांत।

पॉच तल्ले —ऐरावत, भूत-कांत, विश्वकात, मूर्तिकांत, यमकांत, गृहकांत, यशकांत, और ब्रह्मकात।

छ. तल्ले —पद्मकात, कातार, सुदर, उपकांत, कमल, रत्नकांत, विपुलांक, ज्योतिष-कांत, सरोरुह, विपुलकीर्ति, स्वस्तिकांत, नंद्यावर्त, और इक्षुकांत।

सात तल्ले —पुडरीक, श्रीकात, श्रीभोग, धारण, पजर, आश्रमागार, हर्म्यकांत, और हिमकांत।

आठ तल्ले —भूकात, भूपकात, स्वर्गकात, महाकांत, जनकांत, तपसकाल, सत्यकांत, और देवकात।

नौ तल्ले ---मौरकांत, रौरव, चक्रिल, भूषण, विवृत, सुप्रतिकांत, और विश्वकांत।
दस तल्ले ---भूकांत, चंद्रकांत, भवनकांत, अन्तरिक्षकांत, मेघकांत, और अब्जकांत।
ग्यारह तल्ले---शंभुकांत, ईशकांत, चक्रकांत, यमकांत, वज्रकांत, और अर्क-कांत।
बारह तल्ले-- पांचाल, द्राविड़, मध्यकांत, कलिंगकांत, विराट्, केरल वंशकांत, मगध-
कांत, जनक-कांत और गुर्जर।

आकार वा निर्माणशैली के अनुसार हर्म्य के तीन भेद किए गए हैं। नागर, द्राविड़ और वेसर। इन तीनों की पहचान शिखर से होती थी। स्तूपि वा स्तूपिका का

**निर्माण शैली**

वर्णों के अनुसार छोटा-बड़ा माप रक्खा गया है। ब्राह्मण के मकान की स्तूपिक ३½ हस्त, देवताओं की ४ हस्त, क्षत्रियों की ३ हस्त, कुमार (युवराज) की २½ हस्त, वैश्यों की २ हस्त और शूद्रों की १ हस्त। स्तूप वा कुबद में एक कील लगती थी। यह 'जन्म' में चतुष्कोण, ऊपर (नितंब में) अष्टकोण, 'ग्रीव' पर वृत्ताकार और 'शिखर' पर क्रमशः घटता हुआ १ अंगुल का हो जाता था। मकानों और मंदिरों में अनेक 'कक्ष' होते थे। इन में 'चल' और 'अचल' दो प्रकार के सोपान होते थे। शोभा के लिए 'तोरण' और 'भद्र' (बरसाती) बनते थे। इन के 'गोपान' (धरन वा थम्भी) में 'नासि' अलंकार के लिए होता था। 'प्रच्छादन'---या तो गोलाकार वा बराबर होता था। छतें पत्थर, ईंटें, चूने आदि की बनती थीं। चूने के साथ 'गुड़' का व्यवहार भी होता था। बल्लियों वा 'गोपान' के सिरे पर 'ग्राह' आदि जानवरों के आकार बनाए जाते थे। दरवाज़े लकड़ी के नकाशीदार,उन में कपाट लगे हुए---बंद करने को उनमें 'अर्गला', 'कीलक' आदि लगते थे। खिड़कियाँ (पंजर) भी होती थीं। इन में कभी-कभी 'जालक' वा झँझरी होती थी। मकानों के ऊपरी भाग में पानी के कुंड होते थे। 'अलिंद', 'वेदिका', 'मञ्च' आदि आराम के लिए बनते थे। मकानों में 'महाशाला', 'अर्धशाला', 'अनुशाला', 'कोष्टक', 'क्षुद्रशाला', 'शृंगारमंडप', आदि होते थे। इन में नालियाँ, 'प्रांगण', 'वेश्म' (मुख्यद्वार), 'गोपुर' (फाटक, दरवाज़े) 'कर्णकूट' (कँगूरे) आदि भी होते थे। हर्म्य को अलंकृत करने की सविस्तर विधि 'मानसार' में दी है, जिस से पता चलता है कि उस समय भवन-निर्माणकला अपनी उन्नति पर पहुँच चुकी थी।

(अपूर्ण)

# 'रामचरितमानस' की सब से प्राचीन प्रति

[ लेखक—श्रीयुत माताप्रसाद गुप्त, एम्० ए० ]

'रामचरितमानस' की रचना के सौ वर्ष भीतर की उस की प्रतियाँ अभी तक तीन ही देखने मे आई है—

१—'रामचरितमानस' का बालकाड[1]—सं० १६६१, वैशाख शु० ६, बुधवार को समाप्त।

२—'रामचरितमानस' सपूर्ण[2]—सं० १७०४ के माघ मास मे समाप्त।

३—'रामचरितमानस' सपूर्ण[3]—स० १७२१ मे किसी तिथि को समाप्त।

इन तीन के अतिरिक्त यदि हम राजापुर की अयोध्याकाड 'मानस' की प्रति को मान ले कि वह गोस्वामी तुलसीदास जी के हाथ की लिखी हुई है—यद्यपि यह अत्यन्त सदिग्ध है—फिर भी संख्या चार से आगे नही बढती। मलीहाबाद की जो प्रति गोस्वामी जी के हाथ की लिखी कही जाती है उसे उन महाशय के अतिरिक्त जिन के अधिकार मे वह है कदाचित् किसी अन्य व्यक्ति ने अभी तक नहीं देखा है।

राजापुर वाली उपर्युक्त प्रति के सबंध में कि वह गोस्वामी जी के हाथ की लिखी हुई है या नही इधर कुछ दिनो से विस्तार-पूर्वक विचार किया गया है। प्रति के अत मे न तो लिपिकार का नाम है और न उस की समाप्ति की तिथि दी हुई है। फलत. उस के लिपिकार और तिथि के सबंध मे अनुमानो का ही आधार ग्रहण करना पडा है। स० १६३१ मे कवि द्वारा 'रामचरितमानस' की जिस प्रति का लिखा जाना प्रारंभ हुआ होगा

---

[1] 'सर्च आव हिंदी मैन्युस्क्रप्ट्स—रिपोर्ट' (ना० प्र० स० काशी से प्रकाशित) सन् १९०१ ईस्वी, नोटिस २२

[2] वही, सन् १९०० ई०, नोटिस १

[3] 'रामचरितमानस' मूल ( हिंदी पुस्तक एजंसी, कलकत्ता से प्रकाशित ), भूमिका, पृष्ठ २

उस का यह कोई अंश नहीं हो सकती क्योंकि प्रथम प्रति होने के कारण उस में स्वतंत्रतापूर्वक संशोधन किए गए होंगे और उस प्रकार का संशोधन-बाहुल्य राजापुर वाली उपर्युक्त प्रति में नहीं है। कहीं कहीं जो चौपाइयाँ छूट गई हैं उन के न रहने से आगे और पीछे वाली चौपाइयों की संगति ही नहीं लगती, जिस से यह निष्कर्ष निकलता है कि यह किसी प्रति की प्रतिलिपि मात्र है। प्रतिलिपि भी गोस्वामी जी के हाथ की की हुई नहीं है, इस में संदेह नहीं रह जाता है, कारण यह है कि उस की लिखावट सं० १६६९ में लिखे गए उस पंचनामे से बहुत भिन्न जान पड़ती है जिस के शीर्ष की कतिपय पंक्तियाँ निस्संदेह गोस्वामी जी के हाथ की लिखी हुई हैं। यह भिन्नता दोनों के मिलान करने पर स्पष्ट हो जाती है। 'वाल्मीकि-रामायण' के उत्तरकांड की सं० १६४१ में लिखी हुई एक प्रति काशी के सरस्वती-भवन में सुरक्षित है। यह किसी तुलसीदास की लिखी हुई है, जैसा उस की पुष्पिका से ज्ञात होता है। कहा जाता है कि उस के लेखक तुलसीदास हमारे गोस्वामी तुलसीदास थे। उस के लेखक गोस्वामी तुलसीदास ही थे या अन्य कोई तुलसीदास यह एक अलग विचारणीय प्रश्न है। थोड़ी देर के लिए यदि हम उसे गोस्वामी तुलसीदास ही की लिखी मान लें तो भी उस की लिखावट इस राजापुर की प्रति की लिखावट से बहुत भिन्न है, यह दोनों के मिलान करने पर आप से आप ज्ञात पड़ता है।[1] फलतः यह लगभग सिद्ध है कि राजापुर की अयोध्याकांड की प्रसिद्ध प्रति गोस्वामी जी के हाथ की लिखी हुई नहीं है। वह गोस्वामी जी के हाथ की शुद्ध की हुई भी नहीं है, यह भी साफ़ जान पड़ता है क्योंकि अन्यथा उस में इतनी अधिक अशुद्धियाँ न मिलनी चाहिए थीं।[2] प्रति प्राचीन अवश्य है किंतु वह 'मानस'-रचना के सौ वर्ष के भीतर की है या नहीं यह जानने के लिए प्रस्तुत साक्ष्य अपर्याप्त है।

अतः यह निर्विवाद है कि उपर्युक्त प्रथम प्रति ही 'रामचरितमानस' की ऐसी सब से अधिक प्राचीन प्रति है जो हमें उपलब्ध है। हमारे लिए यह और भी हर्ष की बात

---

[1] राजापुर की प्रति के पत्रों, पंचनामे और 'वाल्मीकि-रामायण' उत्तरकांड की प्रति के पत्रों के छायाचित्र पाठकों को श्री रामदास गौड़ लिखित 'रामचरितमानस की भूमिका' या बा० श्यामसुंदरदास लिखित 'गोस्वामी तुलसीदास' में मिल सकते हैं।

[2] इस विषय पर एक अच्छा लेख श्री इंद्रदेवनारायण जी का है जो 'सुधा' वर्ष ६, खंड २, सं० ६, के पृ० ५६० पर प्रकाशित हुआ है।

है कि वह गोस्वामी जी के जीवन-काल की है उस के लिखे जाने के लगभग २० वर्ष बाद गोस्वामी जी का गोलोकवास हुआ। वह और भी महत्त्वपूर्ण इस लिए है कि उस के लिपिकाल से कम से कम ४३ वर्ष पीछे तक की कोई अन्य प्रति हमे उपलब्ध नही है। किंतु यह अत्यत खेद का विषय है कि हम ने उस प्रति का अभी तक जैसा उचित था वैसा उपयोग नही किया है।

अयोध्या मे सरयू जी के तट पर वासुदेवघाट नाम का एक घाट है, उस से थोडी ही दूर पर वासुदेव भगवान का प्रसिद्ध मदिर है। इस मदिर मे सरयू जी की ओर जाने पर दो ही तीन मदिरो के बाद 'श्रावण-कुज' नाम का एक अच्छा सा मदिर पड़ता है। यह मधुर अली जी के स्थान के नाम से अयोध्या मे प्रसिद्ध है। इस समय उसी गद्दी पर महत श्री जनककिशोरीशरण जी महाराज है। इन के अतिरिक्त कुंज के दो और अधिकारी है, एक है सर्वराहकार श्री जानकीवल्लभशरण और दूसरे है पुजारी जी। तीनो सज्जन उदार प्रकृति के साधु है। इन्ही के अधिकार मे 'मानस' के बालकाड की उपर्युक्त प्रति रहती है। एक अन्य भी विशालकाय 'आदि रामायण' नामी सस्कृत ग्रंथ की प्रति इन महानुभावो के अधिकार में है। यह 'रामायण' ब्रह्म-भुशुडि-सवाद के रूप मे है और आकार मे 'वाल्मीकि-रामायण' से कदाचित् ही छोटी होगी।

'रामचरितमानस' की जो प्रति इस कुंज मे है उस के दो अश है—एक प्राचीन और दूसरा अपेक्षाकृत अत्यत नवीन। प्राचीन अश केवल बालकाड है, यद्यपि उस मे भी पॉच पत्रे दूसरी श्रेणी के है। प्राचीन अंश एक हाथ का लिखा हुआ है, और दूसरा अश कुल एक दूसरे हाथ का। ऐसा जान पडता है कि बालकाड की प्रति को प्राप्त करने के अनतर यह अधिक समीचीन समझा गया है कि उस के जो पत्रे खडित है उन्हे किसी दूसरी प्रति से प्रतिलिपि कर के प्रति मे रख दिया जावे जिस से कम से कम बालकाड पूरा हो जावे, और शेष काड भी उसी के साथ किसी अन्य प्रति से प्रतिलिपि कर के साथ रख दिए जावे जिस से पाठ के लिए 'रामचरितमानस' की पुस्तक पूरी रहा करे। प्राचीन और नवीन दोनो अंशो के पत्रे एक ही आकार के है—लगभग ९½×३½ इच—किंतु दोनो के कागज़ो मे बहुत अंतर है। दूसरे अश का कागज़ पहिले की अपेक्षा बहुत नवीन जान पडता है। दूसरे अश का कागज़ हलकी पीली आभा लिए श्वेत है किंतु पहिले अश का कागज़ भूरा हो चला है। बालकांड की समाप्ति पर लिखा हुआ है—

॥ शुभमस्तु ॥ संवत् १६६१ बैशाख शुदि ६ बुधे ॥

इस में प्राचीन अंश का लिपिकाल स्पष्ट है- क्योंकि यह पत्रा भी प्राचीन अंश का ही है, किन्तु दूसरे अंश में किसी कांड की समाप्ति पर कहीं पुष्पिका नहीं दी गई है जिस से किसी भी निश्चित तिथि का अनुमान करना कठिन है। सन् १९०१ ईस्वी की सर्च आव हिंदी मैन्युस्क्रिप्ट्स रिपोर्ट में इस प्रति की जो नोटिस निकली थी[1] उस का आशय यह था कि उस प्रति के ऊपर के पांच पृष्ठ पीछे से लिख कर लगाए गए हैं, शेष पुराने हैं; प्रथम पत्रे के ऊपर हिंदी में कुछ लिखा हुआ है, जो स्पष्ट पढ़ा नहीं जाता पर उस में सं० १८८५ कार्तिक कृष्ण ५ रविवार लिखा हुआ जान पड़ता है। इस से ज्ञात होता है कि ये पृष्ठ सं० १८८५ में बदले गए थे। पर लेखक के देखने में कोई ऐसी बात नहीं आई जिस से वह इस परिणाम पर पहुँचता। उस ने यह अवश्य देखा कि प्रति का पहिला पत्रा बहुत मोटा है और वह दो पत्रों को जोड़ कर बनाया गया है। फिर भी, सूर्य की ओर उठा कर देखने में उस के आरपार दिखाई पड़ता है। लेखक ने इस प्रकार जब उसे उठा कर देखा तो उस पत्रे के निम्न भाग में यह पंक्ति मिली, 'सुनाय कलोभाय वश में किया', जिस का आशय कदाचित् यह है कि किसी भक्त ने यह प्रति या कोई अन्य वस्तु अपने इष्ट देव को सुना कर उन्हें मुग्ध किया। इस के अतिरिक्त अन्य कोई लेख उस पहिले पृष्ठ पर नहीं मिला।

उपर्युक्त बालकांड की प्रति में इस समय केवल पांच पत्रे [illegible] हैं, जिन में से चार प्रारम्भिक हैं और पांचवां बीच का है। 'मानस' के एक बड़े प्रेमी काशी के पं० विजयानंद त्रिपाठी हैं। आपने भी यह प्रति देखी है। कुछ दिन हुए लेखक आप से मिला था। आप का अनुमान है कि बालकांड के प्रारम्भ में गुरु की वंदना तुलसीदास जी ने जिस सोरठे में की है[2] उस में 'हरि' के स्थान पर 'हर' पाठ होना चाहिए। प्रचलित पाठ है—

बंदौं गुरु पद कंज कृपासिंधु नर रूप हरि।

आप का अनुमान है कि वस्तुतः पाठ इस प्रकार होना चाहिए—

बंदौं गुरु पद कंज कृपासिंधु नर रूप हर।

[1] नोटिस सं० २२

[2] वंदना के सोरठे, बालकांड, सोरठा ५

आप का यह कथन निराधार नहीं है। लेखक के संग्रह में भी 'मानस' की एक अत्यंत सावधानता-पूर्वक लिखी हुई पुरानी प्रति है, जिस में 'हरि' के स्थान पर 'हर' पाठ मिलता है। पहिले का पाठ जो भी रहा हो इस समय हमें उस से विशेष संबंध नहीं है। किंतु, त्रिपाठी जी का यह भी अनुमान है कि संभवतः 'हर' पाठ को निकाल देने के उद्देश्य से बैरागियों ने प्रारंभ के पत्रे प्रति से गायब कर दिए और नए पत्रे लगा दिए। लेखक बड़े दुख के साथ आप के इस अनुमान से असहमत होने के लिए बाध्य है, क्योंकि यह बात उस की समझ में नहीं आती कि 'हर' पाठ निकाल देने के लिए प्रारंभ के चार पत्रों को गायब कर देने की क्या आवश्यकता थी, काम तो केवल पहिले पत्रे के गायब कर देने से ही चल सकता था।

प्रारंभ के इन चार पत्रों के अतिरिक्त बीच का भी एक पत्रा, जैसा ऊपर कहा गया है, उपर्युक्त प्रति में नहीं था और पीछे से लिख कर रक्खा गया है। जो पत्रा इस प्रकार खंडित है, उस में साधारणतः आना चाहिए था राम-जन्म-सूचक सुप्रसिद्ध छंद—

**भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी।**[1]

इस छंद के तीसरे चरण का प्रचलित पाठ है—[2]

**लोचन अभिरामं तनु घन स्यामं निज आयुध भुजचारी।**

इस समय जो नवीन पत्रा खंडित पत्रे के स्थान पर लगाया गया है उस में पहिले पाठ था—

**लोचन अभिरामं तनु घन श्यामं निज आयुध भुजधारी।**

किंतु अब 'धारी' के 'ध' की गर्दन चाकू या किसी नोकदार वस्तु से रगड़ कर निकाल दी गई है और वह चारी की भाँति पढ़ा जाता है। कागज के छिलने का चिन्ह बहुत स्पष्ट है। आगे वाले पत्रे पर, जो पुराना है, छंद का उत्तरार्द्ध पड़ता है। उस में यह पंक्ति आती है—

**सो मम हित लागी जन अनुरागी भएउ प्रगट श्रीकंता।**

और 'श्रीकंता' की दाहिनी ओर हाशिए पर पीछे के किसी हाथ द्वारा लिखा हुआ है—

**"श्रीकंता से चारि भुजा"**

उपर्युक्त त्रिपाठी जी का अनुमान है कि असली पत्रे पर 'भुजचारी' पाठ रहा होगा जिस को

---

[1] **'रामचरितमानस', बालकांड, दो० १९२**

[2] **श्री रामदास गौड़ द्वारा संपादित 'रामचरितमानस' का पाठ।**

बदलने के लिए और 'भुजभारी' पाठ लाने के लिए अगले दो पत्रे को [illegible] में निकाल फेंका, क्योंकि वे द्विभुज राम के वर्णन से भरे थे। वास्तव में पाठ 'भुजचारी' रहा होगा इस की संभावना बहुत अधिक है [illegible] 'अध्यात्म-रामायण' में भी [illegible] राम जन्म का प्रसंग मानस में दिया गया है चार भुजाओं के ही स्वरूप में [illegible] है।[1] किंतु प्रस्तुत इस प्रति में यह पाठ था और पत्रा किसी उद्देश्य से गायब किया गया था अथवा यों ही नष्ट हो गया, यह केवल इन्हीं बातों के आधार पर कहना कठिन है।

बालकांड की इस प्राचीन प्रति का लिपिकार कौन रहा होगा यह एक आवश्यक प्रश्न है। प्रति के अंत में लिपि-काल दिया है पर उस ने अपना नाम नहीं दिया है। अंतिम पत्रे की एक ओर लिपि-काल दिया हुआ है और दूसरी ओर उस की पीठ पर एक बहुत मोटा काग़ज़ चिपकाया हुआ है। रामनगर के पत्थर में ही तुलसीदास के एक बड़े प्रेमी श्री गोलाप्रसाद जी रहा करते थे। इस प्रति की जीर्ण अवस्था में देख कर उन्हों ने प्रत्येक पत्रे के किनारे किनारे हाशिए पर पतला पतला काग़ज़ चिपका दिया, जिस से पत्रे और घिस कर शीघ्र नष्ट न हो जावें। उन्हीं ने अंतिम पत्रे की पीठ पर यह मोटा काग़ज़ भी चिपका दिया। उस मोटे काग़ज पर उन्हों ने इस आशय का उल्लेख किया है कि प्रस्तुत प्रति उन भगवानदास की लिखी हुई है जिन की लिखी हुई 'विनयपत्रिका' की एक प्रति रामनगर, काशी के एक बाबरी साहब के पास है, और यह कि भगवानदास ने इस अंतिम पत्रे की पीठ पर प्रस्तुत काग़ज़ के नीचे अपना नाम भी दिया है किंतु काग़ज़ अत्यंत प्राचीन होने के कारण फटा जा रहा है इस लिए यह मोटा काग़ज़ उन्होंने चिपका दिया। लेखक ने पत्रे को उठा कर सूर्य की ओर उस के आर-पार देखने की बहुत चेष्टा की किंतु वह काग़ज़ की मोटाई के कारण बेकार हुई। रामनगर वाली 'विनयपत्रिका' की उपर्युक्त प्रति भी उस की देखी हुई है,[2] दोनों प्रतियों की लिखावट इतनी अधिक मिलती है कि दोनों एक ही व्यक्ति की लिखी हुई जान पड़ती है। रामनगर वाली प्रति की समाप्ति में लिखा हुआ है—

[1] 'अध्यात्म-रामायण', ३ सर्ग, श्लोक १६—१८

[2] रामनगर की इस प्रति के संबंध में लेखक फिर कभी लिखेगा।

**"लीषीतं भगवानब्राह्मणेन ।।"**

जिस से यह स्पष्ट है कि वह भगवान नाम के किसी ब्राह्मण की लिखी हुई है। कुछ आश्चर्य नही कि बालकाड की प्रस्तुत प्रति भी उन्ही भगवान ब्राह्मण की लिखी हुई हो। उपर्युक्त त्रिपाठी जी का अनुमान है कि यह 'भगवान' वही है जिस के पुत्र 'कृष्ण' नाम के व्यक्ति ने स० १६६९ मे लिखे गए पंचनामे पर साक्षी भरी है। पचनामे के शीर्ष की कुछ पक्तियाँ तुलसीदास के हाथ की लिखी हुई मानी ही जाती है। 'कृष्ण' की साक्षी इस पंचनामे मे दाहिनी ओर नीचे से चौथी और पाँचवी पक्ति में[1] इस प्रकार है—

**'साछी क्रीन्श दूब भगवन सुत।'**

'क्रीन्श दूब' तो अवश्य ही 'कृष्न दूबे' के स्थान पर अशुद्ध लिखा गया है। निश्चय ही यह कृष्ण दूबे लगभग निरक्षर ब्राह्मण थे। सभव है उन्हो ने 'भगवान' के 'वा' की आकार की मात्रा भी पर्याप्त मात्रा-शोध न होने के कारण छोड़ दी हो। यह असभव नही है कि यही 'भगवन' जो कृष्ण दूबे के पिता थे उपर्युक्त रामनगर वाली प्रति के 'भगवान ब्राह्मण' भी हों, किंतु यह भी सभव है कि 'भगवान ब्राह्मण' कृष्ण दूबे के पिता 'भगवन' से भिन्न हो क्योंकि 'भगवान' एक बहुत प्रचलित नाम है और कदाचित् उस समय भी इसी प्रकार प्रचलित था, क्योंकि उपर्युक्त पचनामे मे ही हमे एक अन्य साक्षी, प्रारभ से सातवे, 'भगवान' मिलते है जो केशवदास के सुत है।[2] यदि त्रिपाठी जी का अनुमान सत्य हो तो ये दोनो प्रतियाँ और भी अधिक महत्त्वपूर्ण इस लिए सिद्ध होगी कि वे तुलसीदास के किसी पडोसी की ही लिखी हुई है। किंतु, यह स्पष्ट है कि किसी निश्चय पर पहुँचने के लिए प्रस्तुत साक्ष्य अपर्याप्त है।

तीन सौ से अधिक वर्षों की पुरानी प्रति कितने हाथों में गई होगी यह कौन कह सकता है, किंतु कई महानुभावो ने सशोधनों के रूप मे उस पर अपनी छाप भी छोड दी है। यदि अधिक नही तो कम से कम आधे दर्जन हाथों द्वारा प्रति का संस्कार अवश्य हुआ है। पूर्व-मुद्रण-काल मे जब ग्रंथो की पाडुलिपियाँ ही तैयार की जाती थी, प्रतिलिपि करने मे बहुत सी अशुद्धियाँ हो जाया करती थी इस लिए यह एक नियम सा हो गया था

---

**[1] देखिए श्री रामदास गौड़ कृत 'रामचरितमानस की भूमिका', पाँचवाँ खंड, पष्ठ ६१ के सामने।** **[2] वही।**

कि अधिकतर उस व्यक्ति से भिन्न जो प्रतिलिपि करता था एक व्यक्ति मूल प्रति से इस प्रति की जांच कर के जहां जहां अशुद्धि मिलती थी हरताल लगा कर संशोधन कर देता था। तब यह उस व्यक्ति को दी जाती थी जो उस का लिपिकर्म करता था। और यदि किसी प्रति में हमें स्थान स्थान पर हरताल लगा हुआ दिखाई पड़ता है तो हम यह समझते हैं कि प्रति शोधी हुई है और यदि हमें ऐसा नहीं मिलता तो साधारणतः हम यह समझते हैं कि प्रति बिना शोधे हुए छोड़ दी गई थी। बिना हरताल के प्रयोग के भी अशुद्धियों को केवल काट कर संशोधन किया जा सकता था, किन्तु प्रतिलिपि का पाठ साफ सुथरा रखने के उद्देश्य से हरताल लगा कर ही अधिकतर संशोधन किया जाता था। उपर्युक्त बालकांड की प्रति में हमें दोनों संशोधन-विधियां मिलती हैं। कुछ स्थलों पर तो हरताल लगा कर संशोधन किया गया है और कुछ स्थलों पर केवल स्याही से काट कर। जिस से यह जान पड़ता है कि हरताल लगा कर जो संशोधन किया गया है वही मूलप्रति के अनुसार होगा, दूसरे प्रकार का संशोधन नहीं। दूसरे प्रकार का संशोधन मन-माना भी हो सकता है, और उसे उस का कर्ता प्रत्येक समय कर सकता था। ऐसे दूसरे श्रेणी के संशोधन भी प्रति भर में मिलते हैं। ये पिछले प्रकार के संशोधन पहिले प्रकार के संशोधनों के पीछे किए गए होंगे ऐसा जान पड़ता है, क्योंकि अन्यथा हरताल लगा कर उन का फूहड़पन दूर कर दिया गया होता। शुद्ध पाठ के लिए हरताल वाले संशोधनों को मानना चाहिए। लेखक ने इसी धारणा से पहिले प्रति उठाई और वह उन पाठों को लेता गया जो हरताल लगा कर बनाए गए थे, किन्तु कुछ दूर आगे बढ़ने पर उसे ज्ञात हुआ कि इस प्रकार का संशोधन केवल भूलों को ठीक करने तक ही सीमित नहीं रक्खा गया है बल्कि उस का उपयोग कहीं कहीं कम उपयुक्त जान पड़ने वाले शब्दों को निकाल कर उन के स्थान पर उन के संशोधक को अधिक उपयुक्त जान पड़ने वाले शब्दों को स्थान देने के लिए भी किया गया है, जिस से यह सिद्ध होता है कि हरताल लगा कर किया हुआ संशोधन भी बहुत कुछ मनमाना है और उस का उद्देश्य, जैसा वस्तुतः उसे होना चाहिए था, इतना ही नहीं है कि मूलप्रति का पाठ प्रतिलिपि में भी अक्षुण्ण रूप से रक्खा जावे। ऐसे कुछ संशोधनों का उल्लेख नीचे किया जाता है—

पूर्व का पाठ—जीव चराचर <u>सब</u> के राखे।

सो माया प्रभु सों भय भाखे ॥२००॥

संशोधित पाठ—**जीव चराचर बस के राखे।**

**सो माया प्रभु सों भय भाखे ॥२००॥**

ऊपर की चौपाई मे सभव है प्रतिलिपि मे 'बस' के स्थान पर 'सब' पाठ हो गया हो, किंतु नीचे के दोहे मे इस प्रकार की भूल हुई नही जान पडती—

पूर्व का पाठ—**प्रेम मगन कौसल्या निसिदिन जात न जान।**

**सुत सनेह बस माता बालचरित कर गान ॥२००॥**

सशोधित पाठ—**प्रेम मगन कौसल्या निसि दिन जात न जान।**

**सुत सनेह बस मात तब बाल चरित कर गान ॥२००॥**

प्रतिलिपि करने मे 'मात तब' के स्थान पर 'माता' कभी नहीं हो सकता था, यह स्वत स्पष्ट है। इसी प्रकार नीचे की चौपाई मे भी परिवर्तन किया गया है—

पूर्व का पाठ—**बिधु बदनीं मृग बालक लोचनि।**

**निज स्वरूप रति मानु बिमोचनि ॥२९७॥**

संशोधित पाठ—**विधु बदनीं मृग सावक लोचनि।**

**निज स्वरूप रति मानु बिमोचनि ॥२९७॥**

प्रतिलिपि करने मे 'सावक' के स्थान में 'बालक' पाठ कभी नही हो सकता था। 'बालक' शब्द को कम उपयुक्त समझ कर ही 'सावक' पाठ बनाया हुआ जान पड़ता है। यह सतोष की बात है कि इस ढंग के संशोधनों की सख्या अधिक नही है, और अधिकतर स्थलो पर जहाँ इस प्रकार के संशोधन हैं पूर्व का पाठ भी पढ़ा जा सकता है।

एक दूसरे ढग का संशोधन हुआ है, अनुस्वार-सूचक विंदु के नीचे चद्राकार रेखा बना कर उसे चंद्रविंदु मे परिवर्तित करने में। यह ध्यान देने योग्य है कि प्रतिलिपिकार ने स्वय प्रति भर में कही भी चद्रविंदु का प्रयोग नही किया था, सानुनासिक और अनुस्वरित दोनो प्रकार के वर्णों के उच्चारण के लिए उस ने केवल विंदु से कार्य लिया था। किंतु, किन्ही महाशय ने कही कही पर विंदु के नीचे चंद्राकार रेखा बना दी है। यह रेखा पीछे की बनाई हुई है यह स्पष्ट जान पड़ता है, क्योंकि वह विंदु की अपेक्षा एक हलकी स्याही से बनाई हुई है। इस प्रकार का सशोधन भी अधिक नहीं हुआ है, और इस से कोई क्षति भी नही हुई है, क्योंकि उच्चारण में कोई अंतर नही पडा है। उदाहरणार्थ—

पूर्व का पाठ--फिरत सनेह मगन सुख अपनें।

नाम प्रसाद सोच नहि सपनें ॥२५॥

संशोधित पाठ--फिरत सनेहँ मगन सुख अपनें।

नाम प्रसाद सोच नहि सपनें ॥२५॥

पूर्व का पाठ- भांय कुभांय अनख आलसहू।

नाम जपत मंगल दिसि दसहू ॥२८॥

संशोधित पाठ--भाँय कुभाँय अनख आलसहूँ।

नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥२८॥

इन दो प्रकार के संशोधनों के अतिरिक्त, तीन विशेष स्थलों के संशोधन ध्यान देने योग्य हैं। उन स्थलों पर प्रतिलिपि करते समय पूरी एक एक पंक्ति ही छूट गई थी। एक संशोधन प्रति के ८०वें पत्रे के अपरार्द्ध में है। पहिले नीचे लिखा दोहा आता है—

पारबती पहि जाइ तुम्ह प्रेम परीछा लेहु।

गिरिहि प्रेरि पठयेहु भवन दूरि करेहु संदेहु ॥७७॥

उस के बाद तुरत ही नीचे लिखी चौपाई आ जाती है—

रिषिन्ह गौरि देखी तह कैसी।

मूरतिमंत तपस्या जैसी ॥

और नीचे लिखी चौपाई जिसे उपर्युक्त दोहे और चौपाई के बीच में आना चाहिए था प्रतिलिपि करने में छूट जाती है—

तब रिषि तुरत गौरि पहि गयऊ।

देखि दसा मुनि बिस्मै भयऊ ॥

संशोधन करने वाले व्यक्ति ने यह चौपाई ऊपर के हाशिए में लिख दी है और जिस स्थान पर इस को आना चाहिए था, वहाँ पर एक चिन्ह बना दिया है। कहा जाता है, यह संशोधन तुलसीदास जी का किया हुआ है।

ठीक इसी प्रकार का एक दूसरा संशोधन प्रति के १८६वें पत्रे के अपरार्द्ध में आता है। पहिले नीचे लिखा दोहा आता है—

तेहि रथ रुचिर बसिष्ठ कहु हरषि चढ़ाइ नरेसु।

आपु चढ़ेउ स्यंदन सुमिरि हर गुरु गौरि गनेसु ॥३०१॥

और उस के बाद ही यह चौपाई आ जाती है—

**करि कुल रीति बेद बिधि राऊ।**
**देखि सबहि सब भाँति बनाऊ॥**

नीचे लिखी चौपाई, जिसे उपर्युक्त दोहे और चौपाई के बीच मे आना चाहिए था, प्रतिलिपि करने में छूट जाती है—

**सहित वशिष्ठ सोह नृप कैसे।**
**सुर गुर संग पुरंदर जैसे॥**

सशोधन मे यह चौपाई ऊपरी हाशिए पर लिख दी गई है और जिस स्थान पर इसे होना चाहिए था वहाँ पर एक चिन्ह बना दिया गया है। कहा जाता है कि यह सशोधन भी गोस्वामी जी के हाथो का किया हुआ है।

उपर्युक्त श्री सीताप्रसाद जी ने प्रति के अंतिम पत्रे की पीठ पर मोटा काग़ज चिपका कर, ऊपर जो कहा गया है उस के अतिरिक्त, इस आशय का भी उल्लेख किया है कि प्रस्तुत प्रति गोस्वामी जी द्वारा संशोधित है क्योंकि इस के सशोधनो की लिखावट राजापुर की प्रति की लिखावट से मिलती-जुलती है। किन्तु, लेखक का अनुमान है कि उन का यह कथन ठीक नही है, क्योंकि पहिले तो यही बहुत सदेह-पूर्ण है कि राजापुर वाली प्रति गोस्वामी जी के हाथ की लिखी है, दूसरे यदि उसे गोस्वामी जी की लिखी मान भी लिया जावे तब भी उस की लिखावट इन ऊपर के दोनो संशोधनो की लिखावट से भिन्न है। उदाहरणार्थ—

ऊ—राजापुर की प्रति का ऊ दीर्घ ई की तरह (उँ) उ और ँ के सयोग से बना है, किंतु ऊपर के प्रथम सशोधन मे आए हुए 'गयऊ' और 'भयऊ' के ऊ साधारण छापे के ऊ की भाँति उ और एक दुम के सयोग से बने है।

ज—राजापुर की प्रति का ज ~ ॰ — ा चार अशो का बना हुआ है, किंतु ऊपर के दूसरे संशोधन में आए हुए ज मे साधारण छापे वाले ज की भाँति ~ — ा केवल तीन ही अश मिलते है। राजापुर वाले ज का दूसरा अश उस मे नही है।

भ—राजापुर के भ मे अत की जो खडी पाई है उस के ऊपर एक आडी रेखा भी है (ा) किंतु ऊपर के दूसरे संशोधन मे आने वाले 'भयऊ' के भ में वह आड़ी रेखा नही है, और अतिम पाई मुडी छोड दी गई है।

र—राजापुर की प्रति का र । इन दो अंशों की मिलावट से बना हुआ है, किंतु दूसरे संशोधन में आने वाले 'सूर सूर' के र साधारण छापे वाले र की भाँति । ् इन दो अंशों के मेल से बने हैं।

ह—राजापुर का ह छपे हुए साधारण ह की भाँति । ् . इन अंशों के संयोग से बना हुआ है किंतु ऊपर के दूसरे संशोधन में आने वाले 'सोऽहं' और 'सोहं' के ह में बीच का भाग ् नहीं है।

ृ—ऋकार-सूचक चिह्न में भी विशेष उल्लेख योग्य अंतर है। राजापुर की प्रति में यह चिह्न ु सान की भाँति लिखा हुआ मिलता है और इन संशोधनों में आए हुए 'सूरसूर' में वही ˜ रुपये की निशानी की भाँति लिखा हुआ मिलता है।

ये थोड़े से भेद उदाहरण के लिए पर्याप्त होंगे। यदि ध्यान से देखा जाए तो इसी प्रकार का अंतर अधिकतर अक्षरों की लिखावट में मिलेगा।

इन संशोधनों की लिखावट ऊपर कहे हुए पंचनामे की लिखावट से भी मेल नहीं खाती। उदाहरण के लिए दोनों में आए हुए कुछ अक्षरों की लिखावटों की तुलना नीचे की जाती है—

क—पंचनामे के क की दुम छोटी है किंतु संशोधनों में आए हुए क की दुम लंबी है।

ज—ऊपर राजापुर के ज के संबंध में जो कहा गया है वही पंचनामे के ज के संबंध में भी समझना चाहिए।

त—पंचनामे का त परिधि के एक टुकड़े और एक खड़ी पाई ( ट । ) के संयोग से बना हुआ है किंतु संशोधनों का त एक खड़ी रेखा फिर एक आड़ी रेखा और खड़ी पाई ( । - । ) के संयोग से बना हुआ है।

न—पंचनामे का न शून्य और आड़ी रेखा ( ० — ) के संयोग से बना हुआ है, किंतु संशोधनों का न एक त्रिकोण और आड़ी रेखा ( ∆ — ) के संयोग से बना हुआ है।

भ—ऊपर राजापुर वाले भ के संबंध में जो कहा गया है वही पंचनामे के भ के संबंध में भी समझना चाहिए, दोनों लगभग एक से हैं।

ह—राजापुर के ह के संबंध में ऊपर जो कहा गया है लगभग वही पंचनामे के ह के संबंध में भी समझना चाहिए, दोनों में बहुत साम्य है।

ा—राजापुर की प्रति में आए हुए उकार की मात्रा के सबंध मे ऊपर जो कहा गया है वही पचनामे की उकार की मात्रा के सबध मे भी समझना चाहिए, दोनो की लिखावट मे बहुत कुछ साम्य है।

'वाल्मीकि-रामायण' उत्तरकाड की स० १६४१ की प्रति जो गोस्वामी जी के हाथ की लिखी कही जाती है, उस की लिखावट भी इन सशोधनों की लिखावट से नही मिलती। उदाहरणार्थ—

ज—ऊपर पचनामे के ज के सबध मे जो कहा गया है वही 'वाल्मीकि-रामायण' के ज के सबध मे भी समझना चाहिए, दोनो मे बहुत साम्य है।

ह—इसी प्रकार ऊपर राजापुर के ह के सबध मे जो कहा गया है वही 'वाल्मीकि-रामायण' के ह के सबध मे भी समझना चाहिए, दोनों के ह एक दूसरे से मिलते जुलते है।

प्रस्तुत लेख के साथ न तो पचनामे का चित्र दिया जा रहा है और न राजापुर की प्रति के पृष्ठों का ही, इस लिए इस सबंध मे विस्तार व्यर्थ होगा। इतने ही से कदाचित् यह स्पष्ट हो गया होगा कि इन दोनों संशोधनों की लिखावट न तो राजापुर की प्रति की लिखावट से मेल खाती है और न पंचनामे या 'वाल्मीकि-रामायण' की ही लिखावट से। फलत यह मानना कदाचित् भूल होगी कि प्रस्तुत बालकांड की प्रति तुलसीदास जी के हाथ की संशोधित की हुई है।

एक और भूल जो सशोधन के पीछे भी इस प्रति मे रह गई थी वह इस प्रकार है—प्रति के ४०वे पत्रे के अपरार्द्ध में ही, जिस पर की एक भूल का वर्णन ऊपर किया जा चुका है, यह भूल भी पडती है। होना चाहिए था[1]—

केहि अवराधहु का तुम चहहू।
हम सन सत्य मरमु (किन कहहू॥
सुनत रिषिन्ह के बचन भवानी।
बोली गूढ मनोहर बानी॥
कहत) बचन मन अति सकुचाई।
हँसिहहु सुनि हमार जड़ताई॥

[1] श्री रामदास गौड़ द्वारा संपादित 'रामचरितमानस', बो० ७८

किन्तु प्रतिलिपि करने में 'सत्य सरसु' के आगे 'बचन' तक का वह अंश जो कोष्ठकों के भीतर रखा गया है छूट गया था। यह छूटा हुआ अंश प्रति में एक पंक्ति के बराबर है, इस लिए ऐसा जान पड़ता है कि प्रतिलिपिकार एक पूरी पंक्ति ही छोड़ कर आगे की पंक्ति पर चला गया। पीछे से, जो संशोधन पहिली बार हुआ उस में यहाँ हाशिए पर 'किन काहू' और 'कहत' लिख कर पहिली और तीसरी चौपाई तो पूरी कर दी गई, फिर भी बीच वाली चौपाई नहीं लिखी गई। दूसरी बार जो संशोधन हुआ उस में ऊपर किए हुए संशोधन पर हरताल लगा कर फिर से वे ही शब्द लिखे गए और फिर भी बीच वाली चौपाई नहीं लिखी गई। तीसरी बार के संशोधन में किसी महाशय ने वह छूटी हुई चौपाई पन्ने के नीचे के हाशिए में लिख दी, किंतु इस समय उस पर वह पतला नर्मा कागज चिपकाया हुआ है जिस का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इस भूल, और उस के संशोधन से दो बातों का पता चलता है, एक यह कि ४०वें पन्ने का अपरार्द्ध तुलसीदास जी का संशोधित किया हुआ नहीं हो सकता, क्योंकि अन्यथा ऐसी भद्दी भूल संशोधन के बाद भी बनी न रह जाती; दूसरी बात यह कि मूल प्रति को सामने रख कर भी उस प्रति का संशोधन नहीं किया गया, क्योंकि अन्यथा दो दो बार के संशोधनों के पीछे भी इतनी मोटी भूल का रह जाना असंभव था।

ऊपर संशोधनों के जो उदाहरण दिए गए हैं और तीन विशेष स्थलों के संशोधनों पर जो विचार किया गया है उस से हम इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

१—संशोधन कब कब और किन के द्वारा हुए यह कहा नहीं जा सकता।

२—यह स्पष्ट है कि संशोधन कई बार और कई व्यक्तियों द्वारा हुए।

३—संशोधन केवल प्रतिलिपि की भूल सुधारने के लिए ही नहीं बल्कि पाठ-सुधार के लिए भी किए गए हैं।

४—कुछ संशोधन बिना किसी विशेष मतलब के किए गए हैं।

५—संशोधन कदाचित् गोस्वामी जी के किए हुए नहीं हैं। और

६—संशोधन मूल प्रति को सामने रख कर नहीं किए गए हैं।

ऐसी दशा में हमारे लिए यही अधिक उत्तम है कि संशोधनों को एक ओर रख कर हम यह जानने का उद्योग करें कि प्रतिलिपिकार ने पहिले-पहिल क्या लिखा था। संतोष की बात है कि ध्यानपूर्वक देखने पर अधिकतर स्थलों पर पूर्व का पाठ हमें मि

जाता है। वह पाठ इस प्रकार का है कि अभी तक संपादित 'रामचरितमानस' की कोई भी प्रति वैसा पाठ हमारे सामने नही रख सकी है। इस का कारण भी स्पष्ट है—एक तो इतनी प्राचीन प्रति हमे प्राप्त होते हुए भी इस का यथोचित उपयोग हम ने अभी तक नही किया है, दूसरे हमारे अधिकतर संपादको ने पाठ के लिए अपनी सुरुचि को ही प्रमाण माना है। यदि उन की रुचि के अनुसार पाठ किसी भी प्रति मे मिल गया है तो उन्हो ने उसे स्वीकार कर अन्य पाठों की अवमानना की है।

अयोध्या की किसी प्रति का उपयोग 'रामचरितमानस' के सपादन में श्री रामदास गौड ने किया है, वह उस के एक पृष्ठ के फुटनोट से जान पडता है।[1] उक्त फुटनोट मे वे लिखते है "अयोध्या की प्रति मे "क्रमनासा" यह पाठ हरताल लगा कर बनाया गया है और ऐसा प्रसिद्ध है कि तुलसीदास जी ने इस प्रति को शुद्ध किया था।" लेखक को प्रस्तुत बालकांड की प्रति में यह सशोधन मिला है, जिस से उस का अनुमान है कि गौड जी का अभिप्राय ऊपर के उल्लेख मे इसी प्रति से है। गौड जी द्वारा सपादित 'रामचरितमानस' के बालकाड का पाठ अन्य संपादित प्रतियो के बालकाड के पाठों की अपेक्षा प्रस्तुत प्रति के पाठ के अधिक निकट है, इस से भी लेखक के उपर्युक्त अनुमान की पुष्टि होती है। किंतु 'मानस' के मूल पाठ की भूमिका में उन्हो ने लिखा है[2] "सवत् १७२१ को लिखी जिस प्रति से काशी के श्री भागवतदास छत्री ने पोथी छपवाई थी वह मेरी निगाह में अधिक शुद्ध और प्रामाणिक है, अधिकाश पाठ उसी से मिलाया गया है।" यह उन्हो ने सवत् १७०४ की उस प्रति की तुलना मे लिखा है जिस को इडियन प्रेस प्रयाग द्वारा प्रकाशित 'रामचरित-मानस' के सपादको ने अधिक महत्त्व दिया था। ऐसा लिखते समय बालकाड के पाठ के लिए प्रस्तुत प्रति भी उन के ध्यान में थी ऐसा नही जान पडता। फिर भी गौड जी द्वारा सपादित 'मानस' के बालकाड का पाठ अन्य सपादित प्रतियों के पाठों की अपेक्षा प्रस्तुत प्रति के पाठ के अधिक निकट होने के कारण नीचे उसी से कुछ स्थल उद्धृत किए जाते है, और फिर वे ही स्थल स० १६६१ की प्रस्तुत प्रति से अविकल उद्धृत किए जाते हैं, जिस से यह विदित हो जावे कि प्रस्तुत प्रति का उपयोग अभी कहाँ तक हुआ है और प्रस्तुत

---

[1] 'रामचरितमानस' पृ० ७, फुटनोट २

[2] 'वही' ( मूल पाठ ) भूमिका, पृ० २

प्रति के पाठ की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं। विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिए निम्न-रेखाओं का प्रयोग कुछ स्वतन्त्रता-पूर्वक किया गया है। इस में अन्य प्रतियों के पाठों का मिलान करने में पाठकों को सुविधा होगी और साथ ही साथ प्रस्तुत प्रति की प्रमुख विशेषताएँ भी स्वतः स्पष्ट हो जायँगी :-

( १ ) अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।
अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
मोरे मत बड़ नाम दुहूँ ते।
किय जेहि जुग निज बस निज बूते॥
प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं जन की।
कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की॥
एक दारु गत देखिय एकू।
पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू॥
उभय अगम जुग सुगम नाम तें।
कहेउ नाम बड़ ब्रह्म राम ते॥
ब्यापक एक ब्रह्म अबिनासी।
सत चेतन घन आनँदरासी।
अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी।
सकल जीव जग दीन दुखारी॥
नाम निरूपन नाम जतन तें।
सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥

दो०—निरगुन तें एहि भाँति बड़ नाम प्रभाउ अपार।
कहउँ नाम बड़ राम तें निज-बिचार-अनुसार॥२३॥

( २ ) सो०—लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिव बार बहु।
बोले बिहँसि महेस हरि-माया-बलु जानि जिय॥५१॥

जौं तुम्हरे मन अति संदेहू।
तौ किन जाइ परिच्छा लेहू॥

तब लगि बैठ अहउँ बट छाहीं ।
जब लगि तुम्ह ऐहहु मोहि पाहीं ॥
जैसे जाइ मोह भ्रम भारी ।
करेहु सो जतन बिबेक बिचारी ॥
चली सती सिव आयसु पाई ।
करइ बिचार करउँ का भाई ॥
इहाँ संभु अस मन अनुमाना ।
दच्छ सुता कहुँ नहिं कल्याना ॥
मोरेहु कहे न संसय जाहीं ।
बिधि बिपरीत भलाई नाहीं ॥
होइहि सोइ जो राम रचि राखा ।
को करि तरक बढावइ साखा ॥
अस कहि लगे जपन हरि नामा ।
गई सती जहँ प्रभु सुख धामा ॥

दो०—पुनि पुनि हृदय बिचार करि धरि सीता कर रूप ।
आगे होइ चलि पंथ तेहि जेहि आवत नरभूप ॥५२॥

( ३ )

कटि तूनीर पीत पट बाँधे ।
कर सर धनुष बाम बर काँधे ॥
पीत - जग्य - उपबीत सोहाए ।
नखसिख मंजु महा छबि छाए ॥
देखि लोग सब भये सुखारे ।
एकटक लोचन टरत न टारे ॥
हरषे जनक देखि दोउ भाई ।
मुनि-पद-कमल गहे तब जाई ॥
करि बिनती निज कथा सुनाई ।
रंग अवनि सब मुनिहि देखाई ॥

जहँ जहँ जाहिं कुअँर बर दोऊ ।
तहँ तहँ चकित चितव सब कोऊ ॥
निज निज रुख रामहि सब देखा ।
कोउ न जान कछु मरम बिसेखा ॥
भाँति रचना मुनि नृप सन कहेऊ ।
राजा मुदित महा सुख लहेऊ ॥

सब सदनन्ह ते सुन्दर सदन बिमल बिसाल ।
मुनि समेत दोउ बंधु तहँ बैठारे महिपाल ॥२४९॥

( ४ )

बामदेव रघु-कुल-गुर ग्यानी ।
बहुरि गाधि सुत कथा बखानी ॥
सुनि मुनि सुजस मनहि मन राऊ ।
बरनत आपन पुन्य प्रभाऊ ॥
बहुरे लोग रजायसु भयऊ ।
सुतन्ह समेत नृपति गृह गयऊ ॥
जहँ तहँ राम ब्याह सब गावा ।
सुजस पुनीत लोक तिहुँ छावा ॥
आये ब्याहि राम घर जब तें ।
बसे अनंद अवध सब तब तें ॥
प्रभु बिबाह जस भयउ उछाहू ।
सकहिं न बरनि गिरा अहिनाहू ॥
कबि-कुल-जीवन-पावन जानी ।
राम-सीय-जसु मंगल खानी ॥
तेहि तें मै कछु कहा बखानी ।
करन पुनीत हेतु निज-बानी ॥

छंद— निज-गिरा-पावनि-करन-कारन रामजस तुलसी कहेउ ।
रघु-बीर-चरित अपार बारिधि पार कबि कौने लहेउ ॥

उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं ।
बैदेहि-राम-प्रसाद ते जन सर्बदा सुख पावहीं ।।

सो०— सिय-रघु-बीर-बिबाहु जे सप्रेम गावहिं सुनहिं ।
तिन्ह कहुँ सदा उछाहु मंगलायतन रामजस ।।३६१।।

सं० १६६१ की प्रति के अनुसार उपर्युक्त स्थलों का पाठ क्रमशः इस प्रकार है —

( १ ) अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा ।
अकथ अगाध अनादि अनूपा ।।
मोरें मत बड़ नामु दुहूँ ते ।
किये जेहिं जुग निज बस निज बूते ।।
प्रौढ़ सुजन जन जानहि जन की ।
कहउ प्रतीति प्रीति रुचि मन की ।।
एकु दारुगत देखिअ एकू ।
पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू ।।
उभय अगम जुग सुगम नाम ते ।
कहेउ नामु बड ब्रह्म राम ते ।।
ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी ।
सत चेतन घन आनँदरासी ।।
अस प्रभु हृदयं अछत अविकारी ।
सकल जीव जग दीन दुषारी ।।
नाम निरूपन नाम जतन तें ।
सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें ।।

।। दोहा ।। निरगुन तें येहि भांति बड नाम प्रभाउ अपार ।
कहउँ नाम बड राम तें निज बिचार अनुसार ।।२३।।

( २ ) ।। सोरठा ।। लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिव बार बहु ।
बोले बिहँसि महेसु हरि माया बलु जानि जिय ।।५१।।

जौ तुम्हरें मन अति संदेहू ।
तौ किन जाइ परीछा लेहू ।।

तब लगि बैठ अहौं बट छाहीं ।
जब लगि तुम्ह अइहु मोहि पाहीं ॥
जैसे जाइ मोह भ्रम भारी ।
करेहु सो जतनु बिबेक बिचारी ॥
चलीं सती सिव आयसु पाई ।
करहिं बिचारु करौं का भाई ॥
इहाँ संभु अस मन अनुमाना ।
दच्छसुता कहुँ नहिं कल्याना ॥
मोरेहु कहें न संसय जाहीं ।
बिधि बिपरीत भलाई नाहीं ॥
होइहि सोइ जो राम रचि राखा ।
को करि तर्क बढ़ावै साखा ॥
अस कहि लगे जपन हरि नामा ।
गई सती जहँ प्रभु सुखधामा ॥

॥ दोहा ॥ पुनि पुनि हृदय बिचारु करि धरि सीता कर रूप ।
आगे होइ चलि पंथ तेहि जेहि आवत नरभूप ॥५२॥

( ३ )

कटि तूनीर पीत पट बांधें ।
कर सर धनुष बाम बर कांधें ॥
पीत जग्य उपबीत सोहाये ।
नख सिख मंजु महा छबि छाये ॥
देखि लोग सब भये सुखारे ।
एकटक लोचन चलत न तारे ॥
हरषे जनकु देखि दोउ भाई ।
मुनि पद कमल गहे तब जाई ॥
करि बिनती निज कथा सुनाई ।
रंग अवनि सब मुनिहि देखाई ॥

जहं जहं जाहिं कुअर वर दोऊ ।
तहं तहं चकित चितव सब कोऊ ॥
निज निज रुप रामहिं सबु देषा ।
कोउ न जान कछु मरमु बिसेषा ॥
भलि रचना मुनि नृप सन कहेऊ ।
राजा मुदित महा सुषु लहेऊ ॥

॥ दोहा ॥ सब मंचन्ह ते मंचु एकु सुंदर बिसद बिसाल ।
मुनि समेत दोउ बंधु तह बैठारे महिपाल ॥२४४॥

( ४ ) बामदेव रघुकुल गुर ज्ञानी ।
बहुरि गाधि सुत कथा बषानी ॥
सुनि मुनि सुजसु मनहि मन राऊ ।
बरनत आपन पुन्य प्रभाऊ ॥
बहुरे लोग रजाएसु भएऊ ।
सुतन्ह समेत नृपति गृह गएऊ ॥
जहं तहं रामु ब्याहु सब गावा ।
सुजस पुनीत लोक तिहु छावा ॥
आये ब्याहि रामु घर जब तें ।
बसे अनंद अवध सब तब तें ॥
प्रभु बिआहु जस भयउ उछाहू ।
सकहिं न बरनि गिरा अहिनाहू ॥
कबिकुल जीवनु पावन जानी ।
राम सीय जसु मंगल षानी ॥
तेहि ते मैं कछु कहा बषानी ।
करन पुनीत हेतु निज बानी ॥

॥ छंद ॥ निज गिरा पावनि करन कारन रामजसु तुलसी कह्यो ।
रघुबीर चरित अपार बारिधि पारु कबि कौने लह्यो ॥

कर उन की 'शुद्धता' की ओर ध्यान देना चाहिए। पाठकों को कदाचित् उपर्युक्त प्राचीन प्रति का ही पाठ अधिक शुद्ध जान पड़ेगा। उस की प्रमुख विशेषताएं बहुत कुछ स्वतः स्पष्ट है। केवल एक मोटी विशेषता की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कर के लेख समाप्त करना है, वह है शब्दों के उकारान्त रूपों की। प्रचलित प्रतियों में उकारांत रूप कभी कभी मिल जाया करते हैं, किंतु साधारणतः उन का बहिष्कार किया गया है। प्रस्तुत प्रति में यह रूप बहुतायत में मिलता है जैसा ऊपर के उद्धरणों से ज्ञात होगा। राजापुर की प्रति में भी यह बाहुल्य इसी प्रकार मिलता है। जान पड़ता है जितना ही हम इधर आते हैं यह रूप उतना ही लुप्त होता गया है, इसी लिए इधर की हस्तलिखित प्रतियों में भी वह बहुत कम मिलता है। किंतु तुलसीदास जी स्वयं उस का प्रयोग प्रचुर परिमाण में करते थे, यह पंचनामे में आए हुए इस दोहे में प्रकट है—

तुलसी जान्यो दसरथहिं धरमु न सत्य समान।<br>
राम तजे जेहि लागि बिनु रामु परिहरे प्रान॥

———

# राजपूताने में मुगलों का शासन

[ लेखक—डॉक्टर मथुरालाल शर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० ]

शासन की दृष्टि से अकबर ने अपने विस्तृत भारतीय साम्राज्य को १५ सूबों में बाँट रक्खा था। प्रत्येक सूबे में कितने ही 'सरकार' अर्थात् डिवीज़न होते थे और हर एक 'सरकार' कई परगनों में विभक्त थी। राजपूताना[1] इन सबों में से एक सूबा था और इस की राजधानी अजमेर थी। वहाँ एक सूबेदार रहता था, जो सिपहसालार भी कहलाता था और वह सारे राजपूताने के शासन के लिए उत्तरदायी माना जाता था। सूबेदार सम्राट् का प्रतिनिधि था और उस की शक्ति बादशाह की शक्ति की भाँति अपरिमित थी। वह सेनानायक था, न्यायाधीश था और माल-विभाग अर्थात् रेवेन्यू का सब से बड़ा हाकिम था। अपने सूबे के बड़े से बड़े आदमी को वह प्राणदंड तक दे सकता था। सूबेदार की सहायता के लिए एक क़ाज़ी नियत किया जाता था, जो मुस्लिम क़ानून के विषय में सूबेदार को सलाह दिया करता था, परन्तु यह सूबेदार की इच्छा पर निर्भर था कि क़ाज़ी से किसी विषय में सम्मति ले या न ले। सूबेदार चाहे तो प्रजा के पारस्परिक झगड़ों के निवारण के लिए एक मीर अद्ल नामक उच्चाधिकारी नियत कर सकता था।

अजमेर के आसपास का इलाक़ा, जो अब मेरवाड़ा कहलाता है, सीधा अजमेर के ताल्लुक़ था। शेष राजपूताना अनेक सरकारों में विभक्त था। सरकार का अफ़सर फ़ौजदार कहलाता था और वह सूबेदार का मातहत हुआ करता था। फ़ौजदार का कर्तव्य था कि उस की सरकार में जो लोग बाग़ी हों उन का दमन करे और जो कृषक कर देने से इन्कार करें अथवा अन्य प्रकार से शांति-भंग करने की चेष्टा करें उन को आज्ञापालन के लिए विवश करे। फ़ौजदार प्रायः क़िले में रहा करता था और

[1] उस समय इस सूबे का नाम अजमेर था और इस में प्रायः वे सब हिंदू राज्य सम्मिलित थे, जो इस समय राजपूताने में शामिल हैं।

अत्यत अपमान-जनक विधि से अपनी पुत्रियो के विवाह भी मुगल सम्राटो या शाहजादों के साथ कर दिए थे। प्रत्येक राजपूत नरेश मुगल बादशाहो को खिराज देता था और उन की सेना मे मनसबदार बनना गौरव का कारण समझता था। परतु फिर भी राजपूत नरेशो की तत्कालीन भारत मे, जनता मे, और दरबार मे प्रतिष्ठा थी और यह मुगलो की कृपा के कारण नही बल्कि स्वयं उन के बल और प्रभाव के कारण थी। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ तो राजपूत नरेशो को अपने साम्राज्य के प्रधान स्तंभ ही समझते थे। औरगजेब उन से इस कारण घृणा करता था कि वे हिंदू थे, परन्तु फिर भी जयसिंह, जसवंतसिह और किशोरसिंह आदि नरेशो का सहयोग वह अपने साम्राज्य के शासन मे आवश्यक समझता था। सम्राट् इन की इज्जत करता था और समय-समय पर खिलअत और अलकृत हाथी-घोडो की भेंट द्वारा इन का सम्मान किया करता था।

औरगज़ेब के बाद मुग़लो की शक्ति क्षीण होने लगी और मुग़ल सम्राट् सबल सहायको की तलाश मे आतुर हो कर इधर उधर झाँकने लगे। दिल्ली के सिहासन के लिए जब दो उम्मीदवार खडे होते थे तो प्रत्येक यही कोशिश करता था कि शक्तिशाली राजपूत नरेश उस का पक्ष ग्रहण करे। मुग़लो के ह्रास-काल मे भी जोधपुर-नरेश महाराजा अजीतसिह ने युद्ध में पराजित हो कर विवशता-पूर्वक बादशाह फर्रुखसियर को अपनी लडकी ब्याही थी, परंतु इस समय की यह एकमात्र घटना है। कुछ वर्ष बाद ही फ़र्रुखसियर के अध पतन मे और उस की हत्या मे अजीतसिह ने प्रधान भाग लिया था और वह अपनी लडकी को दिल्ली के महलो से निकाल कर वापिस जोधपुर ले गया था।

मुगल-दृष्टि से संपूर्ण राजपूताना[1] साम्राज्य के अनेक सूबो में से एक सूबा

गते शते सप्तदशे तु वर्षे चतुर्दशाख्ये बहुबाणवर्षे।
सुजाख्यसोदर्यवरेण युद्धं औरंगजेबस्य वितन्वतोऽस्य ॥ ५ ॥
युदे कुमारं सरदारसिंहं संप्रेषयामास नृपः पुरैव।
औरंगजेबस्य पुरः स्थितोऽसौ रणे कुमारो जयवान् सजातः ॥ ६ ॥
(राजप्रशस्ति महाकाव्य—गौरीशंकर हीराचंद ओझा, 'राजपूताने का इतिहास', चतुर्थभाग, पृष्ठ ८४९)

[1] अर्थात् सूबा अजमेर।

अवश्य था परन्तु यह केवल नाम की शान थी। राजपूताने पर मुग़लों का नियन्त्रण अनेक अंशों में आधुनिक ब्रिटिश नियन्त्रण से अधिक भिन्न नहीं था। जनता की दृष्टि में राजपूताना सरकारों में विभाजित नहीं था, बल्कि मारवाड़, मेवाड़, हाड़ौती आदि हिंदू राज्यों में मिल कर बना हुआ था। सूबेदार और फ़ौजदार आधुनिक अंग्रेज़ ए० जी० जी० या रेज़ीडेंट की भांति राज्यों से खिराज वसूल करते थे और राजाओं की नीति और गति से मुग़ल बादशाहों को परिचित रखते थे[1]।

मुग़ल सम्राट् हर एक राजपूत नरेश को अपना जागीरदार मानते थे। संपूर्ण भूमि मुग़ल सम्राट की मानी जाती थी और हिंदू नरेश केवल उस के जागीरदार समझे जाते थे। जिस परगने में किसी राजपूत नरेश की राजधानी स्थित होती थी वह और उस के पास के दो चार परगने उस राजा का 'वतन' कहलाता था लेकिन इस को भी मुग़ल सम्राट् अपने साम्राज्य का एक अंग ही मानते थे। राजाओं का परंपरागत अधिकार स्वीकृत नहीं किया जाता था। क़ानून में 'वतन' के परगने भी राजाओं को जागीर में दिए हुए माने जाते थे, परन्तु वास्तव में जागीर मानते हुए भी मुग़ल सम्राट् उन परगनों को छीनने का साहस नहीं करते थे। इन परगनों के अतिरिक्त अन्य कितने ही परगने बड़े-बड़े राजाओं के अधिकार में होते थे। ये सब परगने राजाओं की जागीर माने जाते थे। मुग़लों के सरकारी काग़ज़ों में यह नहीं लिखा जाता था कि बूंदी के राज्य में ३६ परगने हैं या उदयपुर में ३८। सरकारी तौर पर प्रत्येक हिंदू राज्य के सब परगनों का संबंध एक या अधिक सरकारों या सूबों से

[1] यह लेख कोटा राज्य के मुग़ल-कालीन काग़ज़ात का अध्ययन कर के लिखा गया है। इन काग़ज़ात में बूंदी, उदयपुर, जोधपुर और जयपुर आदि अन्य हिंदू राज्यों के विषय में भी सामग्री मिलती है। ऐसे दफ़्तर राजपूताने की सब रियासतों में है और इनके अध्ययन से ही राजपूताने में तत्कालीन मुग़ल-शासन का क्रियात्मक स्वरूप विदित होता है। कोटा राज्य के स्टेट हिस्टोरियन की हैसियत से लेखक को दो राज्यों के ऐसे दफ़्तर देखने का मौक़ा मिला है।

'आईने-अकबरी' जो मुग़ल इतिहास-वेत्ताओं के ज्ञान की आधार-शिला है, वह आदर्श चित्र है, तत्कालीन शासन-शैली का वास्तविक चित्र नहीं (सरकार, 'मुग़ल एडमिनिस्ट्रेशन', पृष्ठ २५७)

हुआ करता था। जो परगने बूँदी-नरेश की जागीर मे थे उन मे से कुछ का संबंध सरकारगढ़ गागरोन सूबा उज्जैन से था और शेष का संबंध सरकारगढ़ रणथभोर सूबा अजमेर से। इस प्रकार मुगलो के कागजो मे बूँदी का कोई अस्तित्व ही नही था। सिर्फ यह माना जाता था कि परगना बूँदी राव सुरजन या अमुक राव की जागीर मे है। जिन परगनो का संबंध सूबा उज्जैन मे था उन का मतालबा उज्जैन मे जमा किया जाता था और जिन परगनो का संबंध अजमेर से था, उन का मतालबा अजमेर मे जमा किया जाता था।[1] प्रत्येक परगने के मतालबे का हिसाब फ़ौजदार के पास तथा सूबेदार के पास रहा करता था। मतालबा प्रत्येक परगने के हिसाब से वसूल किया जाता था। ऐसा नही होता था कि ३६ परगनो के मतालबो की एक रकम निश्चित हो और बूंदी राज्य के नाम पर वह जमा की जाती हो। कई परगने विशेष कारण से एक राजा की जागीर मे से हटा कर दूसरे को दे दिए जाते थे। जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब के राज्य मे बूंदी और कोटा, जयपुर और अलवर तथा जोधपुर और बीकानेर के बीच मे कई बार इस प्रकार परगनो की लौटा-फेरी की जाती थी।[2] अधिकतर ऐसा होता था कि जब किसी नरेश की जागीर के परगने छीने जाते थे तो वे उसी के किसी भाई को जागीर मे दिए जाते थे। ऐसा नही किया जाता था कि हाडा-नरेश की जागीर के परगने कछवाहा नरेश को दे दिए गए हो या कछवाहो के परगने छीन कर राठौडो को दे दिए गए हो। कभी-कभी छिने हुए परगने सीधे फ़ौजदार के सुपुर्द भी कर दिए जाते थे।

प्रत्येक परगने मे हकत और पड़त जमीन का हिसाब तथा उस की उन्नति का काम कानूनगो के सुपुर्द रहता था। साम्राज्य के हर एक परगने का क़ानूनगो सम्राट् द्वारा नियत किया जाता था। जो परगने हिंदू नरेशो की जागीर में थे उन के कानूनगो भी बादशाह ही नियत करते थे। इस से पाठक अनुमान कर सकते हैं कि जागीरो मे

---

[1] कोटा राज्य के पुराने दफ्तर में जो हिसाबी कागज़ हैं, उनके आधार पर ये पंक्तियाँ लिखी गई हैं, अन्य राज्यो के पुराने दफ्तरों से भी इस मत की पुष्टि होती है।

[2] कविराजा सूर्यमल, 'वंशभास्कर', तृतीयभाग, पृष्ठ २५९३, २६२५, २६४९ २६५८, २६६४, २६७१, २६८८, २७४१, २७४४, २७८५, और २८३५

भी मुगल सम्राट् किस हद तक हस्तक्षेप किया करते थे। कानूनगो की नियुक्ति शाही फ़रमान द्वारा की जाती थी, जिस पर बादशाह की तथा वज़ीर की मोहर होती थी। कानूनगो का यह कर्तव्य था कि कृषि की उन्नति करे और परगने में आबादी बढ़ावे। लोगों को अच्छे मकान बनाने की प्रेरणा करे और मदद दे। प्रजा के साथ समानता का व्यवहार करे और उन पर अन्याय होता हो तो उस से उन्हें बचावे। यथासंभव जागीरदार को अन्याय तथा कठोरता करने से रोके, और यदि उस का कहना जागीरदार न माने तो जो कुछ हुआ हो, सच्चा हाल लिख कर सम्राट् की सेवा में भेजे। अपने परगने की भूमि, लगान, आमद तथा खर्च का हिसाब साफ़ लिख कर दफ़्तरखाना आली अर्थात् सर्वोच्च हिसाब-विभाग में प्रति वर्ष भेजता रहे। परगने के हाकिम, आमिल तथा जागीरदार हाल व आयंदा के नाम आदेश होता था कि कानूनगो की बात और सलाह तथा हिसाब को विश्वसनीय समझें। यह बात अवश्य थी कि कानूनगो उन्हीं विषयों पर सलाह दिया करता था जिन में उस का संबंध होता था। परगने के रईस, चौधरी, मुक़द्दम और प्रजा तथा कृषकों को हुक्म दिया जाता था कि नियुक्त व्यक्ति को अपना कानूनगो जान कर उस की सलाह और मशवरे से मुश्किल कामों का बंदोबस्त करें और उस की बुद्धि तथा अनुभव से लाभ उठावें।[1] इस प्रकार का फ़रमान बार-बार जारी नहीं किया जाता था। कानूनगो प्रायः वंश-परंपरागत हुआ करते थे। पिता के मरने पर उस के पुत्र को नया फ़रमान प्राप्त करना पड़ता था। ऐसा फ़रमान यदि कोई विशेष कारण न हो तो प्रायः दे दिया जाया करता था। एक परगने में, यदि वह बड़ा हो तो, एक से अधिक कानूनगो भी हुआ करते थे। यदि मृतक कानूनगो के दो या तीन पुत्र हुए तो वे सब उस परगने के कानूनगो बना दिए जाते थे। ये लोग प्रायः हिंदू होते थे। परगने में जो भूमि-कर

---

[1] ये पंक्तियाँ जहाँगीर बादशाह के एक फ़रमान के आधार पर लिखी गई हैं, जो लेखक को लाला भँवरलाल जी कारकुन पेंशनर कोटा राज्य से प्राप्त हुआ है।

लाला भँवरलाल के बुज़ुर्ग परगना कोटा सरकारगढ़ रणथंभोर सूबा अजमेर के कानूगोयान थे। कोटा और उस के आस-पास का प्रदेश संवत् १३८० से निरंतर हाड़ा राजपूतों के अधिकार में है, परंतु तो भी मुगल बादशाहों के दफ़्तर में परगना कोटा 'सरकारगढ रणथंभोर सूबा अजमेर' ऐसा लिखा जाता था।

वसूल होता था उस का प्रायः दो प्रति-शत कानूनगो को मिलता था। यह धन कानूनगो की रसूम कहलाता था। राजपूताने की रियासतो में इस समय भी ऐसे कानूनगो के वशज वर्तमान है और ये लोग अब भी कानूनगो कहलाते हे। प्रबध-व्यवस्था वदल जाने के कारण अब ये लोग पूर्ववत् कार्य नहीं करते। भिन्न-भिन्न व्यवसायो मे लगे हुए है, तो भी इन लोगो को परपरागत रसूम मिलती है, लेकिन इस का परिमाण अब कम होता जाता है। सयुक्त प्रांत में भी कई कानूनगो-परिवार परिवर्तित रूप मे अब तक शेष है। अकबर के समय में कानूनगो को परगने की आमदनी का कोई अश न दे कर नियत मासिक वेतन देने का प्रयत्न किया गया था। टोडरमल ने कानूनगो लोगो को तीन श्रेणियो मे विभक्त किया था। प्रथम श्रेणी के कानूनगो को २०), द्वितीय श्रेणी वाले को ३०) और तृतीय श्रेणी वाले को ४०) मासिक वेतन मिलता था। यह व्यवस्था अधिक समय तक नही निभ सकी। विशेष कर राजपूताने में आय का अंश देना ही अधिक हितकर सिद्ध हुआ।

परगना किसी हिंदू नरेश के सुपुर्द तीन प्रकार से किया जाता था। या तो वह जागीर मे दिया जाता था या मुकाते पर या इजारे पर।[1] जागीर का अर्थ यह था कि मुग़ल शासन का सबंध उस परगने से नाम-मात्र का रह जाता था। उस पर वास्तव मे राजपूत नरेश का एक प्रकार मे राज्य ही स्थापित हो जाता था। मुगल सरकार की तरफ से उस परगने का जो मतालबा निश्चित होता था, वह जागीरदार को उस सूबे मे जमा करना पड़ता था, जिस मे उस परगने का सबध हो। शेष सपूर्ण अधिकार जागीरदार को प्राप्त हो जाते थे। व्यावहारिक रूप मे कानूनगो भी हिंदू नरेश का ही कर्मचारी था। वास्तव मे जागीरदार ऐसे परगने का सर्वांशरूपेण शासक बन जाता था। मुकाते मे दिए हुए परगने पर हिंदू शासको का उतना अधिकार नही माना जाता था जितना जागीर के परगनो पर। मुकाते के परगने का मतालबा भी जागीर के परगनो की अपेक्षा अधिक हुआ करता था। जागीर के परगने

---

[1] फारसी तवारीख़ों में जागीर का बहुत उल्लेख है। कोटे के राजा जगतसिंह को मऊ मेदाना का परगना औरंगजेब ने मुकाते पर दिया था जिसका संवत् १७३० के कागज़ात में इंदराज है।

वास्तव में हिन्दू-नरेशों के राज्य थे। मुगल लोग आंकड़ों में उन को जागीर मानते थे, परन्तु मुक़ाते के परगने वास्तव में मुगलों ही के परगने थे। वे विशेष कृपा के कारण हिन्दू नरेशों के सुपुर्द इस लिए कर दिए जाते थे कि मतालबा आसानी से वसूल हो जाया करे और हिन्दू नरेशों का भी सम्मान हो जाय। इजारा भी मुकाते से मिलता-जुलता ही तरीक़ा था। यह तरीक़ा उस समय जारी किया गया था, जब मुगल साम्राज्य का पतन होने लग गया था और दूरस्थित परगनों को सम्हालने के लिए मुगल बादशाहों में शक्ति नहीं रही थी। इस विधि से जयपुर-नरेश सवाई जय-सिंह ने बहादुरशाह से बहुत से परगने प्राप्त किए थे।[1] मुकाते में और इजारे में केवल नाम ही का भेद था। यह बात अवश्य है कि मुकाता कृपा प्रदर्शित करने के लिए दिया जाता था और इजारा परिस्थिति की प्रेरणा का फल था।

परगनों का मतालबा प्रायः अजमेर या उज्जैन के सूबों की राजधानियों में जमा किया जाता था। जब औरंगज़ेब शिवाजी के पुत्र और पौत्र के विरुद्ध सुदूर दक्षिण में युद्ध कर रहा था तो मतालबा औरंगाबाद दक्षिण में भेजा जाता था। शाही खज़ाने में जमा होने से पहले रुपये की रक्षा करना राजाओं का काम था। जब मतालबा जमा करने में देर होती थी, तो सूबेदार की ओर से अहदी भेजा जाता था, जो मतालबे के विषय में ताकीद किया करता था। राजा लोग अहदी की ख़ातिर किया करते थे और उस को सब भाँति संतुष्ट रखने का प्रयत्न करते थे। उस को इनाम, वस्त्र तथा अलंकारों द्वारा सम्मानित किया जाता था। मतालबे की अदायगी में यदि अधिक विलम्ब होता था तो उस को दरगुज़र करना या न करना सूबेदार की इच्छा पर निर्भर होता था[2]। यदि सूबेदार की कृपा हुई तो कितने ही परगनों का पूरा मतालबा भी बाक़ी रह सकता था। यही कारण था कि प्रत्येक राजपूत नरेश

[1] इस विषय में मि० सी० यू० विल्स, सी० आई० ई०, आई० सी० एस० ने जयपुर राज्य के पुराने कागज़ात देख कर एक रिपोर्ट लिखी है, जिस का संक्षेप देहली के "हिंदुस्तान टाइम्स" में प्रकाशित हो चुका है; और इस विषय की अधिक जांच के लिए जयपुर राज्य ने एक कमीशन भी नियुक्त किया है, जिस के प्रधान स्वयं मि० विल्स हैं।

[2] इस विषय में लेखक ने अजमेर के सूबेदार के लिखे हुए तथा, कोटा राज्य की ओर से उस को लिखे हुए कई पत्र देखे हैं।

अपने सूबेदार को प्रसन्न रखने का सदैव प्रयत्न किया करते थे जब कभी सूबेदार किसी रियासत में हो कर गुजरता था या राजधानी में आता था तो राजपूत नरेश उस के आतिथ्य में अपनी सारी शक्ति लगा दिया करता था। कुछ दूर तक आगे बढ़ कर सूबेदार का स्वागत किया जाता था। अच्छे सुंदर स्थान में उसे ठहराया जाता था और पुष्कल भेंट द्वारा उस को, उस के साथियों को तथा उस के नौकर-चाकरों तक को भी संतुष्ट किया जाता था। ऐसे अवसर पर सूबेदार के साथ प्राय ४०० या ५०० आदमी और कितने ही हाथी-घोड़े हुआ करते थे। बेगमें, शाहज़ादियाँ, बच्चे आदि भी साथ आया करते थे। राजा लोग इन सब का सत्कार करते थे और सब को यथोचित भेंट दिया करते थे। मध्यम श्रेणी के राजा को ऐसे अवसर पर प्राय: १५ या २० हजार रुपये खर्च कर देने पड़ते थे। इस से अनुमान किया जा सकता है कि जब मुग़ल सम्राट् किसी राजा की हद में हो कर गुज़रता होगा तो राजा को कितना खर्च करना पड़ता होगा, परंतु इस प्रकार का खर्च निष्फल नहीं था। जो कुछ खर्च किया जाता था, उस का लाभ भी राजाओं को मिल जाया करता था। संतुष्ट सूबेदार किसी राजा के लिए क्या नहीं कर सकता था? उस से संबंध रखने वाले परगनों का एक दो साल के लिए बाक़ी रख देना, उस के लिए साधारण बात थी। कभी-कभी ऐसे मतालबे की पूरी या आधी माफ़ी भी दिलवा दी जाती थी। जो मतालबा एक साल बाक़ी रह जाता था वह दूसरे साल जमा किया जाता था। जो राजा पिछला और वर्तमान मतालबा एकदम जमा नहीं कर सकता था उस से सूबेदार की सिफ़ारिश पर किस्तें कर ली जाती थीं। जो राजा बादशाह के साथ लड़ाई में होता था या जिस की बादशाह तक पहुँच हुआ करती थी, वह बादशाह से या अन्य उच्चाधिकारियों से बातचीत कर के गुज़िश्ता मतालबे की किस्तें करवा लिया करता था। मतालबा अधिकांश अशर्फियों के रूप में जमा किया जाता था। लेकिन कभी-कभी रुपये भी जमा किए जाते थे।

किसी राजा के अधीन परगनों का संबंध मुगल सम्राट् से टूटता नहीं था। बादशाह जिस बात में चाहे हस्तक्षेप कर सकता था। प्रबंध की सुव्यवस्था न होने के कारण हस्तक्षेप का अवसर कम उपस्थित हुआ करता था, लेकिन फिर भी सम्राट् की

शक्ति पर वास्तव में किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं था। जजिया कर सम्राट् के कर्मचारी ही वसूल किया करते थे। इस विषय में न राजाओं पर भरोसा किया जाता था और न इन के अधीन परगनों की रकम उन से वसूल कर के फिर उन को यह रकम अपनी रियाया से वसूल करने का अधिकार दिया जाता था। मुगल सम्राट् के कर्मचारी सीधे परगनों में पहुँचते थे और सख्ती के साथ जजिया वसूल करते थे। यह स्मरण रखना चाहिए कि अकबर, जहांगीर तथा शाहजहां के शासनकाल में यह कर नहीं लिया जाता था। इस को औरंगजेब ने पुनः जारी किया था। सम्राट् के कर्मचारियों की सख्ती की शिकायत उत्पीड़ित प्रजा हिंदू शासकों से प्रायः किया करती थी, परन्तु राजपूत नरेश क्या करते? उन को सब कुछ सहन करना पड़ता था। औरंग-जेब ने अन्यत्र ही नहीं किन्तु राजपूताने तक में नए मंदिरों का निर्माण बंद करवा दिया था। इधर-उधर एकान्त स्थानों में छोटे-मोटे मंदिर या छतरियां लोग बनवा लिया करते थे, परन्तु इस बात की निरंतर चिंता रहती थी कि बादशाह को पता न लग जावे।

एक बार दक्षिण जाते हुए सम्राट् औरंगजेब एक राजपूत राजा के राज्य में हो कर गुज़रने वाला था। जब यह खबर वहाँ के पुजारियों ने सुनी तो तहलका मच गया। औरंगज़ेब जब दौरा करता था या युद्ध के लिए कूच करता था तो उस के मार्ग में जितने मंदिर आते थे, सब को तुड़वा दिया करता था। कभी-कभी इतनी रिआयत की जाती थी कि मंदिर तो नहीं तुड़वाये जाते थे लेकिन केवल प्रतिमाओं को तोड़ दिया जाता था। इस लिए पुजारियों ने एकत्र हो कर अपने राजा से रक्षा के निमित्त प्रार्थना की। राजा ने यह आदेश किया कि जिस मार्ग में बादशाह के गुज़रने की संभावना हो, उधर के सब मंदिरों की प्रतिमाओं को मंदिर में से निकाल कर इधर-उधर जंगलों में छिपा दिया जावे और शंख या घंटे की ध्वनि से बादशाह के क्रोध को उत्तेजित न किया जावे। जिन स्थानों पर बादशाह रात में ठहरा करता था या जिस स्थान पर राजा उस का स्वागत करता था, वहां पर स्मारक के लिए छतरियाँ बना दी जाती थीं जिन की नीव में रुपये और अशर्फ़ियाँ डाली जाती थीं।

अपने अधीन परगनों में निवास करने वाली मुसल्मान जनता का हिंदू राजाओं को विशेष लिहाज़ रखना पड़ता था। सम्राट् की तरफ़ से राजाओं की

राजधानियों और उनके इलाक़े के अन्य छोटे-छोटे क़स्बों में शहर काजी नामक एक मुसलमान कर्मचारी सम्राट् की ओर से नियुक्त किया जाता था। शहर काज़ी को कुछ जमीन माफ़ी में मिलती थी और कुछ सालाना वेतन भी मिलता था। राजाओं को शहर काज़ी का यथोचित सम्मान करना पड़ता था। मुसलमान जनता शहर काजी को अपना नेता और हितरक्षक मानती थी। मुहर्रम, ईद आदि मुसलिम त्योहार इसी के नेतृत्व में मनाए जाते थे। विशेष अवसरों पर मुसलमान लोग शहर काजी की नज़र करते थे। यह कर्मचारी हिंदू राजाओं का मातहत नहीं माना जाता था। क़ब्रिस्तान, मसजिदें, दरगाह आदि स्थानों की रक्षा करना भी इसका काम था। हिंदू राजाओं को विवश-रूप से मुसलमान-धर्म के प्रति सम्मान प्रकट करना पड़ता था। ईद और मुहर्रम के त्योहारों पर हाथी, घोड़े तथा सेना शोभा के लिए मुसल्मानों के जुलूसों में भेजे जाते थे। मसजिद बनवाने के लिए फ़ौरन स्थान देना पड़ता था। मुसलमानों के मुक़दमे क़ुरान के क़ानून के अनुसार फ़ैसल किए जाते थे और शहर काजी की सम्मति उन में मुख्य मानी जाती थी।

प्रत्येक राजा सम्राट् की सेना में मनसबदार हुआ करता था। किसी का मनसब बड़ा होता था और किसी का छोटा। महाराणा प्रतापसिंह ने तो अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं की थी, परंतु उनके अतिरिक्त सब हिंदू राजा मुग़ल सेना में मनसब-दार थे। आमेर के राजा तो बाबर के समय में ही मुग़लों का आधिपत्य स्वीकार कर चुके थे और राजा बिहारीमल को हुमायूँ के राज्य में पचहज़ारी मनसब मिल चुका था। अकबर के समय में मनसबों की व्यवस्थित-रूप से दर्जाबंदी की गई थी। उस समय आमेर, जोधपुर, बीकानेर, बूंदी, जैसलमेर, किशनगढ़ आदि सब नरेश मनसबदार थे। जहाँगीर के समय में उदयपुर-नरेश ने भी मनसब स्वीकार कर लिया था। मनसब १० घोड़ों से १०,००० घोड़ों तक का होता था। किसी हिंदू राजा को प्राय ५,००० से ऊपर का मनसब नहीं मिला करता था, लेकिन अकबर के बाद यह नियम शिथिल होने लग गया था। औरंगज़ेब के बाद मनसब का महत्व बहुत घट गया था और मध्यम श्रेणी के राजाओं को भी 'हफ़्तहज़ारी' का मनसब मिल जाया करता था। प्राय जितने का मनसब होता था उतने ही घोड़े राजाओं के पास नहीं हुआ करते थे। पंचहज़ारी मनसब के साथ यदि २००० भी घोड़े हुए

तो काफी समझ जाते थे अकबर के जमाने म निरीक्षण कडा था परतु तो भी नियम का पालन सर्वांश में नही हुआ करता था। गिनती करने वाले कर्मचारियो को तथा अन्य अधिकारियों को घूस देने पर काम चल जाया करता था। अकबर के पश्चात् यह शैथिल्य अधिकाधिक बढने लगा, और औरगज़ेब की मृत्यु के बाद तो यह पराकाष्ठा पर पहुँच गया। कई राजाओ के पास घोडो की सख्या ही कम नही होती थी, परतु उन की उँचाई, लबाई तथा नसल भी नियम के विपरीत हुआ करती थी। इस प्रकार की सब गडबड रिश्वत और खुशामद के कारण निभ सकती थी। राजाओ के लड़के भी मुगल सेना मे मनसबदार हुआ करते थे। इन का मनसब अपने पिता के मनसब से सदैव छोटा हुआ करता था और इन के घोडे भी नियत संख्या से कम हुआ करते थे।

राजाओ को अधिकतर सम्राट् की नौकरी मे रहना पडता था। जब घर आते थे तो छुट्टी माँग कर आना पडता था। नौकरी मे किसी प्रकार की कमी होने की हालत मे जागीर छिन जाने का भय रहता था। युद्ध मे कायरपन या सम्राट् के प्रति भक्ति-शैथिल्य प्रकट होने पर दड दिया जाता था। यदि सम्राट् एक राजा को दूसरे राजा के प्रति लड़ने का हुक्म देता था तो उसे मानना पड़ता था। कभी-कभी सम्राट् की अनुमति के बिना भी दो या अधिक राजाओ के बीच युद्ध हो जाया करता था। जिस राजा से बादशाह विशेष प्रसन्न होता था उस का खिलअत और हाथी-घोडो द्वारा सम्मान किया जाता था। नौबत या नक्कारे का इनाम भी बड़ा सम्मानसूचक माना जाता था। जिस राजा को इस प्रकार सम्मानित किया जाता था, वह बडी खुशी मनाता था और बादशाह के नौकरों को इनाम देने मे हजारो रुपये खर्च कर दिया करता था।

राजाओ को विशेष सम्मानसूचक शब्दो द्वारा सबोधित नही किया जाता था। शाही फ़रमानो मे राय सुर्जन हाडा, कर्णसिंह कछवाहा, अमरसिंह राठौड इस प्रकार लिखा जाता था। किसी-किसी राजा को विशेष वीरता या स्वामिभक्ति के प्रदर्शन के उपलक्ष्य मे उपाधि दी जाती थी, जैसे बूँदी के राव रतन को सर बुलदराय और आमेर के राजा जयसिंह को मिर्जा राजा का खिताब था। 'तुज़ुके-जहाँगीरी' आदि आत्मचरित्रो मे मुगल सम्राटो ने आमेर और जोधपुर आदि के नरेशों का भी उल्लेख

सम्मान-पूवक नहीं किया ह जहाँगीर न मानसिह की बडी प्रशसा की है परतु साथ ही उनको केवल राजा मानसिह कहा है। कई स्थानो पर ऐसा लिखा हुआ है कि अमुक राजा हाजिर आया, अमुक राजा ने चरण-चुम्बन का सौभाग्य प्राप्त किया, अमुक राजा ने दरगाह मे अर्ज की।

राजपूतो का आतरिक शासन पूर्ण-रूपेण मुग़लो का अनुकरण था। यह सैनिक शासन था, जिस मे अपने गौरव की रक्षा का और अपनी जागीर को बनाए रखने का सर्वाधिक ध्यान था। जैसे राजा लोग मुग़लो के जागीरदार थे, उसी भाति अनेक राजपूत सामत राजाओ के जागीरदार थे। इन लोगो को अपनी जागीर के बदले में घोडो की नियत संख्या के साथ राजा की नौकरी करनी पड़ती थी। ऐसे जागीरदारो के घोडो से राजा लोग अपने मनसब के घोडो की सख्या पुरी किया करते थे। त्यौहारो मे, दरबारो मे, जुलूसो मे और शिकार मे भी हिंदू राजा यथाशक्ति मुग़लों की नक़ल किया करते थे। राजपूतो के शासन-विभागो की व्यवस्था मे भी मुग़ल-सस्कृति की छाप थी। महकमा खास, बख्शीखाना, फौज बख़्शी, हाकिम माल, फ़ीलख़ाना, शुतुरखाना, महल आदि शब्दो मे मुगलो का प्रभाव स्पष्ट प्रकट होता है। भूमिविभाग और कर-निर्णय राजपूताने मे मुग़लों ही का था। यही कारण था कि प्रत्येक परगने का शाही मताल्बा शाही अफसर नियत करते थे।

राजपूताने के सामाजिक जीवन पर भी मुग़ल शासन का गहरा प्रभाव पडा था। राजपूत नरेशो की और राजपूत सैनिको की पोशाक मुगलों से बहुत मिलती-जुलती थी। हाथी, चीते आदि जगली जानवरो की लडाइयाँ देखना संभवत राजपूतो ने मुगलो से ही सीखा था। दरबारी शिष्टाचार सर्वाशरूपेण मुग़ल दरबार का अनुकरण था। आमेर के महलो मे दीवाने-आम और दीवाने-खास की इमारते इस समय भी इस प्रवृत्ति का स्मरण दिलाती हैं। हिंदुओ मे विवाह के अवसर पर जो दूल्हे के साथ उपचार किए जाते है, उन मे अधिकांश मुग़ल सस्कृति का आभास है। सपूर्ण राजपूत रियासतो में उर्दू और फारसी प्रबध-विषयक भाषा बन गई थी। सस्कृत को भुला नही दिया था परंतु अधिकतर व्यवहार उर्दू भाषा का होता था। उदयपुर के महाराणाओ ने मुग़लों की शक्ति का प्राणपण से विरोध किया था और

किसी हद तक उन को सफलता भी प्राप्त हुई थी परंतु मुगल संस्कृति के प्रवेश को वे भी नही रोक सके थ

राजपूताने मे मुग़लो का शासन व्यावहारिक रूप से लगभग १७५ वर्ष तक रहा। मुग़ल इस प्रदेश को अपना सूबा ही मानते रहे और हिंदू नरेशो को अपना जागीरदार समझते रहे। उधर राजपूत नरेश येनकेनप्रकारेण अपने परंपरागत राज्यों की रक्षा करते रहे। मुग़लों की शक्ति काल-चक्र के प्रवाह मे लुप्त हो गई और हिंदू नरेशो को पुन. स्वाधीनता-प्राप्ति के स्वप्न दिखाई देने लगे। नही कहा जा सकता कि मराठो के उदय के बिना मुगल साम्राज्य कब तक टिकता और यदि अन्य कारणो से मुग़लो की शक्ति क्षीण हो जाती और मराठो का उदय न होता तो राजपूत रियासतो का वर्तमान स्वरूप क्या होता। ऐतिहासिक दृष्टि से कहा जा सकता है कि वर्तमान राजपूत राज्य मुग़लो की शक्ति और संस्कृति के सजीव स्मारक है।

---

# कालिदास के ग्रंथों में वर्णित भारतीय शासनपद्धति

[ लेखक—श्रीयुत भगवत शरण उपाध्याय, एम्० ए० ]

कालिदास के ग्रथो की राजनीति ने राष्ट्र को सात भागो मे विभक्त किया है, और इन को आधुनिक राजनीति-विशारदो की भाँति 'अग'[1] की सज्ञा प्रदान की है। इस सज्ञा का एक विशेष अर्थ है । आधुनिक राजनीति-तत्वज्ञ राष्ट्र को चेतन कहते है जिस के एक-एक अंग का विकास चेतनाग के विकास-सा हुआ मानते है। हिंदू राजनीति-पंडितो ने भी इसी प्रकार इन अगो को चेतन घोषित किया है। इन 'सप्तागो' की विशद व्याख्या कालिदास ने तो नही की है, परंतु अन्य राजनीति के ग्रथों मे इन का पूर्ण विवेचन हुआ है। 'अमरकोश' के आधार पर, जिस का काल श्री कालिदास से बहुत दूर नही है, सप्तागो के निम्न-लिखित नाम गिनाए जा सकते है —

**राष्ट्र**

( १ ) राजा अथवा 'स्वामी'।
( २ ) अमात्य।
( ३ ) सुहृत् ( राजनैतिक )।
( ४ ) कोश ( राजकीय )।
( ५ ) जाति ( अथवा राष्ट्र )।
( ६ ) दुर्ग, और
( ७ ) सैन्य।[2]

---

[1] सप्तस्वंगेषु
रघुवंश, १।६०

[2] स्वाम्यामात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च । सप्तांगानि
अमरकोश

राष्ट्र के इन सप्तांगों में राजा ही मुख्य और सर्व-प्रथम आता है। वह राष्ट्र-वृत्त का ज्वलंत केंद्र है। वैदिक काल के राजा के अधिकार कालिदास के समय के राजा के अधिकारो से बहुत भिन्न थे। वैदिक काल मे राजा आधुनिक राष्ट्रपति-सा था और उस के बनाने और बिगाड़ने मे जनसाधारण का बडा हाथ था। उस के वरण मे जनसत्ता की स्वेच्छा प्रचुर मात्रा मे उपस्थित थी परतु कालिदास के समय मे यह सस्था न केवल एक कुल-परपरा हो गई थी, वरन् राजा पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि भी समझा जाने लगा था। 'मनुस्मृति' का अनुकरण करने वाले[1] कालिदास ने भी राजा को एक विशेष प्रकार के व्यक्तित्व और शक्ति से पूरित माना है। उन के विचार मे राजा 'संपूर्ण स्थिति का सार', 'सारे तेज का स्वरूप' है। वही 'सर्वोन्नत' पृथ्वी को आक्रान्त कर उस पर स्थित है।[2] जब दिलीप की रानी सुदक्षिणा गर्भ धारण करती है तो सारे लोकपाल उस के शरीर मे प्रवेश करते है।[3] इस

**राजा**

---

[1] अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ।।
इंद्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चंद्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ।।
यस्मादेषां सुरेंद्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ।।
तपत्यादित्यवच्चैव चक्षूंषि च मनांसि च ।
न चैनं भुविशक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ।।
सोऽग्निर्भवतिवायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुबेरः स वरुणः स महेंद्रः प्रभावतः ।।
बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ।।

मनुस्मृतिः, ७।३-८

[2] सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजाभिभाविना ।
स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वी क्रांत्वा मेरुमिवात्मना ।।

रघुवंश, १।१४

[3] अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरात्रेरिव द्यौः ।
सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यातमैशम् ।।
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्तराज्ञी ।
गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावः ।।

रघुवंश, २।७५

प्रकार कालिदास और मनुस्मृति के विचारानुसार राजा अपना राष्ट्र दैवी अधिकार से स्वायत्त करता है। उस के नाम के विशेषण भी कुछ दैवी ही ध्वनि से संपन्न हैं। उदाहरणार्थ अग्निमित्र की संज्ञा—भगवान् विदिशेश्वर[1]—प्रस्तुत की जा सकती है।

राजसत्ता के विभूति-चिन्हो का कालिदास ने इस प्रकार उल्लेख किया है :—

( १ ) राजकीय स्वर्णवितान;

( २ ) चवँर[2] तथा चँवरधारी राजभृत्य ( चामराणी );

( ३ ) राजदंड,

( ४ ) किरीट ।

'नृपतिककुद'[3] की संज्ञा उस राजा की थी जो अनेक राजाओं का अधिराज था। उस के प्रस्थान के समय बहुत से पार्श्ववर्ती अधिकृत राजागण[4] उस का अनुकरण करते थे। इस प्रकार अधिकृत राजाओं का सामंत-रूप में सम्राट् के राजद्वार (दरबार) पर उपस्थित रहना कालिदास के समय का एक मुख्य दृश्य था, जैसा इस महाकवि के कई वर्णनो से ज्ञात होता है। राजाधिराजत्व के लक्षण का ज्ञान राजा की एकांत प्रभुता[5] से होता था जिस के निम्न-लिखित चिह्न कालिदास ने अपने ग्रंथो में व्यक्त किए हैं :—

( १ ) एक छत्र।

( २ ) शासनांक जो सामंत राजाओं की चूडामणियों से चमत्कृत हो उठते थे।[6] सामंत-पद का पदार्थ है सीमांत प्रदेश का राजा, वह राजा जो एक ग्रामसमूह का स्वामी है। सामंत राजा नृपतिककुद—सम्राट्-सत्ता—की अध्यक्षता में राज करते थे।

---

[1] मालविकाग्निमित्र, ४

[2] विद्युल्लेखाकनकरुचिरं श्रीवितानं ममाभ्रम् ।
व्याधूयन्ते निचुलतरुभिर्मञ्जरी चामराणि ॥
धर्मच्छेदात्पटुतरगिरो बन्दिनो नीलकण्ठा ।
धारासारोपनयनपरा नैगमाः सानुमन्तः ॥
विक्रमोर्वशीयम्, ४।४

[3] रघुवंश ३।७०

[4] सामन्तमौलिमणिरञ्जितशासनांक-
मेकातपत्रमवनेर्न तथा प्रभुत्वम् ॥
विक्रमोर्वशीयम्, ३।१९

[5] विक्रमोर्वशीयम्, ३।१९

[6] वही ।

राष्ट्रधारी राजा स्वेच्छाचारी और सुखी नहीं था वरन् राजधर्म का कष्टसाध्य भार अपने मस्तक पर वहन करता था। हिंदू राजपद्धति पर सर्वप्रथम लिखने वाले श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने लिखा है कि—"राजन् पद और उस के मूल शब्द राट् का शाब्दिक अर्थ है शासक। इस का संबंध लैटिन भाषा के 'रेगस' शब्द से है। परंतु हिंदू राजनीति-विशारदों ने इसे आध्यात्मिक रूप दे दिया है। नृपति की संज्ञा 'राजा' है क्योंकि उस का कर्तव्य सुंदर शासन की स्थापना कर प्रजा का 'रंजन करना' है। यह आध्यात्मिक व्याख्या संस्कृत साहित्य भर में स्वयंसिद्ध सिद्धांत की भांति स्वीकृत हो गई है।"[1] कालिदास भी राजा की यही परिभाषा करते हैं—राजा प्रजा को प्रसन्न करने से होता है।[2] उसी पारिभाषिक अर्थ में राजा रघुरूप का वर्णन महाकवि ने किया है। वह राजा अपनी प्रजा को प्रसन्न करने में, उन के हृदय विजय करने या प्रजारंजन में पूर्ण कुशल या लब्धवर्ण[3] है। सो 'प्रजारंजन' राजा का तत्त्वरूप सर्वप्रथम और मुख्य धर्म था। राष्ट्रारोहण के उत्तर में उस का मुख्य कर्तव्य—राजधर्म का प्राणस्वरूप—यह प्रजारंजन कर्म था जिस के संपादन में ही राजा की संज्ञा सार्थक होती थी।

इस असाधारण कार्य के लिए राजा को अपने भीतर उचित शक्ति भरनी पड़ती थी। इस के संपादन के निमित्त राजा को अपने कर्तव्य के अनेक अवयवों का पूर्ण ज्ञान और मनन नितांत आवश्यक था। इस कर्तव्य-ज्ञान के निमित्त शास्त्रों में 'अकुंठिता बुद्धि'[4] की अनिवार्य आवश्यकता समझी जाती थी। इस अकुंठिता बुद्धि का फल था एक उचित, विवेकपूर्ण और सत्य दृष्टिकोण। यह बुद्धि स्वेच्छाचारिणी अप्रतिहता न थी वरन् दिन

---

[1] काशीप्रसाद जायसवाल, 'हिंदू पॉलिटी', भाग २, पृष्ठ ३

[2] रघुवंश, ४।१२

देखो—राजाप्रजारञ्जनलब्धवर्णः।

रघुवंश, ६।२१

स्कंदगुप्त विक्रमादित्य के जूनागढ़ वाले शिलालेख के बाईसवें श्लोक में एक ऐसी ही इंगित है—संरञ्जयाञ्चप्रकृतिर्बभूव। मौर्य सम्राट् श्री अशोकवर्द्धन ने अपने नाम के साथ 'प्रियदर्शी' (अर्थात् कल्याण चाहने वाला) पद जोड़ लिया था।

[3] रघुवंश, ६।२१

[4] शास्त्रेष्वकुण्ठिताबुद्धिः।

रघुवंश, १।१९

रात के निरतर अभ्यास का थी शास्त्राथ म बुद्धि यदि अकुण्ठिता न होती तो राजा व्यवहार के प्रयोग मे सिद्धहस्त क्योकर होता ? उसे तो निरतर शास्त्रो के प्रमाण से समुख विषय का स्पष्टीकरण करना था; शास्त्रीय व्यवहार की तुला पर अभियोग को तौल कर उस का उचित विधान करना था। इसी कारण असाधारण व्यक्ति समझा जा कर भी राजा साधारण द्विज के चारों आश्रमो के यत्रण से मुक्त नही था। राज्य के उत्तराधिकारी के लिए ब्रह्मचर्याश्रम का आचरण, जिस में शासनपद्धति के व्यावहारिक और आध्यात्मिक रहस्य का स्पष्टीकरण किया जाता था, अनिवार्य था। साधारण नागरिक के आचरण की भाँति राजा के जीवन का भाग भी कालिदास उन्ही साधारण चार आश्रमो मे इस प्रकार करते हैं :—

**शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।**
**वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ।।**[1]

अतएव राजवृत्ति के पूर्ण सपादन के अर्थ राजा का प्रथम कर्तव्य अपने कर्तव्य के रूप को सर्वांग मे समझना था, जो शास्त्रचितन मात्र से सभव था।

'अभिज्ञानशाकुतल' में एक स्थलपर शाङर्गरव ने दुष्यत के प्रति व्यंग-पूर्ण आक्षेप किया है। वह कहता है कि "आश्चर्य ! जो व्यक्ति जन्म से ही 'शाठ्य' में 'अशिक्षित' है उस के 'वचन' 'अप्रमाणित' किए जाते है और जिन्हो ने औरो को धोका देना 'विद्या' की भॉति सीखा है उन के वचन प्रमाणित समझे जाते है।"[2] इस उक्ति से यह सिद्ध होता है कि अन्य विद्याओ के साथ-साथ भावी राजा को राजनीति का वह अग भी जिसे जनसाधारण की भाषा मे कूटनीति कहते है और जिसे कालिदास ने 'परातिसंधान' कहा है, कला की भॉति सीखना पडता था। राजा के अध्ययन की अनुक्रमणी मे कूटनीति का होना स्वाभाविक ही था क्योकि उस राजा का मित्र जिस की राज्यसीमाएँ 'प्रकृत्य-

---

[1] रघुवंश, १।८

[2] आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितो य-
स्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य ।
परातिसंधानमधीयते यै-
र्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः ।।
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५।२५

मित्रो'[१] द्वारा सर्वत घिरी हुई थी एक मात्र शाठ्य था , उसे बहुधा कूटनीति के चारो अग—साम, दाम, दड और भेद[२]—की सहायता की आवश्यकता होती थी। किसी 'नृपतिककुद' के मरणातर प्राय एक 'अरिमडल' की स्थापना कर अमित्रराष्ट्र नवराजारोही के राज्य को हस्तगत करने की चेष्टा करते थे, जब तक कि उन की चेष्टा नए राष्ट्रपति द्वारा 'आक्रांत' नही कर दी जाती थी।[३] स्वाभाविक शत्रु (प्रकृत्यमित्र) परस्पर वे होते थे जिन के राज्य की सीमाएँ एक दूसरे से मिली होती थी । ये कभी-कभी किसी अन्य प्रभावशाली राजा के विरुद्ध अपना गुट्ट तैयार कर, सुअवसर की प्रतीक्षा मे बैठे रहते थे। जब तक वह प्रभावशाली राजा जीवित रहता था, उन को अपने कुचक्र के प्रयोग मे भय होता था, पर उस की मृत्यु के उपरात उस के राज्य को शिकार की भॉति हडप जाने के लिए[४] वे टूट पडते थे।

राजा के अभिषेक की भॉति ही कुमार (उत्तराधिकारी) का युवराज-पद के निमित्त अभिषेक होता था। जिस प्रकार राजा के अभिषेक के लिए 'राज्याभिषेक' पद

युवराज का अभिषेक

का प्रयोग होता है, वैसे ही युवराज के तिलक के लिए भी कालिदास ने 'यौवराज्याभिषेक'[५] पद का प्रयोग किया है। युवराज का पद केवल कपोलकल्पित नही था, वरन् इस के साथ प्रचुर भार था, जिस का प्रदान यथार्थ सस्कार-सपादन एव धार्मिक क्रियाओ[६] के साथ किया जाता था और

---

[१] प्रकृत्यमित्रप्रतिकूलकारी च मे विदर्भः।
मालविकाग्निमित्रम्, १

[२] इति क्रमात्प्रयुञ्जानो राजनीतिं चतुर्विधाम्।
आतीर्थादप्रतीघातं स तस्याः फलमानशे।।
रघुवंश, १७।६८

[३] सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना।
तेन सिंहासनं पित्र्यमखिलं चारिमण्डलम्।।
रघुवंश ४।४

[४] विप्रोषितकुमारं तद्राज्यमस्तमितेश्वरम्।
रन्ध्रान्वेषणदक्षाणां द्विषामामिषतां ययौ।।
रघुवंश, १२।११

[५] उपनीयतां स्वयं महेन्द्रेण सम्भृतः कुमारस्यायुषो यौवराज्याभिषेकः।
विक्रमोर्वशीयम्, ५

[६] विक्रमोर्वशीयम्, ३ और ५

युवराज तदनतर राष्ट्र का एक बडा उच्चपदस्थ कर्मचारी समझा जाने लगता था। अभिषेक सस्कार के उपरात युवराज की एक कानूनी सत्ता हो जाती थी। युवराज के पद से राजा का पद केवल एक पग रह जाता था, जिस की प्राप्ति फिर अभिषेचन सस्कार की क्रिया-सपादन के अनतर ही होनी सभव थी। यह ख्याल देने की बात है कि जब तक युवराज की कानूनी सत्ता यथोचित अभिषेक-सस्कार द्वारा प्राप्त नही होती थी वह युवराज न कहला कर 'कुमार'[1] मात्र कहलाता था। यद्यपि राज्य का उत्तराधिकारी वही कुमार होता था, परतु उस की संज्ञा 'युवराज' केवल 'राजकुमारत्व' पर ही नही वरन् यथोचित अभिषेचन सस्कार पर निर्भर थी। उत्तराधिकारी और युवराज मे व्यावहारिक अंतर है, दोनो को एक समझना बडी भूल है। उत्तराधिकारी युवराज होने मे प्रथम ज्येष्ठतम राजकुमार की सज्ञा है और युवराज राजा का प्रतिनिधि है। युवराज की कुमार सज्ञा तब तक बनी रहती है जब तक कि यौवराज्याभिषेक की अतिम क्रिया समाप्त नही हो जाती, परन्तु ज्योही अतिम क्रिया समाप्त हो जाती थी, उसे कुमार न कह कर 'युवराज'[2] की सज्ञा से उस का सबोधन किया जाता था। यौवराज्याभिषेक का उदाहरण 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के पचम अक से प्राप्त होता है जहॉ राजा पुरूरवस् के पुत्र अयुस् का यौवराजत्व के निमित्त सस्कार हुआ है। वहॉ नारद अयुस् के सस्कार के लिए अप्सराओ से अभिषेचन सामग्री मॉगते है। सामग्री (अभिषेक सभारा) लाई जाती है और कुमार एक भद्रासन (भद्रपीठ) पर बैठाए जाते है। तब नारद स्वय इस सस्कार की सब से आवश्यक क्रिया, जल द्वारा अभिषेचन, करते है, जो कार्य सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण द्वारा किया जाता था। 'शेष विधि' इतर साधारण व्यक्ति भी कर सकते थे। तदनतर युवराज अपने मातापिता को 'प्रणाम' करता था। तब उसे युवराज की सज्ञा (विजयता युवराज) से सबोधित करते हुए विरद पढित चारण लोग उस के पूर्वजो की आशीर्वादात्मक प्रशस्ति गाते थे जिस का उदाहरण 'विक्रमोर्वशीय' मे इस प्रकार आया है :—

"जिस प्रकार अमरमुनि अत्रि ब्रह्मा की भॉति, चद्रमा अत्रि की भॉति, बुध

---

[1] **विक्रमोर्वशीयम्**, ५

[2] **विजयतां युवराजः; पुनः—युवराजश्रियाः वही, १**

चद्रमा की भाति और महाराज बुध की भाँति हैं उसी प्रकार अपने गुणो से तुम भी अपने पिता के सदृश होओ। तुम्हारे उन्नत वंश में सारे आशीर्वचन सत्य सिद्ध हुए है।"[१]

"हिमालय और सागर मे विभक्त गगाजल की भाँति बडो के चूडामणि तुम्हारे पिता और कर्तव्यशील और धैर्यवान तुम्हारे बीच विभक्ता राजलक्ष्मी और भी सुदर ज्ञात होती है।"[२]

इस प्रकार युवराज की प्रशसा उस के कर्तव्य-पालन के लिए, उस के प्रजारजन-धर्म के लिए, की जाती थी। अन्त से उसे राजा होना था; जिस का कर्तव्य प्रजा को प्रसन्न करना था। इस हेतु इस का अभ्यास वह अभी से क्यो न करे? उस को अपनी प्रजा पर स्नेहपूर्वक शासन कर के उन का प्रेम अर्जन करना था। प्रजारजन राजा का सर्वोच्च धर्म समझा जाता था। उस से यह आशा की जाती थी कि वह सामाजिक मर्यादा (स्थितिमति)[३] भग न करे, कर्तव्य की सीमा का अनुचित रूप मे उल्लघन न करे। कम से कम इतने की उस से प्रजा आशा करती थी। अब इस अवस्था मे आकर युवराज राज्य-भार पिता के साथ वहन करता था—मानो राजलक्ष्मी उस मे और उस के पिता मे बँट जाती थी—(विभक्ता.. अधिकतरमिदानी राजते राजलक्ष्मी) और तभी राजा की 'राज्यश्री' की भाँति वह 'यौवराज्यश्री'[४] धारण करता था।

---

[१] अमरमुनिरिवात्रिर्ब्रह्मणोऽत्रेरिवेन्दु-
बुॅध इव शिशिरांशोर्बोधिनस्येव देवः।
भव पितुरनुरूपस्त्वं गुणैर्लोककान्तै-
रतिशयिनि समाप्ता वंश एवाशिषस्ते॥
विक्रमोर्वशीयम्, ५।२१

[२] तव पितरि पुरस्तादुन्नतानां स्थितेऽस्मि-
न्स्थितिमति च विभक्ता त्वय्यनाकम्प्यधैर्ये।
अधिकतरमिदानीं राजते राजलक्ष्मी-
र्हिमवति जलधौ च व्यस्ततोयेव गंगा॥
वही, २२

[३] देखो रघुवंश, ३।२७ में 'स्थितेरभेत्ता'।

[४] आयुषो यौवराज्यश्रीः स्मारयत्यात्मजस्य ते।
अभिषिक्तं महासेनं सैनापत्ये मरुत्वता॥
रघुवंश, २३

युवराज अपना राज्याभिषक करा कर राजा बनता था यदि राजा जीवित होता था तो उस की आज्ञा से 'अमात्य-परिषद्' राज्याभिषेक का प्रबंध करता था।[1]

राजा का अभिषेक

जब सारी तैयारी हो चुकती थी तो अभिषेचन सस्कार वृद्ध मन्त्रियों (अमात्यवृद्धा) द्वारा नाना पावन तीर्थों से स्वर्णघटो में लाए गए जल से सपन्न होता था।[2] यह जल गगा जैसी नदियों पूर्वसागर जैसे समुद्रो और मानस जैसे ह्रदो मे लाया जाता था।[3]

साधारणतया ज्येष्ठ राजकुमार जो युवराज सस्कार से दीक्षित हो चुका होता था, अन्य कुमारो से योग्य समझ कर राजा बनाने के लिए चुना जाता था। परन्तु जन्म मात्र ही से ज्येष्ठ कुमार राजत्व का अधिकारी नही हो सकता था और उस के गुण भी ध्यान मे रक्खे जाते थे। जन्म और गुण दोनो मिल कर राजपुत्र को राष्ट्र-रूपी 'रत्नविशेष' को भोगने का अधिकारी बनाते थे।[4]

राज्याभिषेक एव राजसत्ता से राजा नीचे लिखे प्रकार सपन्न किया जाता था —

वृद्ध अमात्यगण शिल्पियो द्वारा एक सुदर चतु स्तंभयुक्त उन्नत वेदी तैयार कराते थे।[5] चारो कोनो पर खड़े स्तभ 'विमान' अथवा मडप को उठाए रखते थे जिस के नीचे ऊँची पवित्र 'वेदी' होती थी। तदनतर भावी राजा को एक भद्रासन (भद्रपीठ) पर बैठा कर 'हेमकुभो' से नाना तीर्थों से भर कर लाए गए जल की धारा उस पर छोडते

---

[1] मद्वचनादमात्यपरिषदं ब्रूहि संभ्रियतामायुषो राज्याभिषेक इति।
विक्रमोर्वशीयम्, ५

[2] अथाभिषेकं रघुवंशकेतोः प्रारब्धमानन्दजलैर्जनन्योः।
निर्वर्तयामासुरमात्यवृद्धास्तीर्थाहृतैः काञ्चनकुम्भतोयैः॥
रघुवंश १४।७

[3] सरित्समुद्रान्सरसीश्च गत्वा रक्षः कपीन्द्रैरुपपादितानि।
तस्यापतन्मूर्ध्नि जलानि जिष्णोर्विन्ध्यस्य मेघप्रभवा इवापः॥
रघुवंश, १४।८

[4] अथेतरे सप्तरघुप्रवीरा ज्येष्ठं पुरो जन्मतया गुणैश्च।
चक्रुः कुशं रत्नविशेषभाजं सौभ्रात्रमेषां हि कुलानुसारि॥
रघुवंश, १६।१

[5] ते तस्य कल्पयामासुरभिषेकाय शिल्पिभिः।
विमानं नवमुद्वेदि चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितम्॥
रघुवंश, १७।९

थे।[१] इसी समय राजद्वार पर बजने वाले वाद्यघोष से सारा स्थल गूँज उठता था[२]। फिर मंत्रियों द्वारा उसे दूर्वा, यवांकुर, प्लक्षत्वग और मधूक[३] जैसी शुभ वस्तुएँ प्राप्त होती थी। तब ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ पुरोहित आशीर्वादात्मक अथर्ववेद के उन मन्त्रों को उच्च स्वर से पढता था, जिन के बल से राजा को अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त हो।[४] मंत्र-पाठ के साथ-साथ जल की धारा छोडी जाती थी। उसी समय चारण गण आ कर राजा के पूर्वजों की प्रशस्ति का पाठ करते थे।[५] तब आचारपूत[६] तेजस्वी राजा स्नातकों[७] को दान देता था। ये दान विवाहित ब्राह्मणों को ही दिए जाते थे जिस से वे इन का उपयोग अपने नित्य होम में कर सकें—ऐसा प्रतीत होता है। इस प्रकार का पुण्य जिस का लाभ राजा को भी हो सके ब्रह्मचारी नही कर सकते थे। ब्रह्मचारी दान भी अपने आप नही ले सकते थे, क्योंकि उन को अपनी सारी भिक्षा और अन्य प्राप्ति गुरु को अर्पण कर देनी पडती थी।

तब राजा बंदियों को मुक्त करने की आज्ञा देता था। सारे बध्य बंदियों के अपराध क्षमा कर उन्हें प्राण-दान देता था। धुरा वहन करने वाले वृषभ और अश्व कुछ दिनों

---

[१] तत्रैनं हेमकुम्भेषु संभृतैस्तीर्थवारिभिः।
उपतस्थुः प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम्॥
रघुवंश, १७।१०

[२] नदद्भिः स्निग्धगम्भीरं तूर्यैराहतपुष्करैः।
अन्वमीयत कल्याणं तस्याविच्छिन्न संतति॥
रघुवंश, १६।११

[३] दूर्वायवांकुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तरान्।
ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान्स भेजे नारीजनाविधीन्।
रघुवंश, १७।१२

[४] पुरोहितपुरोगास्तं जिष्णुं जैत्रैरथर्वभिः।
उपचक्रमिरे पूर्वमभिषेक्तुं द्विजातयः।
रघुवंश, १७।१३

[५] स्तूयमानः क्षणे तस्मिन्नलक्ष्यत स बन्दिभिः।
प्रवृद्ध इव पर्जन्यः सारंगैरभिनन्दितः॥
रघुवंश, १७।१५

[६] रघुवंश, १७।१६

[७] स तावदभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो ददौ वसु।
यावतैषां समाप्येरन्यज्ञाः पर्याप्तदक्षिणाः॥
रघुवंश, १७।१७

तक गाडी और रथ खीचने से वंचित कर दिए जाते थे। गौएँ बछडो के उपकारार्थ[1] बिना दुही छोड़ दी जाती थी। 'पजरस्थ शुक' आदि पक्षी स्वतन्त्रता पूर्वक आचरण करने के निमित्त मुक्त कर दिए जाते थे।[2] इस प्रकार चारो ओर स्वतन्त्रता घोषित कर दी जाती थी।

तदनतर राजा को एक दूसरे कमरे मे ले जा कर पुनीत, स्वच्छ 'गजदतासन' पर बैठाते थे, जहाँ उसे राजाभरणो से विभूषित किया जाता था।[3] फिर उसे 'चदन', 'अगराग, गोरोचन एवं कस्तूरी (मृगनाभि) लगा कर सुरभित करते थे; तब उज्ज्वल राजतिलक लगाते थे।[4] अब वह पुनीत हस आकृति से बुने हुए दुकूल वस्त्र धारण करता था,[5] जिन में मुक्ता गुँथे होते थे। फिर यह 'राजककुद' 'पार्श्ववर्ती' गुरुजनो मे पाए राजचिह्नो को धारण कर 'सभा'[6] में जा कर 'वितान' के नीचे रक्खे पूर्वजो के मणि- मुक्ताखचित स्वर्ण-सिहासन पर बैठता था।[7] सभाभवन सामयिक

---

[1] बन्धच्छेदं स बद्धानां वधार्हाणामवध्यताम् ।
धुर्याणां च धुरो मोक्षमदोहं चादिशद्गवाम् ॥
रघुवंश, १७।१९

[2] क्रीड़ापतत्रिणोऽप्यस्य पञ्जरस्थाः शुकादयः ।
लब्धमोक्षास्तदादेशाद्यथेष्ठगतयोऽ भवत् ॥
रघुवंश, १७।२०

[3] ततः कक्ष्यान्तरन्यस्तं गजदन्तासनं शुचि ।
सोत्तरच्छदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय सः ॥
रघुवंश, १७।२१

[4] चन्दनेनांगरागं च मृगनाभिसुगन्धिना ।
समापय्य ततश्चक्रुः पत्रं विन्यस्तरोचनम् ॥
रघुवंश, १७।२४

[5] आमुक्ताभरणः स्रग्वी हंसचिह्नदुकूलवान् ।
आसीदतिशयप्रेक्ष्यः स राज्यश्रीवधूवरः ॥
रघुवंश, १७।२५

[6] स राजककुदव्यग्रपाणिभिः पार्श्ववर्तिभिः ।
ययावुदीरितालोकः सुधर्मानवमां सभाम् ॥
रघुवंश, १७।२७

वितानसहितं तत्र भेजे पैतृकमासनम् ।
चूडामणिभिरुद्घृष्टपादपीठमहीक्षिताम् ॥
रघुवंश, १७।२८

'ममलायतनों'[1] से सजा होता था

इस प्रकार राज्याभिषेक सस्कार की पूर्ण समाप्ति के पश्चात् जब राजा व्यावहारिक रूप से अपनी सत्ता ग्रहण करता था और राजदड के साथ शासनमूत्र अपने हाथो में धारण करता था तब वह अपनी प्रजा एवं राज्य से परिचय प्राप्त करनेके लिए गजारूढ़ हो कर राजधानी की मुख्य-मुख्य सड़को पर घूम आता था।[2] इस प्रकार वह युवराज के पद से 'अधिराजत्व'[3] पद प्राप्त करता था।

जब राजा साम्राज्य का स्वामी होता था तो वह सम्राट् सज्ञा के लिए दीक्षित होता था।[4] चक्रवर्ती शासक के मरणोपरांत नव राजा की अनुभवहीनता से लाभ उठाने के लिए, पराधीनता का युवा कंधो से फेक देने के लिए, 'अखिल अरिमडल' क्राति कर उठता था। चक्रवर्ती के मरण से उस का आतक हट जाता था और एक प्रकार के 'मात्स्य न्याय' के काल की उत्पत्ति की संभावना हो आती थी। अब नया राजा दिग्विजय के लिए प्रस्थान करता था और इस अरिमंडल को, जिस का हृदय उस की 'प्रतिष्ठा'[5] के समाचार पा कर क्रोधाग्नि से जल उठता था, कुचल देता था। कालिदास के ग्रथो मे राजा का आदर्श एकात प्रभुता वाला एकछत्र[6] चक्रवर्ती सम्राट् है। यह आदर्श हिंदू राजाओ ने

---

[1] शुशुभे तेन चाक्रान्तं मंगलायतनं महत् ।
श्रीवत्सलक्षणं वक्षः कौस्तुभेनेव केशवम् ॥
रघुवंश, १७।२९

[2] सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना ।
तेन सिंहासनं पित्र्यमखिलं चारिमण्डलम् ॥
रघुवंश, ४।४

[3] बभौ भूयः कुमारत्वादाधिराज्यमवाप्य सः ।
रेखाभावादुपारूढः सामग्र्यमिव चन्द्रमाः ॥
रघुवंश, १७।३०

[4] छायामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम् ।
पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम् ॥
रघुवंश, ४।५

[5] दिलीपानन्तरं राज्ये तं निशम्य प्रतिष्ठितम् ।
पूर्वं प्रधूमितो राज्ञां हृदयेऽग्निरिवोत्थितः ॥
रघुवंश, ४।२

[6] एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च ।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥
रघुवंश, २।४७

कई बार हस्तगत किया है। जब राजा यह आदर्श प्राप्त कर लेता था तो उस का रथ अप्रतिहत गति रखता था। अपने समय के हिंदू संसार के विजेता समुद्रगुप्त के प्रयागस्तंभ की प्रशस्ति का 'अप्रतिरथ' पद ही कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुंतल' का 'अप्रतिरथ'[1] है जिस की ध्वनि उन के और पदों—दिगंतविश्रांतरथ[2] और अनाकरथवर्त्मनाम्[3]—से भी प्राप्त होती है। हिंदू राजा द्वारा आसमुद्रांत पृथ्वी शासन करने का आदर्श कई बार प्राप्त किया जा चुका है। प्रयाग-स्तंभ की समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में उस के लिए 'चतुरुदधिसलिलास्वादितयशसः' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। कुमारगुप्त और बंधुवर्मा के मदसोर वाले शिला-लेख के श्लोक—

चतुस्समुद्रान्तविलोलमेखलां सुमेरुकैलासबृहत्पयोधराम् ।
वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनीं कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति ॥२३॥

—की समानान्तरता कालिदास के 'आसमुद्रक्षितीशानाम्' और

स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम् ।
अनन्यशासनामुर्वीं शशासैकपुरीमिव ॥[4]

में पूर्णरूपेण सिद्ध है। ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है कि किस प्रकार कितने ही हिंदू सम्राटों ने आसमुद्रांत पूरी पृथ्वी का एक नगर की भाँति शासन किया जिस पर उन का अविभक्त शासन रहा। इसी प्रकार गुप्त सम्राटों की मुद्राओं पर अंकित 'दिवं जयति' की समता कालिदास के 'अप्रतिरथः वसुधा जयति'[5] से है, जिस से चक्रवर्ती राज्य का अस्तित्व सिद्ध होता है।

---

देखो विक्रमोर्वशीयम्, ३।१९—'एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वम्।'

[1] पुरासप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः ।
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ७।३३

[2] दिवं मरुत्वानिव भोक्ष्यते भुवं दिगन्तविश्रान्तरथो हि तत्सुतः ।
अतोऽभिलाषे प्रथमं तथाविधे मनो बबन्धान्यरसान्विलंघ्य सा ॥
रघुवंश, ३।४

[3] सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥
रघुवंश, १।५

[4] रघुवंश, १।३०

[5] रथेनानुद्घातस्तिमितगतिनातीर्णजलधिः
पुरासप्तद्वीपां जयतिवसुधामप्रतिरथः ।

अत उन्नत लक्ष्य वाले राजा का दिग्विजय के निमित्त प्रस्थान करना स्वाभाविक ही था। दिग्विजयातर ही विख्यात अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया जा सकता था

**दिग्विजय**

जो सदा पराक्रमी राजाओ का लक्ष्य रहता था। दिग्विजय दो प्रकार से किया जाता था। या तो राजा पुष्यमित्र की भाँति अपनी राजधानी मे ही ठहर कर मेधाश्वरक्षक दिग्विजयी युवराज के लौटने की प्रतीक्षा करता था, फिर यज्ञ का अनुष्ठान करता था। अथवा रघुवश के चतुर्थ सर्ग मे वर्णित रघुदिग्विजय की भाँति वह स्वय दिग्विजय के लिए देशदेशातर जाता था।

इस दूसरी अवस्था मे राजा पैदल, हयदल, रथदल और गजदल की चतुरंगिणी सेना साथ ले कर स्वतंत्र राष्ट्रो के विजय के लिए प्रस्थान करता था, और कन्याओ द्वारा दध्यक्षत से समादृत राजा[1] राजधानी से बहिर्गत होता था। इस के पूर्व ही 'मूल' अर्थात् राजधानी और सीमात की रक्षा का प्रबध कर और छ. प्रकार के बल से प्रस्तुत हो कर[2] वह प्रस्थान करता था। कालिदास मे तो नही परतु कोश में छ. प्रकार के बल इस प्रकार गिनाए गए है :—

( १ ) अमात्यवर्ग, ( २ ) भृत्यवर्ग, ( ३ ) राजनैतिक मित्रवर्ग, ( ४ ) श्रेणी बल, ( ५ ) शत्रुओ के अमित्रवर्ग और ( ६ ) आटविक सैन्य।[3]

राजा दिग्विजय के समय विदेशों को विजय करता[4] और विजय के स्मारक स्तभ

---

इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात्सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्यभरणात् ॥
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ७।३३

[1] रघुवंश, ४।२७

[2] स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः ।
षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया ॥
रघुवंश, ४।२६
देखो, 'अन्तपालदुर्गेस भर्त्रा नर्मदातीरे अन्तपालदुर्गे स्थापितः ।'
मालविकाग्निमित्र, १

[3] मौलं भृत्यः सुहृच्छ्रेणी द्विषदाटविकंबलं ।
अमरकोश

[4] पौरस्त्यानेवमाक्रामंस्तांस्ताञ्जनपदाञ्जयी ।
प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः ॥
रघुवंश, ४।३४

खडे करता जाता था।[१] कभी वह अपने शत्रुओ को बलपूर्वक उखाड फेंकता था[२] और कभी जो उसकी अधीनता स्वीकार कर लेते थे उन का राज्य पुन उन्हे लौटा देता था[३]। इस प्रकार विक्रम स्वीकार कर लेने वाले शत्रु को उस का राज्य उसे लौटा कर दया दिखाने वाले को 'धर्मविजयी नृप'[४] कहते थे। ऐसे राजा शत्रु को विजित कर बदी बनाते थे, फिर उसे उस के सिहासन पर पुनरारूढ करा देते थे। इस प्रकार वे विजित राजाओ की राजसत्ता तो हरण कर लेते थे परतु उनकी 'मेदिनी' नही।[५] विजित नृपतिवृद दूसरे शक्तिशाली 'धर्मोत्तर'[६] राजा का आश्रय लेते थे (क्या 'धर्मोत्तर' पद से 'धर्मविजयीनृपति' का बोध हो सकता है ?)। अमित्रराष्ट्रोका पूर्णतया दलन कर 'विश्वविजयी' राजा अपूर्व वैभव और तेज के साथ अपनी राजधानी मे प्रवेश करता था। और अश्वमेध का अनुष्ठान कर अपनी सत्ता सारे ससार पर घोषित करता था।

---

[१] वंगानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान्।
निचखान जयस्तम्भान्गंगास्रोतोन्तरेषु सः॥
रघुवंश, ४।३६

[२] उत्खाय तरसा, अर्थात् बलपूर्वक उन्मूलन करना।
देखो, 'उन्मूल्य'—प्रयागस्तंभ की प्रशस्ति जिस में समुद्रगुप्त ने अपने उन विरोधी शत्रुओ का उन्मूलन कर दिया है जो रघुवंश के 'अनम्रणां समुद्धर्तुः' (४।३५) के समान है।

[३] आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम्।
फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः॥
रघुवंश, ४।३७

'राजग्रहणमोक्षानुग्रह'—समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में रघु की ही भाँति उसे भी धर्मविजयी नृप का आचरण करने वाला कहा गया है क्योकि वह भी अधीनता स्वीकार करने वाले राजाओ को पहले बंदी कर उन्हें मुक्त करता था फिर उन्हें उनके पूर्व स्थान में प्रतिरोपित करके अनुग्रह दिखाता था।

[४] गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः।
श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम्॥
रघुवंश, ४।४३

और, शत्रूनुद्धृत्य प्रतिरोपयन्।
रघुवंश, १७।४२

[५] रघुवंश ४।४३

[६] पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धाः शरण्यमेनं शतशो महीध्राः।
नृपा इवोपप्लविनः परेभ्यो धर्मोत्तरं मध्यममाश्रयन्ते॥
रघुवंश, १३।७

अश्वमेध भी विश्वविजय का एक तरीका था। कालिदास के ग्रथों में कितने ही अश्वमेधो का वर्णन मिलता है परंतु वह वर्णन जो 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के सम्राट् पुष्यमित्र के पत्र मे सुरक्षित है बडा ही स्पष्ट है। उस से पता चलता है कि यज्ञ के यजमान सम्राट् पुष्यमित्र का पौत्र वसुमित्र यज्ञतुरग की रक्षा के निमित्त नियुक्त किया गया था। डाउसन साहब ने अश्व-मेध का ढग इस प्रकार लिखा है:—

**अश्वमेध**

"एक विशेष रग का अश्व कुछ क्रियाओं के अनुष्ठान से सस्कृत कर वर्ष भर स्वतत्र विचरने के लिए छोड दिया जाता था। राजा अथवा उस का कोई प्रतिनिधि सेना लेकर उस का अनुसरण करता था। जब वह अश्व किसी विदेश मे प्रवेश करता था तब वहा के राजा के समुख केवल दो मार्ग थे—चाहे वह युद्ध करे अथवा अधीनता स्वीकार कर ले। यदि अश्व को छोड़ने वाला राजा उन सारे राष्ट्रो की स्वाधीनता हरण कर स्वाधीन कर लेता था जिन से हो कर अश्व निकलता था तब तो वह विजय-पूर्वक विजित राजाओ के साथ लौटता था और यदि वह इस कार्य मे असफल होता था तब उस का बडा अपमान होता था और उस के अनुचित हौसले की हँसी की जाती थी। उस के सफलता-पूर्वक लौटने पर एक बडा यज्ञ किया जाता था जिस मे वह अश्व बलि दिया जाता था।"[1]

सम्राट् पुष्यमित्र के निम्न-उद्धृत पत्र से अश्वमेध द्वारा दिग्विजय का पूरा बोध होता है। वह पत्र इस प्रकार है —

"सौ राजपुत्रो द्वारा अनुसृत वसुमित्र को रक्षक नियुक्त कर राजसूययज्ञदीक्षित मैंने जिस निरर्गल अश्व को मुक्त किया था और जो वर्ष भर स्वच्छद भ्रमण कर लौटने वाला था, सिंधुके दक्षिणतट पर भ्रमण करते हुए उसको यवन अश्वारोहियों के एक दल ने बाँध लिया। तब दोनो सेनाओ मे तुमुल युद्ध हुआ। तब परम धन्वी वसुमित्र ने बलपूर्वक ले जाते हुए शत्रुओ को हरा कर मेरे वाजिराज को लौटा लिया।

"सगरपुत्र अंशुमत की भाँति पौत्र द्वारा लाए गए अश्व से अब मैं यज्ञ करूँगा।

---

[1] डाउसन, 'क्लासिकल डिक्शनरी' में 'अश्वमेध' शब्द।

अत शीघ्र विगतरोषचित्त से मेरी पुत्रवधुओ को साथ ले कर मेरा यज्ञ देखने आओ।'[1]

कालिदास के अश्वमेध के कई वर्णनो से सिद्ध होता है कि उस समय अश्वमेध का बहुधा अनुष्ठान होता था क्योंकि वह समय ब्राह्मणो के पूर्ण प्रभाव का था। दिग्विजय के अतिरिक्त अश्वमेध भी विश्वविजय का एक तरीका था। अश्व द्वारा भ्रमण किए गए सारे देश उस के घर लौटने पर उस के स्वामी के हो जाते थे। उन सारे देशो के विजित स्वामी अश्वमेधयायी सम्राट् के सामत हो कर रहते थे।

अश्व का अनुसरण और उस की रक्षा कुछ साधारण कार्य न था। निरर्गलतुरग का रक्षा-कार्य बडे उत्तरदायित्व का था और यह भार राज्य के उत्तरदायी कर्मचारियो, विशेष कर राजकुल के बलवान वीरो, पर डाला जाता था। अश्वरक्षक की नियुक्ति कितने महत्त्व का विषय था इस का पता वसुमित्र के मातापिता के उस समय के आचरण से ज्ञात होता है जब पुष्यमित्र के पत्र से उन्होंने अश्व का निरापद लौट आना जाना। रानी धारिणी प्रसन्नता के आवेश को न रोक सकी और बडे गर्व के साथ उस ने कह डाला "सेनापति ने हमारे पुत्र को सचमुच बडे 'अधिकार' के स्थल पर[2] नियुक्त किया है।" भारे आनद के अग्निमित्र वदियों को राज्य भर के कारागारो से मुक्त करने की घोषणा करता है। यह अश्वरक्षण का सम्मान इस प्रकार था क्योकि तुरग-रक्षक के ही बल और पराक्रम पर यज्ञकर्ता का यश निर्भर रहता था। अश्वमेध के उपरात राज्य की सीमाओ का विस्तार अपरिमित हो जाता था। इसी विस्तार को इगित कर कालिदास ने निम्नलिखित वाक्याश कहे है :—

एकातपत्र जगतः प्रभुत्वं, आसमुद्रक्षितीशाना, वेलावप्रवलया परिखीकृतसागरा,

---

[1] योऽसौ राजयज्ञदीक्षितेन मया राजपुत्रशतपरिवृतं वसुमित्रं गोप्तारमादिश्य वत्सरोपात्तनियमो निरर्गलस्तुरंगो विसृष्टः, स सिन्धोर्दक्षिणरोधसि चरन्नश्वानीकेन यवनेन प्रार्थितः। तत उभयोः सेनयोर्महानासीत्संमर्दः।

ततः परान्पराजित्य वसुमित्रेण धन्विना।
प्रसह्य ह्रियमाणो मे वाजिराजो निवर्तितः ॥१५॥

सोऽहमिदानीमंशुमता सगरपुत्रेणेव प्रत्याहृताश्वो यक्ष्ये। तदिदानीमकालहीनं विगतरोषचेतसा भवता वधूजनेन सह यज्ञसेवनायागन्तव्यमिति।

—मालविकाग्निमित्रम्, ५

[2] अधिकारे खलु मे पुत्रकः सेनापतिना नियुक्तः

मालविकाग्निमित्रम्, ५।

जयति वसुधामप्रतिरथ इत्यादि

राजा का प्रजारंजन कर्म उसे एक दयापूर्ण और न्यायी शासन की स्थापना के लिए बाध्य करता था। शासन-कार्य जिसे कालिदास ने अपने ग्रंथों में 'यंत्र' कहा है, कुछ सरल नहीं था। यह 'लोकतन्त्राधिकार'[1] बड़े परिश्रम का कार्य था। राज्यभार वहन करने वाले तपस्वी राजाओं की उपमा सूर्य, वायु और शेष से दी गई है। सूर्य के अश्व रथ में जुने अविश्रांत दौड़ते रहते हैं, वायु दिन रात प्रवाहित होता रहता है और शेष पृथ्वी का भार निरंतर वहन करता है।[2] इस समता प्रदर्शन का एक और अर्थ था—सूर्य की भाँति राजा प्रजा में जीवन का संचार करता और उस की संपत्ति को बढ़ाता है, वायु की भाँति वह शक्तिमान एवं प्राण फूँकने वाला है और शेष की भाँति वह राष्ट्रभार के वहन में अथक और स्थिर रहता है। इस प्रकार राजा राष्ट्र को धारण करने वाला था। प्रजा की आय का षष्ठांश भोगने वाले का उस के प्रति यह कर्तव्य था।[3] यद्यपि कालिदास के समय में राजा की सत्ता दैवी मानी जाने लगी थी तथापि राजा की आय प्रजा के कार्य के प्रत्युपकार में उस की वृत्ति समझी जाती थी। राजा की आय प्रजा की सेवाओं का फल थी।

**राजा के कर्तव्य-कर्म**

कार्यबाहुल्य के श्रम से शिथिल राजा की यह उक्ति स्वाभाविक ही है — "इच्छित वस्तु की लब्धि औत्सुक्य को मार देती है, वस्तु की प्राप्ति के पश्चात् उस की रक्षा और उस का पालन बड़ा कष्टकर और चिंता-जनक होता है। शासक को शासन-भार विश्राम नहीं देता प्रत्युत् धूप निवारण के अर्थ छत्रदंड धारण करने वाले व्यक्ति के हाथ के कष्ट की भाँति उस को श्रमित करता है।"[4] "अपने सुख की अभिलाषा से रहित

---

[1] अथवा विश्रामोऽयं लोकतन्त्राधिकारः।

अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५

[2] भानुः सकृद्युक्त तुरंग एव
रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः
षष्ठांशवृत्तेरपिधर्म एषः॥

अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५।४

[3] अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५।४

[4] औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेनम्।

राजा प्रतिदिन प्रजा के हित के लिए परिश्रम कर कष्ट उठाता है। वृक्ष की भाँति राजा नित्य राजवृत्ति का गुरुतम भार सिर पर वहन करता है। इस प्रकार ऊपर की 'तीव्र' उष्णता का 'अनुभव' कर के भी वह 'आश्रय' करने वालों के 'परिताप' का अपनी 'छाया' द्वारा 'शमन' करता है।''[१]

प्रजारजन धर्म मे, 'वृत्ति' के उत्तर मे, राजा की मुख्य सेवा प्रजा की रक्षा थी। 'रघुवश' मे 'गोप्ता' शब्द का प्रयोग शुद्ध राजनैतिक अर्थ मे हुआ है जिस का अर्थ 'रक्षक' है—रक्षक-राजा। जब राजा दिलीप ने वन मे प्रवेश किया तब सारे आततायियो के दुराचार स्वत शांत हो गए। वन को भस्मसात् करने वाली दावाग्नि बिना वर्षा के ही शात हो गई। वन अचानक फल-फूलो से भर गया। शक्तिमान् सिंहों ने दुर्बलजीव मृगो का बध करना छोड दिया। इस प्रकार 'गोप्ता' के वन मे प्रवेश करते ही आततायियो का आचरण सात्विक हो गया।[२] यह 'गोप्ता' शब्द रक्षक अर्थ मे कालिदास द्वारा तीन बार प्रयुक्त हुआ है। स्कंदगुप्त विक्रमादित्य के जूनागढ वाले शिलालेख मे भी 'गोप्ता' शब्द का प्रयोग प्रातीय शासक के अर्थ मे किया गया है। वहाँ 'गोप्ता' के आवश्यक गुणों की गणना और उन का विशद वर्णन किया गया है। प्रबल रक्षक के शासन मे कालिदास का यह वन उस 'गोप्ता' का राज्यविस्तार है, 'सत्त्व' उस की प्रजा है और 'अधिक' वे शक्तिमान दस्यु, चोर आदि राज्य के दुष्टकर्मा है जो 'ऊन' अर्थात् दुर्बल व्यक्तियो के सदाचार

---

नातिश्रमापनयनाय न च श्रमाय
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ॥
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५।६

[१] स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवाते वृत्तिरेवं विधैव ।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णम्
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५।७

देखो, 'सर्वस्यलोकस्यहिते प्रवृत्तः'—जूनागढ़ का स्कन्दगुप्त का शिलालेख।

[२] शशाम वृष्ट्यापि विना दवाग्नि—
रासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः ।
ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे
तस्मिन्वनं गोप्तरि गाहमाने ॥
रघुवंश, २।१४

कार्यो से लाभ उठा कर, उन से भक्षक और भक्ष्य का सबध स्थापित करते है। 'ऊन' व्यवहारपरायण शातिप्रिय नागरिक है। 'दावाग्नि' वह मात्स्यन्याय है जो राज्य मे प्रबल 'गोप्ता' की अनुपस्थिति मे कभी-कभी जोर पकड़ता है। रक्षक के अर्थ मे गोप्ता का प्रयोग 'मालविकाग्निमित्र' में भी हुआ है —"जब तक अग्निमित्र 'गोप्ता' था विपत्ति निवारण आदि प्रजा की कोई ऐसी अभिलाषा नही थी जो पूर्ण न हो सकी।"[1] पाठ मे आई हुई 'ईति' एक प्रकार की जनसाधारण पर पड़ी विपत्ति है जिस के छ प्रकारों का वर्णन भाष्यकार ने किया है—(१) अतिवृष्टि, (२) अनावृष्टि, (३) टिड्डे, (४) खेतों के चूहे, (५) खेतों मे उपजे दानो को खा-खा कर नष्ट कर देने वाले सुग्गे और (६) बाहरी राजाओं के आक्रमण।[2] राजा न केवल प्रजा के शरीर और सपत्ति की रक्षा करता था, प्रत्युत वह उन के वर्णाश्रम आदि सामाजिक सगठनो का भी रक्षक समझा जाता था।[3]

राष्ट्र की आवश्यकता केवल प्रजा के जीवन और उस की सपत्ति की रक्षा के लिए ही नही है। उस का कार्य प्रजा के व्यक्तित्व को भासमान और उज्ज्वल बनाना भी है। इसी हेतु राजा के उत्तरदायित्व मे प्रजा का शिक्षण और भरण-पोषण भी है। शिक्षण और भरण-पोषण का कार्य राजा द्वारा इस पूर्णता से निभाया जाता था कि लोगो के पिता केवल उन के जन्म के कारण समझे जाते थे।[4] शास्त्रीय नियमो के अनुरूप आचरण को 'विनय' कहते है। संभव है राजा के लोकशिक्षण का

---

[1] आशास्यमीतिविगमात्प्रभृति प्रजानाम्
सम्पद्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे
मालविकाग्निमित्रम्, १।२०

[2] अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा मूषकाः शुकाः।
प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः॥
कुछ लोग 'स्वचक्र' (अर्थात् स्वसैन्य से हानि) जोड़ कर श्लोक का द्वितीय पद इस प्रकार पढ़ते है—स्वचक्रं परचक्रं च सप्तैता ईतयः स्मृताः॥

[3] असावत्रभवान्वर्णाश्रमणांरक्षिता प्रागेव...
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५

[4] प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥
रघुवंश, १।२४

तात्पर्य राजकीय कोश द्वारा विद्याप्रचार और शिक्षणार्थ आर्थिक सहायता हो। 'भरण' का तात्पर्य कदाचित् भूमि की राजकीयता से है जो लोगो को लगान (भूमिकर) के बदले दी गई समझी जाती थी।

राष्ट्र राजा का 'रक्ष्य' था जिस का वह बली, 'रक्षिता', 'गोप्ता' अथवा 'नियोक्ता' था और 'रघुवश' के एक श्लोक का तात्पर्य यह है कि रक्षक रक्ष्य का विनाश अपने संमुख स्वय अक्षत रह कर नही देख सकता।[1] इस प्रकार अपने रक्ष्य (प्रजा) का शिक्षण और भरण करता हुआ प्रजा की आय की षष्ठांशवृत्ति के बदले उसे प्रसन्न करने के लिए दिन रात परिश्रम किया करता था। इसी कारण वशिष्ठ जैसे मुनियो द्वारा दिलीप से प्रजार्थ परिश्रमी राजाओं का स्वागत 'राज्याश्रममुनि'[2] कह कर होता था। राजा सत्यमेव वह 'मुनि' था जिस का आश्रम ईश्वराराधन न हो कर प्रजार्थसाधन था—कष्टकर राजकर्म था। राजकर्म समाप्त कर और प्रजा के प्रति पितोचित[3] न्याय सपादन कर दिन भर का थका-माँदा राजा सध्या के समय एकांत सेवन करने की इच्छा करता था, परंतु उस की यह छोटी अभिलाषा भी बहुधा अपूर्ण रह जाती थी, जब कचुकी इसी समय कार्यवश आए व्यक्तियो की सूचना राजा को देता था।[4] राष्ट्र का सर्वप्रथम प्रतिनिधि और मुख्य इस प्रकार कष्टसाध्य जीवन व्यतीत करता था।

---

[1] भवानपीदं परवानवैति महान्हि यत्नस्तव देवदारौ।
स्थातुं नियोक्तुर्नहि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन॥
रघुवंश, २।५६

[2] तमातिथ्यक्रियाशान्तरथक्षोभपरिश्रमम्।
पप्रच्छ कुशलं राज्ये राज्याश्रममुनिं मुनिः॥
रघुवंश, १।५८

[3] प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा
निशेवतेऽशान्तमना विविक्तम्।
यूथानि संचार्य रविप्रतप्तः
शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः॥
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५।५

[4] भोः कामं धर्मकार्यमनतिपात्यं देवस्य। तथापीदानीमेव धर्मासनादुत्थिताय पुनरुपरोधिकारि कण्वशिष्यागमनमस्मै नोत्सहे निवेदितुम्। अथवा विश्रामोऽयं लोकतन्त्राधिकारः—वही, ५

लोकतंत्र (शासन) के संचालन में राजा द्वारा नियुक्त एक 'अमात्यपरिषद्'[1] राजा की सहायता करता था। राजकार्य में निपुण, 'राजनीतिविशारद' राष्ट्र के मन्त्रियों के पद पर नियुक्त किए जाते थे।[2] जब कभी राजा राज्य से बाहर जाता था तो शासन का भार मन्त्रियों के ऊपर छोड़ जाया करता था।[3] एक स्थल पर राजा मन्त्रियों को इस प्रकार आदेश करता है—"कुछ समय तक आप अपनी ही बुद्धि से प्रजा की रक्षा करें।"[4] इस प्रकार राजा और उस के मन्त्री दोनों मिल कर देश का शासन करते थे। जब कभी राजा दूसरे स्थान पर कार्य-संलग्न होता था तो 'केवल' मन्त्री ही शासन की बागडोर हाथ में ले कर राज्य सँभालते थे।

अमात्य

मन्त्रियों का पद बड़ा उच्च था और राजा उन की बड़ी प्रतिष्ठा करता था। अग्निमित्र जब अमात्य से सेनापति वीरसेन को विदर्भराज के विरुद्ध युद्धार्थ भेजने का आदेश करता है तो उस के लिए 'भवान्' सर्वनाम का प्रयोग करता है। यह वह शब्द है जिस का उपयोग विदर्भराज ने अपने पत्र में अग्निमित्र के लिए किया था। कालिदास के ग्रंथों में मंत्री के लिए 'अमात्य', 'सचिव' और 'मंत्री' शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

'अमात्यपरिषद्' नाम के मन्त्रिवर्ग का कालिदास ने कई बार उल्लेख किया है। राष्ट्र की नीति अमात्यपरिषद् द्वारा स्थिर की जाती थी[5] और परिषद् का निर्णय प्रधानामात्य राजा को बताता था जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से सिद्ध होता है :—

"हम लोगों ने विदर्भ के प्रति अपनी नीति निश्चित कर ली है, अब हम महाराज

---

[1] मालविकाग्निमित्र, ५

[2] अजिताधिगमाय मन्त्रिभिर्युयुजे नीतिविशारदैरजः ।
अनपायिपदोपलब्धये रघुराप्तैः समियाय योगिभिः ॥
रघुवंश, ८।१७

[3] संतानार्थाय विधये स्वभुजादवतारिता ।
तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे ॥
रघुवंश, १।३४

[4] त्वन्मतिः केवला तावत्परिपालयतु प्रजाः ॥
अधिज्यमिदमन्यस्मिन्कर्मणि व्याप्ततं धनुः ॥
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ६।३२

[5] अमात्येषु निवेशितराज्यधुरम्
विक्रमोर्वशीयम्, ४

का 'अभिप्राय' जानना चाहते है।"[1]

राजा को अमात्यपरिषद् के निर्णय की सूचना देने वाले मत्री के लिए एक-वचन व्यवहृत हुआ है। सभव है यह प्रधानामात्य हो जो राजा और अमात्यपरिषद् के बीच सबध स्थापित करने वाली शृखला की भाँति था परन्तु राज्य की नीति पूरे परिषद् द्वारा निर्णय की जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि परिषद् के निर्णय को साधारणतया स्वीकृत कर राजा अपनी अनुमति दे दिया करता था, क्योकि ऊपर के उद्धरण से यह बात सिद्ध हो जाती है कि राजा से केवल उस की राय ही पूछी जाती थी, जो अकेले मत्री---कदाचित् प्रधानामात्य---द्वारा पूछी जाती थी। पर नीति-निर्णय पूरी परिषद् द्वारा होता था जिस का प्रत्येक सदस्य अपनी राय दे चुका होता था। नीति का निर्णय तो परिषद् करता था।

शुक्रनीति आदि राजनैतिक ग्रथो से पता चलता है कि प्रत्येक मत्री और राजा को अपनी सम्मति अलग-अलग देनी पडती थी और इस बात का ध्यान रक्खा जाता था कि एक दूसरे की सम्मति जान न जावे जिस मे स्वतत्र रूप से बिना किसी अनुचित प्रभाव के नीति का निर्णय किया जा सके। शुक्रनीति मे तो ऐसे राजा को जो अलग-अलग मत्रियो की सम्मति नही लेता (और लिख कर अपनी आज्ञाएँ नही देता) चोर कहा गया है। इसी कारण अग्निमित्र का प्रधानामात्य अमात्यपरिषद् का निर्णय राजा को नही बताता केवल परिषद् के आज्ञानुसार विदर्भ देश के सबंध में उस की राय पूछता है। यह नहीं बताता कि परिषद् का निर्णय क्या है, किस प्रकार है। परिषद् के निर्णय के ऊपर यह राजा की आज्ञा भी पूरी तरह से नही कही जा सकती, क्योकि उमे मत्रियो के प्रस्ताव और निर्णय का ज्ञान ही नही है। उस से तो केवल उस का 'अभिप्राय' पूछा गया है। राजा का अभिप्राय जान कर प्रधानामात्य परिषद् को उस की सूचना देता है।[2] कचुकी की, राजा के प्रति नीचे उद्धृत, उक्ति से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है —

---

[1] अमात्यो विज्ञापयति---विदर्भगतमनुष्ठेयमवधारितमस्माभिः। देवस्यतावदभिप्रेतं श्रोतुमिच्छामीति।

मालविकाग्निमित्रम्, ५

[2] एवममात्यपरिषदे निवेदयामि...

मालविकाग्निमित्रम्, ५

"अमात्य विज्ञापित करते है—देव का विचार उचित एव कल्याणप्रद है। मंत्रिपरिषद् का भी यही निर्णय है।

"क्योंकि

"जिस प्रकार रथ की जुआ धारण करने वाले समान भार वहन करने के कारण दोनों अश्व चुपचाप सारथी की इच्छा का अनुकरण करते है उसी प्रकार दो भागों मे बँटी राजलक्ष्मी का समान रूप से भोग करने वाले दोनो राजा परस्पर अवरुद्ध होने के कारण श्रीमान् की आज्ञा के अनुसार चलेगे।"[1] इस उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि राजा के विचार पर भी परिषद् अपनी स्वीकृति देता था।

राजा का 'अभिप्राय' इस प्रकार था :—

"यज्ञसेन और माधवसेन दोनो भाइयो मे मै 'द्वैराज्य' स्थापित करना चाहता हूँ। वे दोनों वरदा नदी को सीमा मान कर उस के उत्तर और दक्षिण के भिन्न-भिन्न प्रदेशो पर रात्रि-दिवस की भाँति शासन करे।"[2]

राजा की अनुपस्थिति मे शासनकार्य करने और उस की उपस्थिति मे राष्ट्र के मुख्य-मुख्य प्रसगो पर नीति स्थिर करने के अतिरिक्त अमात्यपरिषद् और भी कितने कार्य करता था जिस का विवरण नीचे दिया जाता है।

राज्याभिषेक का प्रबध राजा की आज्ञा[3] से मन्त्रिवर्ग ही करता था। नए राजा को मंत्रिगण ही राजचिह्नो[4] से विभूषित करते थे। उस को राज्यश्री मे प्रतिष्ठित वे ही

---

[1] अमात्यो विज्ञापयति। कल्याणी देवस्य बुद्धिः मन्त्रिपरिषदोऽप्येतदेव दर्शनम्। कुतः—

द्विधा विभक्तां श्रियमुद्वहन्तौ
 धुरं रथाश्वाविव संग्रहीतु.।
तौ स्थास्यतस्ते नृपतेर्निदेशे
 परस्परोरुग्रहनिर्विकारौ ॥

मालविकाग्निमित्रम्, ५।१४

[2] तत्र भवत्तोर्यज्ञसेनमाधवसेनयोर्द्वैराज्यमवस्थापयितुकामोऽस्मि।
तौ पृथक्वरदाकूले शिष्ठामुत्तरदक्षिणे।
नक्तं दिवं विभज्योभौ शीतोष्णकिरणाविव ॥

मालविकाग्निमित्र, १३

[3] मद्वचनादमात्यपरिषदं ब्रूहि संभ्रियतामायुषो राज्याभिषेक इति।

विक्रमोर्वशीयम्, ५

[4] रघुवंश, १७।२७

करते थे। इसी प्रकार राजा के मरने पर राज्यभार अमात्यपरिषद् के ऊपर ही पड़ता था। मंत्री ही नए राजा को अभिषिक्त कर उसे व्यवहार-रूप मे राज्यशक्ति प्रदान करते थे। राजसत्ता नवनृपति को उन्ही द्वारा प्राप्त होती थी। जब राजा दशरथ के मर जाने पर राम के वन चले जाने के कारण कोसल का सिहासन रिक्त हो गया था और प्रजा राजारहित हो गई थी तो मंत्रियो ने ही भरत को उस की ननसाल मे बुला कर राजलक्ष्मी प्रदान की थी।[१]

राजा मंत्रियो से राज्य के शासन-सबध मे नित्य परामर्श करता था, परंतु उन की सतर्कता और विश्वासपात्रता के कारण मत्रण का विषय और उस पर निर्णय पूरा गुप्त रहता था।[२] मंत्री इस प्रकार उत्तरदायी थे।

कालिदास ने प्रधानामात्य के अतिरिक्त तीन मंत्रियों का विशेष कर उल्लेख किया है। ये तीनो एक-एक विभाग के मुख्य प्रतीत होते है। जिस अमात्य ने अग्निमित्र को विदर्भ-सबधी अमात्यपरिषद् की प्रार्थना सूचित की थी वह अवश्य कोई विशेष अधि-कार-सपन्न मत्री रहा होगा, क्योंकि वह राजा और परिषद् का अतरग था। राष्ट्र की गुप्त मत्रणा का वह एक प्रकार से रक्षक था। वह प्रथम व्यक्ति था जिसे परिषद् का निर्णय और राजा का अभिप्राय ज्ञात होता था। राजा और परिषद् के विचार-साम्य और भिन्नता से वही पहले-पहल अवगत होता था। अत हम उसे प्रधानामात्य मान सकते हैं।

शेष तीन मंत्री जिन की स्थिति का पता कालिदास के ग्रंथों से चलता है ये हैं—

( १ ) बाह्य-नीति अथवा राष्ट्रसचिव।

( २ ) न्यायसचिव।

( ३ ) अर्थसचिव।

---

[१] अथानाथा. प्रकृतयो मातृबन्धुनिवासिनम्।
मौलैरानाययामासुर्भरतं स्तम्भिताश्रुभिः॥
रघुवंश, १२।१२

[२] मन्त्रः प्रतिदिनं तस्य बभूव सह मन्त्रिभिः।
स जातुसेव्यमानोऽपि गुप्तद्वारो न सूच्यते॥
रघुवंश, १७।५०

न्याय और अर्थ का साचिव्य 'अभिज्ञानशाकुनल' में एक ही व्यक्ति को दिया गया है जिस का उल्लेख आगे चल कर किया जायगा। इन मत्रियो के कार्यभार का वर्णन आगे यथास्थान करेगे। इन के सिवा और मत्री शासनकार्य मे राजा की सहायता करते होगे परतु हमे कालिदास के वर्णन से उन का ज्ञान नही होता।

राजा क्रोधाभिभूत होने पर भी मत्रियो से परामर्श कर के राय स्थिर करने मे नही चूकता था। स्वेच्छाचारिता उस के लिए साधारण बात नहीं थी। विदर्भराज की धृष्टता से क्रोधान्वित हो कर अग्निमित्र जब मत्रियो से सेनापति वीरसेन को विदर्भराज को नष्ट कर देने के लिए भेजने की आज्ञा देता है तब भी वह एकदम ऐसा नही करता बल्कि रुक कर सचिव से पूछता है कि उस की क्या राय है। सौभाग्यवश उस की राय दूसरी नही होती और वह एक नीति-श्लोक का उद्धरण कर कहता है कि वह शत्रु जिस ने हाल ही मे किसी देश मे राज्य स्थापित किया है बडी सरलता से नष्ट किया जा सकता है, क्योकि उस की जड़ शीघ्र लगाए वृक्ष की नाई अभी पूरी दृढता-पूर्वक जमी नही होती।[१] इस प्रकार अमात्यवर्ग राजा की स्वेच्छाचारिता के मार्ग मे एक प्रबल अवरोध थे।

**मन्त्रिविभाग की कार्य-प्रणाली**

मन्त्रिविभाग की कार्यप्रणाली आधुनिक प्रणाली से बहुत मिलती थी। सभी मुख्य-मुख्य बाते लिख कर राजा के सामने उस की जानकारी और आज्ञा के लिए रक्खी जाती थी। उस के बाद उन को साम्राज्य की मुद्रा से अकित कर के शायद दफ्तरो मे रखते भी थे। इस में सदेह नही कि उस समय साम्राज्य की एक विशेष प्रकार की मुहर या मुद्रा होती थी जिस से सभव है, शासन-सबधी राजकीय कागजो को अकित कर के आफिसों में रखते हो। इस राजकीय मुद्रा का ज्ञान हमे 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के एक श्लोक से स्पष्ट हो जाता है। उस मे की गई राजा की उक्ति इस प्रकार है—"मै अपने एकमात्र प्रभुत्व और एकछत्र शासन

---

[१] राजा—(सरोषम्) कथं कार्यविनिमयेन मयि व्यवहरत्यनात्मज्ञः। वाहतक प्रकृत्यमित्रः प्रतिकूलकारी च मे वैदर्भः। तद्यातव्यपक्षे स्थितस्य पूर्वसकल्पितसमुन्मूलनाय वीरसेनप्रमुखं दण्डचक्रमाज्ञापय।...अथवा किं भवान्मन्यते।

मन्त्री—शास्त्रदृष्टमाह देवः।

अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकृतिष्वरूढमूलत्वात्।
नवसंरोपणशिथिलस्तरुरिव सुकरः समुद्धर्तुम्॥

मालविकाग्निमित्रम्, १।८

तथा सामतगण की मुकुटमणियो द्वारा भासमान शासनाक से भी इतना भाग्यवान नही हूँ[1] ।" इस से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सम्राट् 'शासन', (फर्मान) अथवा लिखी आज्ञाएँ निकाला करता था जो सारे साम्राज्य मे घोषित कर दी जाया करती थी। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का एक स्थल इस प्रसग को और भी स्पष्ट कर देता है, क्योकि वहाँ सचमुच एक राजकीय घोषणा की गई है।[2] सम्राट् की अधीनता मे कितने ही सामत राजा शासन करते थे जैसा 'विक्रमोर्वशीय' के "सामतमौलि" से पता चलता है। अपने सामर्थ्य एव सम्राट् के पद के योग्य ये सामंतराजा अमूल्य भेट के रूप मे कर दिया करते थे, जिस के बदले में सम्राट् उन्हे उन के विविध राज्यो के शासन का अधिकार साम्राज्य की मुद्रा से अकित करके दिया करते थे। इन व्यावहारिक शासनो के प्रति अपना आदर प्रदर्शन करने के अर्थ वे उन्हे अपने सिरो से लगाते थे और उन के किरीटो की मणियो से अपूर्व ज्योति निकल-निकल कर इन शासनपत्रो के लेखो को प्रभा और काति से भर देती थी। इस प्रसग को साहित्य के अन्य स्थलो और शिलालेखो से प्रमाणित किया जा सकता है।[3] 'शासन' सम्राट् की वे आज्ञाएँ थी जो शासन के कार्य मे लिख कर निकाली जाती थी। इन का आरभ भारतीय शासन मे बहुत प्राचीन समय मे हुआ था। मौर्य राजा अशोक अपनी आज्ञाएँ—राजपुरुषो अथवा साधारण पुत्रवत् प्रजा के लिए—बडे-बडे शिलाखडो और स्तभो पर खुदवा कर साम्राज्य भर मे प्रकाशित कराते थे। जिन शासको का प्रसंग-'विक्रमोर्वशीय'-नाटक मे आया है वे सामतराजाओ के साम्राज्यांतर्गत शासना-

---

[1] सामन्तमौलिमणिरञ्जितशासनांक-
मेकातपत्रमवनेर्नतथा प्रभुत्वम् ।
विक्रमोर्वशीयम्, ३।१९

[2] येन येन वियोज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना ।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् ॥
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ६।२३

[3] अशेष नरपतिशिरः समभ्यर्चितशासनः ।
कादम्बरी

गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते
नराधिपैर्माल्यमिवास्यशासनम् ।
किरातार्जुनीयम्, १।२१

गरुत्मदंकस्वविषयभुक्तिशासनयाचनाद्युपायसेवाकृतबाहुवीर्य प्रसरधरणिबन्धस्य . . .
—प्रयागस्तम्भ का समुद्रगुप्त का प्रशस्तिलेख।

धिकार के कोई नए सस्करण रहे होंगे जो समय-समय पर सम्राट द्वारा प्राय होते रहते थे। यथार्थ मे सामतराजाओ के राज्य दिग्विजय के कारण सम्राट् के हो जाते थे, परतु धर्मविजयी सम्राट् उन्हे पुन उन के राज्य मे प्रतिष्ठित कर देता था इस कारण उन के देश पर सम्राट् का भी राजाधिराज होने से एक प्रकार का शासन रहता था। उसी की इच्छा, आज्ञा और कृपा से ये सामतराजा अपने-अपने राज्यप्रदेश भोगते थे। चूकि इन राजाओ का अधिकार इस प्रकार सम्राट् की ही कृपा का परिणाम था अत. उन के शासनाधिकार के भी समयातर मे नए सस्करण हुआ करते थे। सम्राट् की सत्ता की ज्योति की आभा ही सामतों की अधिकार-सत्ता में किंचित् प्रस्फुटित होती थी। इतिहास से इस बात की और भी पुष्टि हो जाती है। गुप्त सम्राटो की यह नित्य की शासन-पद्धति थी [1] जिस का निरीक्षण उन के स्तभलेखो से भली प्रकार किया जा सकता है।

ऊपर उद्धृत 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के श्लोक मे एक पद 'अंक' है जिस का अर्थ है चिह्न, लक्षण। इसी प्रकार समुद्रगुप्त के प्रयाग-स्तंभ वाले लेख से 'गरुत्मयक' शब्द हमे उपलब्ध होता है जिस का अर्थ है 'वह मुद्रा (मुहर) जिस मे गरुड पक्षी का चित्र अकित हो।' इसी प्रकार 'विक्रमोर्वशीय' का 'शासनाक' शब्द भी ऐसा ही तात्पर्य रखता है। यह वह 'अक' ( मुद्रा अथवा मुहर ) था जिस से सामतराजाओ के शासनाधिकार के सस्करणों पर साम्राज्य की सत्ता की मुहर की जाती थी।

कार्यसंपादन की शीघ्रता उस शासन-तत्र के सेक्रेटरियट का एक विशेष गुण था। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक से पता चलता है कि जब प्रधानामात्य ने राजा को मन्त्रि-परिषद् द्वारा उस के विचार के अनुमोदन की सूचना दी तब राजा ने आज्ञा दी कि वह आज्ञा परिषद् शीघ्र सेनापति वीरसेन के पास, जिस ने विदर्भ विजय किया था, भेज दे।[2] वीरसेन उस समय नर्मदा की तरेठी और उस के आसपास की भूमि का विजयी स्वामी था और राजा द्वारा भेजी गई आज्ञाओ का पालन समयानुसार तलवार के बल से भी यथा-सभव कर सकता था। राष्ट्र की शासन-नीति पर आवश्यकता से अधिक वादाविवाद

---

[1] प्रयागस्तंभ का समुद्रगुप्त का प्रशस्तिलेख।

[2] तेन हि मन्त्रिपरिषदं ब्रूहि। सेनान्ये वीरसेनाय लेख्यतामेव क्रियतामिति।
मालविकाग्निमित्रम्, ५

अनुचित समझा जाता था क्योंकि उस से मंत्र भेद[1] हो जाने का भय रहता था उपर्युक्त मंत्रियों की नियुक्ति से यह भय भी दूर हो सकता था।

उस समय के राजकीय पत्रों और राजनैतिक चिट्ठियों का दिग्दर्शन नीचे लिखे पूरे पत्रों से किया जा सकता है —

"स्वस्ति। सेनापति पुष्यमित्र अपने पुत्र आयुष्मान अग्निमित्र को स्नेहपूर्वक आलिंगन कर यज्ञशाला से इस प्रकार लिखता है—सौ राजपुत्रों द्वारा अनुसृत वसुमित्र को रक्षक नियुक्त कर राजसूययज्ञदीक्षित मैं ने जिस निरर्गल अश्व को मुक्त किया था और जो वर्ष भर स्वच्छंद भ्रमण कर लौटने वाला था सिंधु के दक्षिण तट पर भ्रमण करते हुए उस को यवन अश्वारोहियों के एक दल ने बाँध लिया। तब दोनों सेनाओं में तुमुल युद्ध हुआ। तब परमधन्वी वसुमित्र ने बलपूर्वक ले जाते हुए शत्रुओं को हरा कर मेरे वाजिराज को लौटा लिया।

"सगरपुत्र अंशुमत की भाँति पौत्र द्वारा लौटा कर लाए गए अश्व से अब मैं यज्ञ करूँगा। अतः शीघ्र विगतरोषचित्त से मेरी पुत्रवधुओं को साथ ले कर मेरा यज्ञ देखने आओ।"[2]

यह पत्र सम्राट् पुष्यमित्र ने अपने पुत्र अग्निमित्र के पास लिखा था। उपलब्ध संस्कृत साहित्य में पत्रों की बड़ी न्यूनता है। उपलब्ध थोड़े से पत्रों में से एक यह है। तत्कालीन सेक्रेटेरियट का यह एक बड़े उच्च कोटि का राजनैतिक रत्न-शेष है जिस से

---

[1] मन्त्रः प्रतिदिनं तस्य बभूव सह मन्त्रिभिः।
स जातु सेव्यमानोऽपि गुप्तद्वारो न सूच्यते॥
रघुवंश, १७।५०

[2] स्वस्ति यज्ञशरणात्सेनापतिः पुष्यमित्रो वैदिशस्थं पुत्रमायुष्मन्तमग्निमित्रं स्नेहात्परिष्वज्येदमनुदर्शयति। विदितमस्तु। योऽसौ राजयज्ञदीक्षितेन मया राजपुत्र-शतपरिवृतं वसुमित्रं गोप्तारमादिश्य वत्सरोपात्तनियमो निरर्गलस्तुरंगो विसृष्टः, स, सिन्धोर्दक्षिणरोधसि चरन्नश्वानीकेन यवनेन प्रार्थितः। तत उभयोः सेनयोर्महानासीत्संमर्दः।
ततः परान्पराजित्य वसुमित्रेण धन्विना।
प्रसह्य ह्रियमाणो मे वाजिराजो निवर्तितः॥
सोऽहमिदानीमंशुमता सगरपुत्रेणेव प्रत्याहृताश्वो यक्ष्ये। तदिदानीमकालहीनं विगतरोषचेतसा भवता वधूजनेन सह यज्ञसेवनायागन्तव्यमिति।
मालविकाग्निमित्रम्। ५

उस समय के शासन की कार्यप्रणाली की उत्तमता का यथेष्ट प्रमाण मिलता है। इस मे ऐसा एक शब्द नही जो व्यर्थ हो, एक मात्रा नही जो हटाई जा सके, एक पद नही जो असस्कृत हो। यह साम्राज्य के आफिसो की एक अपूर्व निधि है। यह पत्र आरंभ से अत तक पूर्ण रूप से राजनैतिक है केवल आरभ का एक वाक्य सम्राट् के गृहसबध का है जिसे शिष्टाचार के नाते दूर नही किया जा सकता। इस वाक्य मे सम्राट् अपने पुत्र और प्रतिनिधि अग्निमित्र को स्नेहपूर्वक आयुष्मान होने का आशीर्वाद देता है। इस पत्र की राजनैतिक पूर्णता को देख कर स्वत यह कल्पना होती है कि कालिदास ने अपने समय के साम्राज्य के आफिस के किसी असल पत्र मे नकल कर के उस की यह प्रतिलिपि प्रस्तुत की है। बहुत संभव है उन के समय तक ये पत्र सुरक्षित रहे हो। वे किसी बडे सम्राट् की राजसभा के सभ्य थे, इस मे कोई सदेह नही। ऐसा उन के वर्णन मे सर्वत्र विदित होता है।

निम्न-उद्धृत पत्र विदर्भ के राजा ने विदिशा के शासक अग्निमित्र को लिखा था। इस पत्र के विषय की राजनैतिकता अपूर्व है। बडे सक्षेप मे विषय का पूर्ण रूप से उल्लेख किया गया है। भाषा किसी नीतिविशारद की है, सक्षिप्तता, स्पष्टता और अनन्यता जिस के प्राण है। पत्र इस प्रकार है —

"पूज्य (अग्निमित्र) ने मुझे इस प्रकार लिखा था—'आप का पितृव्यपुत्र (चाचा का लडका) कुमार माधवसेन मुझ से विवाहसबध स्थिर करने की प्रतिज्ञा कर चुका था। मेरे समीप आते हुए उस को आप के सीमाप्रात के रक्षको ने छापा मार कर बदी कर लिया। मेरा ध्यान रख कर उसे उस की स्त्री और भगिनी के साथ छोड़ देने की आज्ञा दे देनी उचित है। बराबर वालो के साथ राजवृत्ति क्या है सो श्रीमान् भली भाँति जानते है, इस कारण श्रीमान् (अग्निमित्र) को इस विषय मे मध्यस्थ का स्थान ग्रहण करना चाहिए; कुमार की भगिनी 'ग्रहणविप्लव' (बदी बनाते समय) मे ही कहीं गायब हो गई सो उस की खोज का पूर्ण प्रयत्न करूँगा। अब यदि पूज्य चाहते है कि माधवसेन अवश्य मुक्त कर दिए जायँ तो श्रीमान् सधि के निम्नलिखित अंको पर ध्यान दे —

यदि पूज्य मेरे साले मौर्यसचिव को, जिसे उन्हो ने बदी कर रक्खा है, मुक्त कर दे तो हमे तत्काल माधवसेन को छोड़ देने मे कोई आपत्ति नही।"[1]

---

[1] पूज्येनाहमाविष्ट'। पितृव्यपुत्रो भवत' कुमारो माधवसेन' प्रतिश्रुतसम्बन्धो

अभिसधि अथवा संधि के अंगो का कितना स्पष्ट विवरण है! निर्भय राजा प्रबल शत्रु को चुनौति के शब्दो में लिख भेजता है---'यदि श्रीमान मेरे मत्री को मुक्त कर दें तो मुझे आप के शरणागत को छोड़ने मे कोई आपत्ति नही।' शिष्टाचार का एक भी नियम भग नही हुआ परतु आत्मसमान को भी पूर्णतया सुरक्षित रक्खा। राजनैतिक चाल का उत्तर उसी भाषा मे दिया गया।

अब नीचे उस विषय के लेख की प्रतिलिपि देते है जो अर्थसचिव द्वारा 'पत्रारूढ' हो कर राजा के सम्मुख उस की आज्ञा के लिए पेश किया गया था। वह इस प्रकार है—

"रुपयों की गणना मे फँस जाने के कारण आज केवल एक ही पौरकार्य देखा जा सका है सो पत्र पर चढा हुआ देव देखे। समुद्रमार्ग से व्यापार करने वाला धनमित्र नामक सार्थवाह जहाज के साथ डूब गया है। पता लगता है कि बेचारा अनपत्य है। उस का धन राजकोष मे जायगा।" [1]

इस प्रकार प्रस्तुत विषय को लिख कर राजा के सम्मुख रखते थे। पहले विषय का पत्र पर उल्लेख होता था, फिर तद्विषयक सचिव उस पर अपना निर्णय लिखता था, तत्पश्चात् उस पर राजा के अन्तिम निर्णय और आज्ञा के लिए उस के सामने उपस्थित करते थे। मन्त्रिविभाग के पूर्ण वैज्ञानिक कार्यक्रम के सगठन का यह पत्र पूर्ण प्रमाण है। तत्कालीन शासनप्रणाली के कार्यक्रम का यह सचमुच एक अपूर्व अद्‌भुत चित्र है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र[2] से ज्ञात होता है कि उस समय के 'तंत्र' को अठारह

---

ममोपान्तिकमुपसर्पन्नन्तरा त्वदीयेनान्तपालेनावस्कन्ध गृहीतः स त्वया मदपेक्षया सकलत्रसोदर्यो मोक्तव्य इति। एतन्नु वो विदितम्। यत्तुल्याभिजनेषु राज्ञां वृत्तिः। अतोऽत्र मध्यस्थः पूज्यो भवितुमर्हति। सोदरापुनरस्य ग्रहणविप्लवे विनष्टा। तदन्वेषणाय प्रयतिष्ये। अथवा, अवश्यमेव माधवसेनो मया पूज्येन मोचयितव्यः, श्रूयतामभिसन्धिः।

मौर्यसचिवं विमुञ्चति यदि पूज्यः संयतं मम श्यालम्।
मोक्ता माधवसेनस्ततो मया बन्धनात्सद्यः॥

मालविकाग्निमित्रम्, १।७

[1] अर्थजातस्यगणनाबाहुलतैयकमेव पौरकार्यमवेक्षितम्। तद्देन पत्रावरूढ प्रत्यक्षीकरोत्वीति---

समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः। अनपत्यश्च किल तपस्वी। राजगामी तस्यार्थसंचय। (इत्येतदमात्येन लिखितम्)।

[2] 'अर्थशास्त्र' भाग १, पृ० २०-२१ जैसा कि श्री काशीप्रसाद जायसवाल की 'हिंदू पॉलिटी' के पृष्ठ १३३ के नीचे नोट में उद्धृत है।

विभागो में बाँट कर राष्ट्र का शासन करते थे। एक-एक विभाग का चार्ज एक-एक मन्त्री अथवा किसी अन्य बडे राजपुरुष के हाथ मे रहता था जिसे 'तीर्थ' कहते थे। श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने एक स्थल पर कहा है कि 'तीर्थ' पद का शाब्दिक अर्थ है 'जल हल कर जाने का मार्ग' अर्थात् एक पतला रास्ता। अमात्य और विभागो के स्वामी 'तीर्थ' इस कारण कहलाते थे कि उन्ही के पास से हो कर राजकीय आज्ञाएँ उन के विविध विभागो में पहुँचती थी।[1] इस प्रकार के तीर्थो का किंचिदव्यक्त उदाहरण कालिदास से हमे उपलब्ध[2] है। अब इन विभागो और उन के अमात्यो का वर्णन करेंगे। राज्य के उच्च और निम्न कर्मचारियो का कालिदास ने व्यक्त और अर्धव्यक्त वर्णन किया है, जिस मे निम्न, लिखित निष्कर्ष निकलता है ——

**विभाग और उन के तीर्थ**

प्रधानामात्य, जिस का वर्णन हम पहले कर आए है, अमात्यो मे प्रथम रहा होगा। उसे कई प्रकार के विशेष अधिकार मिले होंगे जिन का उदाहरण हम पहले दे चुके है।

**१——प्रधानामात्य**

परराष्ट्र-सचिव अथवा राजनैतिक मन्त्री, जो अन्य राष्ट्रो से आए पत्रो का उत्तर देता था। स्वतंत्र और सामंतराजाओ की राजनैतिक भेट और उन के दूत उसी के पास प्रथम पहुँचते थे, जैसा कि 'मालविकाग्निमित्र' के कचुकी की उक्ति से जाना जाता है——"देव, अमात्य निवेदन करते है——विदर्भ विषय से प्राप्त भेटो में से दो शिल्पकारिकाएँ मार्ग परिश्रम से थकी होने के कारण उचित न समझी जा कर देव के सम्मुख उपस्थित न की जा सकी थी। अब वे देवोपस्थान योग्य हुई है। अत देव उन के सबध में आज्ञा करे।"[3]

**२——परराष्ट्रसचिव**

इस प्रकार इस मंत्री के कार्य आधुनिक परराष्ट्र-सचिव के थे। परराष्ट्रो से प्राप्त वस्तुओ की सूची बना कर वह उन के वर्णन के साथ राजा की आज्ञा के लिए उस के पास

---

[1] जायसवाल, 'हिंदू पॉलिटी' पृष्ठ १३३।

[2] इति क्रमात्प्रयुञ्जानो राजनीतिं चतुर्विधाम्।
आतीर्थादप्रतीघातं स तस्याः फलमानशे॥
रघुवंश, १७।६८

[3] देव अमात्यो विज्ञापयति। विदर्भविषयोपायने द्वे शिल्पकारिके मार्गपरिश्रमादलघुसो इति पूर्वं न प्रवेशिते। सम्प्रति देवोपस्थानयोग्ये संवृत्ते। तदाज्ञां देव दातुमर्हतीति।

मालविकाग्निमित्रम्, ५

भेजता था। राजा और अमात्यपरिषद् के निर्णय के अनुसार वह परराष्ट्रों के प्रति संधि और युद्ध की घोषणा भी करता था।

जब राजा अपने व्यवहारासन (धर्मासन और कर्मासन भी) पर बैठ कर पौर-कार्य का निरीक्षण करता था उस समय न्याय-मंत्री भी उस के पास बैठता था। जब राजा शारीरिक अस्वस्थता अथवा किसी अन्य कारणवश न्याय-मंदिर में उपस्थित न हो सकता था, तब केवल न्याय-मंत्री ही प्रजा के आवेदनपत्र ग्रहण करता था, फिर स्वयं उस को पढ कर और अपना निर्णय अपने हस्ताक्षर के साथ उस पत्र पर लिख कर राजा की अंतिम आज्ञा के लिए उसे उस राजा के पास महल में भेज देता था। यह राजा का नित्य कर्म था जैसा कि उस की निम्न उक्ति से प्रगट होता है : "अमात्य आर्य पिशुन से मेरी ओर से इस प्रकार कहो—रात्रि में अधिक जागरण के कारण आज हम सब का धर्मासन पर बैठना संभव नहीं प्रतीत होता (बहुवचन के प्रयोग से प्रतीत होता है कि राजा और न्याय-मंत्री के अतिरिक्त न्याय विभाग के और कर्मचारी भी न्याय-मंदिर में बैठते थे जिन का हम को व्यक्त ज्ञान नहीं है)। आर्य द्वारा जिन पौरकार्यों का निरीक्षण हो चुका हो वे पत्र पर लिख कर मेरे पास भेज दिए जायँ।"[1]

**३—न्याय-मंत्री**

अर्थसचिव अर्थविभाग का स्वामी था। सारे अर्थशासन का भार वही वहन करता था। वही सब प्रकार के करों[2] को ग्रहण करता, गिनता और राजकोष में रखता था। तत्पश्चात् वह अर्थविभाग में होने वाले सारे विषयों का उल्लेख कर राजा को सूचित करता था, जैसा हम अन्य-स्थल पर बताएँगे। विषयों का उल्लेख पत्रों पर किया जाता था[3] जो स्यात् राजकीय

**४—अर्थ-सचिव**

[1] मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनं ब्रूहि। चिरप्रबोधनान्न संभावितमस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम्। यत्प्रत्यवेक्षितं पौरकार्यमार्येण तत्पत्रमारोप्य दीयतामिति।
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ६

[2] अर्थजातस्यगणना।
अभिज्ञानशाकुंतलम्, ६

[3] अर्थजातस्यगणनाबहुलतयैकमेव पौरकार्यमवेक्षितम्। तद्देवः पत्रारूढं प्रत्यक्षीकरोत्विति।
वही।

सेक्रेटरियट की संपत्ति हो जाया करते थे। अर्थसचिव के कार्य का और वर्णन 'आय-व्यय' के प्रसग मे करेगे।

'अभिज्ञानशाकुतल' मे न्याय और अर्थविभागों का भार पिशुन नामक एक ही अमात्य को दिया गया है। वह राजा के साथ न्याय-मदिर मे बैठता है और वही आय-व्यय का ब्यौरा करता है, आए अर्थ की गणना और उस का उचित प्रबध करता है। इतना तो सही है कि अर्थ-विभाग के भी विषय (मुकदमे) उस के पास आते होंगे जिन का निरीक्षण एव निर्णय वह राजा के साथ करता होगा, परन्तु यह स्पष्ट नही है कि वही दोनो कार्य क्योकर करता था। अन्य सस्कृत साहित्य के ग्रंथो से पता चलता है कि न्याय और अर्थ के विभाग भिन्न-भिन्न थे और उन का निरीक्षण भिन्न-भिन्न[1] मत्रियो का कार्य-भार था।

**५—सेनापति अथवा सैन्यसचिव**

कालिदास के ग्रथों से प्रतीत होना है कि सेनापति[2] रण मे सैन्यसंचालन भी करता था और वही 'अतपाल'[3] भी था। अतपाल 'अर्थशास्त्र' के अनुसार सीमा-प्रदेश का रक्षक था। 'मालविकाग्निमित्र' मे सेनापति और अंतपाल एक ही व्यक्ति वीरसेन व्यक्त किया गया है। परतु एक बात विचार करने की यह है कि सेनापति वीरसेन ने विदर्भ देश को जीता था। सभव है सेनापति और अतपाल दो व्यक्ति हो, परंतु अतपाल सेनापति के अधिकार मे ही सीमाप्रदेश का रक्षक हो। इस मे सदेह नहीं कि रक्षाभार सैनिक को ही दिया गया होगा। सभव है यह अतपाल सेनापति का ही एक नायक होता हो। ऐसा होने पर सीमाप्रदेश मे

---

[1] 'व्यावहारिक' अर्थात् जज—अर्थशास्त्र १।१२; ८ (पृष्ठ २०-२१)
'सुमंत्र' अथवा अर्थसचिव (आयव्ययप्रविज्ञाता सुमन्त्रः)
शुक्रनीतिसार, २।८६
'प्राड्विवाक' अथवा न्याय-मंत्री—लोकशास्त्रनयज्ञस्तु प्राड्विवाकः
शुक्रनीतिसार, २।८५

[2] अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १।

[3] स भर्त्रा नर्मदातीरे अन्तपालदुर्गे स्थापितः।
मालविकाग्निमित्रम्, १
पितृव्यपुत्रो भवतः कुमारो माधवसेनः प्रतिश्रुतसम्बन्धो ममोपान्तिकमुपसर्पन्नन्तरा त्वदीयेनान्तपालेनावस्कन्धगृहीतः—वही, १

उपस्थित होने के कारण अतपाल का अधिकार भी मेनापति ही का कहा जा सकता है। रणक्षेत्र मे राजा उपस्थित रहने पर मेनापति का स्थान ले लेता है। संभव है अन्य व्यक्ति के अतपाल होते हुए भी कालिदास ने सेनापति को अतपाल कहा हो। अथवा यह भी सभव है कि वीरसेन जो पहले केवल 'अतपाल' था (जैसा कि 'मालविकाग्निमित्र' से स्पष्ट है) विदर्भ देश के विजय के वाद राजा की प्रसन्नता द्वारा सेनापति बना दिया गया हो। अतपाल रहते हुए ही अपनी सेना से उस ने विदर्भ विजय किया था ।

**६—युवराज और वाइसराय**

युवराज और वाइसराय साम्राज्य के बडे उच्च पदाधिकारी थे। वाइसराय साम्राज्य के सीमाप्रातो के रक्षक थे। अग्निमित्र सम्राट् पुष्यमित्र का इसी प्रकार का युवराज एव वाइसराय था। वह अपने प्रतिनिधित्व मे राजा का अधिकार रखता था। इसी प्रकार का एक छोटा वाइसराय 'अतपाल' पदविशेषधारी वीरसेन था, जो अग्निमित्र की दक्षिणी सीमा का रक्षक नियुक्त हुआ था।

**७—कञ्चुकी अथवा प्रतीहार**

कचुकी[1] (अथवा गुप्तसाम्राज्य का महाप्रतीहार) राजप्रासाद का सर्वोच्च कर्मचारी था। राजमदिर का रक्षकसैन्य और यवन रक्षिकाओं और दासियों का दल उसी के अधीन था । यह राजमदिर का एक वयोवृद्ध कर्मचारी था जिस की राजा वडी प्रतिष्ठा करता था। यह राजा की मन्त्रिपरिषद् के साथ की गई मत्रणाओं को जानता था और गुप्त मत्रणाओ की पूरी सूचना प्रधानामात्य और राजा को यही देता था।

**८—नागरिक**

अर्थशास्त्र का 'पौर'[2] कालिदास के समय मे 'नागरिक'[3] कहलाता था। यह राजधानी का रक्षक, नगर मे वह अधिकार रखता था जो आज बड़े शहरो मे 'मेयर' को प्राप्त है। वह नगर की पुलीस का भी स्वामी था और उस का अधिकार आधुनिक 'मेयर' और 'पुलीस सुपरिंटेंडेंट' के अधि-

---

[1] 'मालविकाग्निमित्रम्', 'विक्रमोर्वशीयम्', 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'।
[2] पौर—अर्थशास्त्र १।१२; ८ (पृ० २०-२१)।
[3] मद्वचनादुच्यन्तां नागरिकाः सायं निवासवृक्षाग्रे विचीयतां विहगाधमः।
विक्रमोर्वशीयम्, ५
तथैव अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५

कारो का समिश्रण था। वह मध्यकालीन कोतवाल की भाँति रात्रि मे विचरण करने वाले आततायियों को पकड कर दड दिलाता था।

धर्मविभाग भी एक व्यक्ति विशेष का कार्यभार था। इस अधिकरण के अस्तित्व का प्रमाण हमे धर्माधिकारी के वचन से मिलता है। वह इस प्रकार है—"राजा द्वारा धर्माधिकार मे नियुक्त मैं आप के पास यह जानने के लिए उपस्थित हुआ हूँ कि आप के आश्रम में धार्मिक क्रियाएँ निर्विघ्न संपन्न होती है या नहीं।"[1] इस प्रकार वननिवासी तपस्वियो के हितार्थ भी एक अधिकरण था जिस का अधिकारी शायद प्राय दौरा किया करता था। यह बात ध्यान देने की है कि मौर्य राजा अशोकवर्द्धन ने इस धर्माधिकरण की नीव डाली थी और धर्ममहामात्र संज्ञा वाले उस के अध्यक्ष नियुक्त किए थे।[2] स्पष्ट है कि यह अधिकरण कालिदास के समय तक जीवित रहा।

**९—धर्माधिकारी**

ऊपर लिखे अधिकरणों के अध्यक्ष विशेष कर प्रधानामात्य, परराष्ट्-सचिव, न्यायमत्री, अर्थसचिव, सैन्यसचिव और कचुकी, और शायद युवराज और नागरिक भी, अमात्यपरिषद् के सदस्य होते थे। अमात्यपरिषद् राजा के बाद राष्ट्र में सर्वशक्तिमान था और राजा के जानने के पूर्व ही राष्ट्र की नीति का निर्णय किया करता था।

जिन अधिकरणो के अध्यक्षो का ऊपर वर्णन किया गया है उन का सचालन यथार्थ मे निम्नपदाधिकारी ही करते थे जैसा साधारणतया आज सर्वत्र हो रहा है। वास्तव मे किसी राष्ट्र का लोकतत्र बिना सेक्रेटेरियट के आफ़िसो के रेकार्डो के नही चल सकता। शासन के लिए यह आवश्यक है कि पूर्व और पश्चात् के पत्रो का समय-समय पर दिग्दर्शन किया जा सके। न्यायप्रिय तंत्र के शासन में कार्यप्रिय लेखको का रहना अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार लेखक समुदाय का कालिदास ने प्रसगवश उल्लेख किया

---

[1] यः पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः सोऽहमविघ्नक्रियोपलम्भाय धर्मारण्य-मिदमायातः।

अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १

[2] से अतिक्रतं अन्तरं न भुतप्रुव ध्रममहमत्र नम से त्रेडशवषभिसितेन मय ध्रम-महमत्र कट . . .

अशोक के चतुर्दश शिलालेख, नं० ५
(मन्सेहरा संस्करण)

है कचहरियों के लेखकों के लिए कालिदास ने 'लेखक' शब्द व्यवहृत किया है विदर्भ देश से वीरसेन द्वारा भेजे गए पत्र को एक ऐसा ही लेखक पढ़ कर अग्निमित्र को सुनाता है।[1]

दूसरे निम्न कोटि के राजकर्मचारियों को राजपुरुष[2] कहते थे। ये राजपुरुष अपने विविध अधिकारों की रक्षा करते हुए शासन-तन्त्र का कार्य सुचारु रूप से संचालित रखते थे। इन के अतिरिक्त राजप्रासाद के रक्षक थे जो राजा के शरीर-रक्षक का कार्य भी करते होंगे। वे कंचुकी के अधीन कार्य करते थे।

नगर-रक्षक वे पुलीस के सिपाही थे जो अभियुक्तों को पकड़ कर न्यायमंदिर और दण्डस्थल पर ले जाते थे। वे नागरिक के अधीनस्थ आधुनिक पुलीस कांस्टेबुलों की भाँति थे। कालिदास ने अभियुक्त को पकड़ कर रखने वाले उन सिपाहियों को 'रक्षिण'[3] कहा है। ये नगर में पहरा देते होंगे।

सरकार अथवा गवर्नमेंट के लिए कालिदास ने 'लोकतन्त्र'[4] शब्द का व्यवहार किया है। विभिन्न अधिकरणों के शासन की जानकारी के लिए वर्णन आगे आवश्यक होगा।

(अपूर्ण)

---

[1] विदर्भविषयाद्भ्राता वीरसेनप्रेषितं लेखं लेखकैर्वाच्यमानं।
मालविकाग्निमित्रम्, ५

[2] अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १

[3] वही, ६

[4] अथवाविश्रामोऽयं लोकतन्त्राधिकारः—वही, ५

# चित्रकार "कवि" मोलाराम की चित्रकला और कविता

[ लेखक—श्रीयुत मुकंदीलाल, बी० ए० ( आॅक्सन ), बैरिस्टर-एट्-लॉ ]

[ २६ ]

## जयकृतशाह

ललितशाह और उस के उत्तराधिकारी गढवाल के राजाओ का विस्तार-पूर्वक और सच्चा इतिहास मोलाराम ने अपने 'गढराज' काव्य मे दिया है। मोलाराम का जन्म सन् १७६० मे और देहात सन् १८३३ मे हुआ। अस्तु जब ललितशाह राज्य-सिहासन पर बैठा उस समय मोलाराम की आयु १२ वर्ष की थी। इस लिए ललितशाह (१७७२-१७८०) तथा प्रदीपशाह (१७१७-१७७२) और उन के पूर्वजो की बाबत मोलाराम को जो वृत्तात औरो से या अपने पुरखो तथा दल-कथाओ से मालूम हुआ वह उन्हो ने अपने काव्य मे सकलित किया। किंतु ललितशाह के राज्य-काल से तो मोलाराम स्वय रग-मंच पर था। मोलाराम बहुल सम्मानित दरबारी, श्रेष्ठ विद्वान तथा समझदार सलाहकार था। राजा और उस के मंत्री मोलाराम के पास परामर्श और सहायता के लिए आते थे। इतिहास के लिए यह सौभाग्य की बात है कि मोलाराम सरीखे विद्वान लेखक ने ललितशाह और उस के उत्तराधिकारी गढवाल के राजाओं की कृति जो स्वयं देखी उस को अपने काव्य मे सकलित किया। इस लिए यद्यपि कविता की दृष्टि से मोलाराम का काव्य उच्चकोटि का न हो, या टीका-टिप्पणी करने वाले लोग उसे केवल तुकबदी कहे, किंतु इतिहास की दृष्टि से कम से कम सन् १७७२ से ( जब मोलाराम की उम्र १२ वर्ष की थी ) १८३३ तक की (जब मोलाराम की मृत्यु हुई)

**मोलाराम जयकृतशाह के विषय में अपनी आँखों देखी घटनाएँ लिखता है**

ऐतिहासिक घटनाओ के विषय में मोलाराम ने जो लिखा है वह ऐतिहासिक दृष्टि से हिंदी जगत मे बडी महत्त्व-पूर्ण बात है। इसी कारण ललितशाह के समय से हम ने मोलाराम की कविता को अधिक उद्धृत किया है जिस मे इतिहास से संबध रखने वाली उल्लेखनीय कोई भी घटना न छूट जाय। सन् १७७२ के बाद की घटनाओ के विषय में मोलाराम के अतिरिक्त यथावत् और कौन लिख सकता था? मोलाराम उच्चकोटि का लेखक, कवि, अद्वितीय चित्रकार, और फारसी का पंडित था। मोलाराम राजनीतिज्ञ और बडा ज्ञानवान दार्शनिक भी था। काव्य-रचना के समय मोलाराम गढवाल के राजाओ का आश्रित नही था। जब मोलाराम ने अपने गढ़वाल राज के इतिहास की रचना की उस समय गढवाल का राजवंश श्रीनगर छोड कर देहरादून चला गया था। मोलाराम एक निर्भीक आदमी था, इस लिए उस ने गोरखा शासन-कर्ता, हस्तिदल के आग्रह पर अपने 'गढराज्य' काव्य की रचना की थी।

> हस्तीदल[1] सुनिकै इहै, रीझे अत मनमाहि।
> कह्यो कवि गढ़राज की, अब उत्पति देहु सुनाहि॥
> मोलाराम कवी कहो हमसौं।
> हम पूछत है सब कुछ तुमसौं॥

जब कैप्टन हार्डिक[2] २९ अप्रैल सन् १७९६ मे श्रीनगर आया था, उस समय उस की मोलाराम से भेट अवश्य हुई होगी। किंतु उस ने इस की चर्चा नही की। प्रद्युम्नशाह और उस के भाइयो से मिलने का उल्लेख किया है। हार्डिक ललितशाह का मृत्यु-समय सन् १७८१ देता है, यद्यपि वास्तव मे ठीक समय सन् १७८० है। ऐटकिसन[3] के अनुसार इस बात के प्रमाण मे ललितशाह के दान (ताम्र) पत्र (जो सन् १७८० से १७८५ तक के है) मिलते है कि ललितशाह ने १७८० से १७८५ तक राज्य किया। हार्डिक ललितशाह का शासन-काल ढाई वर्ष का बताता है। हमारी धारणा है कि सन् १७८०

---

[1] हस्तिदल चौतरिया ने सन् १८०३ से १८१५ तक गढ़वाल मे गोरखा राजा की ओर से राज्य किया।

[2] हार्डिक, 'नैरेटिव अव् ए जर्नी टु श्रीनगर' (एशियाटिक रिसर्चेज, जिल्द ६ पृष्ठ ३०९)

[3] ऐटकिसन, 'हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स', जिल्द २, पृष्ठ ५७७

और १७८१ दोनो ठीक हो सकते है क्योकि संभव है हार्डिक को विक्रमी संवत में जो गढवाल मे १५ अप्रैल के लगभग आरंभ होता है, ललितशाह की मृत्यु का समय बताया गया हो। संवत् का सन् मे रूपातर करने मे बहुधा ऐसी भूले होती है। अब रहा प्रश्न यह कि ललितशाह ने ढाई वर्ष तक राज्य किया या पॉच वर्ष तक। इस में हम को मोलाराम से मदद मिलती है। मोलाराम ने दिखाया है कि ढाई वर्ष के लगभग कृपाराम डोभाल नित्यानद खंडूड़ी और घमडसिंह तीन मंत्रि-मंडलो मे घमासान युद्ध रहा। उस समय नाबालिग राजा ललितशाह केवल मत्रियो के हाथ का कठपुतला ही नही था, वरन् सारा राज्य डोभाल खंडूडी और घमडी मंत्रि-दल के हाथ मे था। वह ढाई वर्ष का समय रक्तपात और अराजकता तथा घरेलू लडाई-झगडों का समय था। ललितशाह ने स्वय वास्तव मे राज्य ढाई वर्ष ही किया इस लिए हार्डिक और ऐटकिंसन दोनो सही है। मोलाराम उन दोनो की पुष्टि करता है।

पडित हरिकृष्ण रतूडी ने जो 'गढवाल का इतिहास' लिखा है उस मे और राजाओ के राज्यकाल की तरह जयकृतशाह का राज्यकाल भी गलत दिया गया है। रतूडी जी जयकृतशाह का राज्य-काल सन् १७९१ से १७९७ ई० बताते है[1]। जयकृतशाह का सही समय सन् १७८०-८५ ई० है। ललितशाह की मृत्यु पर उस के चार पुत्रो,—जयकृत, प्रद्युम्न, पराक्रम और प्रीतम—मे से जयकृतशाह गढवाल के राज्य-सिंहासन पर बैठाया गया। कुँवर प्रद्युम्नशाह को प्रदीपशाह अपने जीते जी कुमाऊँ का राजा नियत कर चुका था।

जयकृतशाह के नाबालिग होने के कारण राज्य-शासन मत्रियो के हाथ मे रहा। उस समय डोभाल मंत्री कृपाराम का बोलबाला था। मोलाराम के कथनानुसार

**मंत्रि भये डोभाल तब, जयकृतशाह को राज।**
**कृपाराम डोभाल तहँ, लाग्यो करनहि काज॥**
**कृपाराम मुखत्यार कहायो।**
**गढ़ को उन सब भार उठायो॥**
**मंत्री सब गढ़ के हिरसाये।**
**सिरीनगर महि परव उठाये॥**

०

---

[1] 'गढ़वाल का इतिहास', पृष्ठ ४०६

नित्यानंद खंडूडी डरिकैं।
बैठ्यो अपने अंदर घरिकैं।।
राज काज सब दीन्यो छाँड़ी।
होनहार इह कुमता बाढ़ी।।

नित्यानंद खडूडी दीवानी का अधिकारी था। वह प्राचीन दीवान-वंश का वंशज था। कृपाराम ने राज्य की बागडोर राजा की नाबालगी में अपने हाथ में ले ली। नित्यानंद कृपाराम के विरुद्ध षड्यन्त्र रचने लगा। नित्यानंद ने जयानद जोशी को

जयानद जोशी के लिए नित्यानद का पत्र

पत्री लिखी जो कुमाऊँ दीनी।
कृपाराम गढ़राजसी लीनी।।
कोई दिन महि तहाँ चढ़ेगो।
तुमकौं भी भाजन ही पड़ेगो।।
ताते तुम इत पहिले आओ।
याकौं द्रुति ले कुँवर[1] ही जाओ।।
गढको राज चलावें हमही।
राज कुमाऊँ करो जो तुमही।।
इत उत राजा बालक दोही।
तुम हम रहे एक जो होही।।

इस पत्र को पाने पर जयानद जोशी ने कृपाराम के विरुद्ध निराले ढग का षड्यंत्र रचने की ठानी। जयानंद ने

कृपाराम कौं आपनी, पत्री दई पठाय।

जयानद का पत्र कृपाराम के लिए

ललितसाह जू फौज रखाई।
राखे हमहूँ छोट सिपाई।।
मोहकचंद काढि हम दीन्यो।
राजकुमार तुमारो कीन्यो।।

---

[1] कुँवर प्रद्युम्नशाह से अभिप्राय है। प्रद्युम्नशाह को ललितशाह कुमाऊँ का राजतिलक दे गया था।

तुमहूँ इत राजा न पठायो।
तलब सिपाही सीर चढ़ायो॥
अब सिपाह इह मानत नाही।
हम को संग ले आवे ताँही॥
ताते इत तुम कुँवर पठावो।
तलब सिपाह की सब निबटावो॥
जो सिपाह इह सहर मैं आवैं।
हम कौ तुमकौं नाच नचावैं॥
ताते तुम रस्ता महि आवो।
अपनी हमरी जान बचावो॥

कृपाराम की नित्यानद के साथ मेल-मिलाप की चेष्टा

इह सुनि किरपाराम अकुलाये।
मंत्री मित्र सबै हि बुलाये॥
भवानंद औ श्रीविलासहि।
दोनों भैया आये पासहि॥
जात नौटचाल विप्र दोइ मित्रहि।
बड़ो हेत तिनसौं सुभ सुत्रहि॥
तिनहुँ कह्यो सब मंत्रि बुलावो।
नित्यानंद खंडूडी धावो॥
तीन टोल नेगीहि बुलाये।
नित्यानंद पास नहिं आये॥
नित्यानंद ने इह कही, हम राख्यो दुःख पाय।
नये नृपति मंत्रीहि तुम, लेव मंत्र ठहराय॥
कृपाराम तब संकहि मानी।
नित्यानंद करी चेष्टानी॥
कृपाराम तब गये तहाँही।
नित्यानंद के वह गृह मांही॥
कह्यो पुरातन तुम हो मंत्री।
हम बालक राजा के तंत्री॥

बालापन सों टहल हम कीनी।
खिजमत काहू की नहिं लीनी॥
दफ्तर राज को तुमरे पासा।
सब कोइ करत हैं तुमरी आसा॥
मुल्क सलाण की तुमपै फौजदारी।
सवा लाख गढ़ की मुखत्यारी॥
तुम बिन राजकाज नहिं चले।
हमसों तो इक पत्र न हिले॥
तुम जो कहो सो हमहूँ गहें।
राजा कहे सो तुम सो कहे॥
तुमसों कहत नृपति शरमावें।
हमसों कहत लाज नहिं लावें॥
बालापन हम गोद खिलाये।
हम सौं रहत हैं मिले मिलाये॥
जुवा भये जब लौ नृप नाहीं।
तब लौं कहें बचन हम ताहीं॥
जुवा होइ तब तुम सो बोले।
राजकाज सब मनमहिं तोले॥

तुम मंत्री होके रहो, हम हो रहें जो दास।
हुकुम करें जो कछु नृपति, कहें तुहारे पास॥

यह सब सुन कर बाहरी मन से नित्यानंद ने कृपाराम से कहा—

नित्यानंद के बाहरी भाव

तुम नृप आज्ञा करो सो करिहैं।
तुम सों बाहर हम नहि फिरिहैं॥

किंतु, वास्तव में नित्यानद के यह दिल के भाव नही थे। वह जानता था कि अब वास्तव में राजा कृपाराम है। और यह सब सधि की चर्चा धोखे की टट्टी है। नित्यानद ने कृपाराम से बहाना किया कि

अब तो सचे ना तन माँहीं।
चल्यो जात मारग पग नाहीं॥

संचे होय दरबार तब आवै।
राजकाज जो सरे चलावें॥
या बिद कृपाराम सों कह्यो।
कृपाराम तब घर को गयो॥
रहे जो कोइ पाछे जन ताँही।
नित्यानंद जू के घर माँही॥

नित्यानद के मन के भाव

तिनसों नित्यानंद जु कही।
अब गुलामगर्दी गढ़ भई॥
कृपाराम यह बाँदी बच्चा।
लाग्यो करने हमकों शिक्षा॥
हम सौं आगे हुआ य चाहै।
सर्वोपरि मंत्री ठहराहै॥
इह चर्चा पाछे सौ कीनी।
किनहूँ जाय तहाँ कहि दीनी।
कृपाराम तब लग्यो चेताही।
दगा खंडूड़ी के मन माँही॥
हम मारन को मंत्र उठायो।
जयानंद जोशीहि बुलायो॥
जयानंद जब पहुँचे आई।
हमसौं कछू करा नहिं जाई॥
तातौ पहिलौं इन को मारूँ।
और काज सब पाछे सारूँ॥
इह मनमथि के सार निकाल्यो।
प्रथम राज इह तंत्र सिंभाल्यो॥

कृपाराम का नित्यानद के विरुद्ध षड्यंत्र

जेते गढ़ माँहि मंत्रि सिपाही।
एक एक करि लिये मिलाई॥

बक्सी नेगी खान खवासहिं।
गोलदार[1] फौजदार जो पासहिं॥
लीन्हे सब घर माँहि बुलाई।
कह्यो खंडूड़ी कूल उठाई॥
जैकृतसाह को मारचो चाहै।
पराक्रम साह राज बैठाहै॥
प्रद्युमनसाह भेजत हैं कुमाऊँ।
मंत्री आप बनें दुऊ ठाऊँ॥
निमक हलाली होय सो, करो राज की आस।
निमक हरामी होय सो, जाओ खंडूड़ी पास॥
सब पंचन मिलि कै इह कही।
निमक हरामी हमहूँ नहीं॥
जो तुम कहो सो हमहूँ करिहैं।
निमकहलाली सैं हम तिरहैं॥
निमकहरामी को जस नाही।
दुहूँ ठौर वह होय गुनाहीं॥
कृपाराम तब धर्म करायो।
ऊलीखांडो धोय पिलायो॥

खडूडियो पर डोभालो का आक्रमण

गुप्त तंत्र निशि लियो ठहराई।
जित के तित दीनें पकराई॥
पकरे नित्यानंद खंडूड़ी।
बातें भूलि गये सब गूढ़ी॥
बाल, कुँवार, जुवा सब पकरै।
बूधा सहित जंजीर माँहि जकरै॥
बनघड़ गढ़ दीनें पहुँचाई।
आँखन माही नील फिराई॥

---

[1] गोलदार, छोटे सेनानायक, और फौजदार, सेनापति.

लूटि लियो घरबार सबैहीं।
जपत करी जागीर जमीही॥
दफ्तर देबीदत्त कौं दीन्यो।
कृपाराम फौजदार ही कीन्यो॥
जयकृतशाह राज बैठाये।
मंत्री सकल बहाल कराये॥
जयानंद पैं खबर इह, गई जो मारग माँहि।
भये बहाल डोभाल ही, रहे खंडूड़ी नाहि॥

नित्यानद का बुलाया हुआ जयानंद जोशी श्रीनगर पहुँचा। वहाँ आ कर उस को मालूम हुआ कि खंडूडी मन्त्रिदल परास्त हो गया, और कृपाराम डोभाल का आतक गढवाल राज्य मे छा गया है। कृपाराम ने अपने शत्रु के बुलाये हुए जयानद से राजनीति के साथ व्यवहार किया। अनजान हो कर कृपाराम ने जयानंद से पुछवाया—

**श्रीनगर में जयानंद का आगमन**

कौन हेतु तुम आये इतही।
बूझे जयानंद जो तिनही॥
जयानंद जोशी तब कही।
नई राज श्रीगढ़ मही भही॥
हमहूँ गढ़ के चाकर रहे।
गढ़ की सब बिध नीकी चहे॥
भेंट करन को हमहूँ आये।
काहू के हम नाहि लगाये॥
कृपाराम जो किरपा करिहै।
गढ़ कुर्माचल दोनौ तरिहैं॥
बिना राव नगरी कुछ नाही।
बिन भरता बनिताहि बिलाही॥
भरता माँगन को हम आये।
और काज कछु भी नहीं धाये॥

कृपाराम सौं काम है, और न हमरौ कोय।
कृपा करै जब वोहि हम, जयानंद तब होय ॥
इह कहि पाती लेखि पठाई।
कृपाराम जू के मन भाई ॥
बिजन नाना रूप पठाये।
अन्न अनेक छाग घृत ताये ॥
जगा ठौर नीकी ही दिलाई।
आदर सहित दिये बैठाई ॥
सुदिन छाँट राजा सों मिलायो।
तंत्र कुमाऊँ को ठहरायो ॥

कृपाराम का जयानद से सद्व्यवहार

जयानद ने कुमाऊँ पर राज्य करने के लिए कुँवर प्रद्युम्नशाह को माँगा। इस के विषय मे विस्तार-पूर्वक प्रद्युम्नशाह का इतिहास लिखते समय लिखा जायगा। वास्तव मे यह प्रसग कुमाऊँ के इतिहास से सबध रखता है।

# समालोचना

## साहित्य का इतिहास

**हिंदी भाषा और उसके साहित्य का विकास**——लेखक, प० अयोध्यासिंह उपाध्याय, प्रकाशक, पटना यूनीवर्सिटी, १९३४।

पटना विश्वविद्यालय में 'रामदीन रीडरशिप' नाम की एक आयोजना है। इस पर प्रति दूसरे वर्ष किसी न किसी हिंदी विद्वान की नियुक्ति हिंदी में कुछ व्याख्यान देने के लिए होती है। प्रथम बार १९३०-३१ में इस कार्य के लिए पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय को निर्वाचित किया गया था। यह ग्रंथ उन के इन्हीं व्याख्यानों का सग्रह है।

उपाध्याय जी की इस लगभग ७०० पृष्ठों की व्याख्यानमाला में तीन मुख्य खड हैं। प्रथम खंड में भाषा की परिभाषा से प्रारंभ कर के लगभग सौ पृष्ठों में हिंदी भाषा के इतिहास पर एक दृष्टि डाली गई है। दूसरे खड में साहित्य की परिभाषा से प्रारभ कर के करीब पाँच सौ पृष्ठों में हिंदी पद्य-साहित्य का इतिहास आदिकाल से लेकर वर्तमान समय तक का मिलता है; तथा तीसरे खड के शेष सौ पृष्ठों में गद्य-साहित्य के विकास, विस्तार तथा वर्तमान अवस्था का सक्षिप्त विवेचन है। एक प्रकार से यह उपाध्याय जी कृत हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास है और गत चार पाँच वर्षों में इस विषय पर प्रकाशित होने वाले लगभग आधे दर्जन इतिहासों की संख्या में वृद्धि करने में यह सहायक होता है।

इस ग्रथ के प्रथम खंड में कोई उल्लेखनीय बात दृष्टिगोचर नहीं होती। प्राय पश्चिमी विद्वानों की खोज के आधार पर आर्य भाषाओं तथा हिंदी भाषा का वृत्तात सक्षेप में दिया गया है। किंतु दूसरे और तीसरे खंडों में हिंदी के प्रौढ शैलीकार तथा सहृदय कवि का आलोचक का रूप मिलता है। हिंदी साहित्य की प्राचीन तथा अर्वाचीन

समस्याओ के संबंध में उपाध्याय जी की कुछ अपनी धारणाएँ हैं और इन्हें सुयोग्य लेखक ने प्रकट करने में संकोच नहीं किया है। ये अंश वास्तव में ग्रंथ के अत्यंत बहुमूल्य भाग हैं। कवियों तथा लेखकों की आलोचना में सहानुभूति का दृष्टिकोण विशेष आकर्षक है। इस की आवश्यकता को एक मौलिक लेखक ही समझ सकता था। मिश्रबंधुविनोद की शैली के अनुरूप एक-एक कवि को लेकर उस का विवेचन करने तथा उस की कृतियों में से अनेक उदाहरण देने के कारण ग्रंथ का आकार अधिक बढ़ गया है। उदाहरणों के संकलन के संबंध में इतना कहना पड़ेगा कि यह अत्यंत सुरुचि के साथ किया गया है। एक पारखी कवि की कसौटी पर कसा हुआ निखरा माल ही यहाँ मिलता है।

हिंदी साहित्य के संबंध में उपाध्याय जी के विचारों के इस संग्रह से हिंदी साहित्य के इतिहास के अंग की अभिवृद्धि ही होगी। इतिहास ग्रंथ के अतिरिक्त गद्यशैली की दृष्टि से ग्रंथ और भी अधिक बहुमूल्य है। धी० व०

## उपन्यास

**उलझन**—लेखक, ठाकुर श्रीनाथ सिंह। प्रकाशक, इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद। १९३४। मूल्य २)

हिंदी में अच्छे उपन्यासों की जो कमी है वह सब पर विदित है। ठाकुर श्रीनाथ सिंह ने इस कमी की पूर्ति में जो प्रयत्न किया है वह सराहनीय है। ठाकुर साहब हमारी भाषा के अनुभवी लेखक तथा हिंदी की प्रतिष्ठित पत्रिका 'सरस्वती' के संपादक हैं। उनकी लेखनी से निकली हुई कोई भी रचना मनोरंजन से शून्य नहीं हो सकती। इस उपन्यास में कुशल लेखक ने अनमेल विवाहों के कारण उपस्थित हुई सामाजिक विषमताओं का दिग्दर्शन कराया है। चरित्र-चित्रण साधारणतः अच्छा हुआ है। बारहवें अध्याय में प्रदर्शित जगतनारायण के आचरण में, तथा चौदहवें अध्याय में दिये गए शीला के पत्र में हमारे विचार करने की प्रचुर सामग्री मिलेगी। हम लेखक को इस कृति पर बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि आगे अपनी अन्य कृतियों से वह इसी प्रकार हिंदी की श्रीवृद्धि करेंगे।

रा०

# हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्० । मूल्य १।)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—लेखक, राय बहादुर महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा । सचित्र । मूल्य ३)

(३) कवि-रहस्य—लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा । मूल्य १।)

(४) अरब और भारत के संबंध—लेखक, मौलाना सैयद सुलैमान साहब नदवी । अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा । मूल्य ४)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० ( लंदन ) । मूल्य ६)

(६) जंतु-जगत—लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी० । सचित्र । मूल्य ६।।)

(७) गोस्वामी तुलसीदास—लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और श्रीयुत पीतांबरदत्त बड्थ्वाल । सचित्र । मूल्य ३)

(८) सतसई-सप्तक—संग्रहकर्ता, राय बहादुर बाबू श्यामसुंदरदास । मूल्य ६)

(९) चर्म बनाने के सिद्धांत—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी० । मूल्य ३)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट—संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । मूल्य १।।)

(११) सौर-परिवार—लेखक, डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ्० आर० ए० एस्० । सचित्र । मूल्य १२)

(१२) अयोध्या का इतिहास—लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । सचित्र । मूल्य ३)

(१३) घाघ और भड्डरी—संपादक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी । मूल्य ३)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री—संपादक, ठाकुर रामसिंह, एम्० ए० और श्री सूर्यंकरण पारीक, एम्० ए० । मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए० । सचित्र । मूल्य ३)

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ । मूल्य ३॥) सजिल्द, ३) बिना जिल्द ।

(१७) हिंदी उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा । मूल्य सजिल्द १॥), बिना जिल्द १)

(१८) नातन—लेसिंग के जर्मन नाटक का अनुवाद । अनुवादक—मिर्ज़ा अबुलफ़ज़ल । मूल्य १)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए० । मूल्य सजिल्द ४), बिना जिल्द ३॥)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना । मूल्य सजिल्द ५॥), बिना जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजगोपाल भटनागर, एम्० ए० । मूल्य ४॥) सजिल्द; ४) बिना जिल्द ।

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा ( २ भाग )—लेखक, श्रीयुत जयचंद्र विद्यालंकार । मूल्य प्रत्येक भाग का सजिल्द ५॥), बिना जिल्द ५)

## हिंदुस्तानी

### तिमाही पत्रिका

की पहले चार वर्ष की कुछ फाइलें अभी प्राप्त हो सकती हैं । मूल्य पहले वर्ष का ८) तथा अन्य वर्षों का ५) ।

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

सोल एजेंट

इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद

# हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ५ } अप्रैल, १९३५ { अंक २


# महामहोपाध्याय कवि पंडितमुख्य उमापति उपाध्याय


[लेखक—डाक्टर उमेश मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्० (इलाहाबाद)]


महामहोपाध्याय कवि पडितमुख्य उमापति उपाध्याय मैथिली के प्रसिद्ध प्राचीन कवियों में गिने जाते है। इन का जन्म ग्राम कोइलख, परगना भौर, जिला दरभंगा के एक बडे ऊँचे मैथिल ब्राह्मणकुल में हुआ था। इस के अतिरिक्त इन का कौलिक परिचय अभी कुछ भी ज्ञात नही है। सभव है कि मैथिल-पञ्जीप्रबंध से कुछ और भी पता लग जाय।

इन के जीवन-काल के सबध में भी दो प्रधान मत है। सर जार्ज ग्रीयर्सन के अनुसार यह तेरहवी शताब्दी के अत अथवा चौदहवी के आदि भाग मे विद्यमान थे[1]। मैथिलो की धारणा है कि यह महाराज मिथिलेश राघवसिंह (१७००–१७३९) के समय मे महामहोपाध्याय मैथिल गोकुलनाथ उपाध्याय के समकालीन थे। इन दोनो मतों मे मुझे ग्रीयर्सन का ही मत सगत मालूम होता है अतएव मैंने उसी का अनुमोदन यहाँ भी किया है, जिस के प्रमाण मे भी मुझे बहुत कुछ इन के ही ग्रथ से सहायता मिलती है।

उमापति के नाम से लगभग दस विद्वानो का परिचय 'केटेलोगस केटेलोगोरम' मे दिया हुआ है। इनसे सबमे प्रसिद्ध उमापति राजा लक्ष्मणसेन के सभासद

[1] 'जर्नल अव् दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी', जिल्द ३, भाग १, पृष्ठ २५

थे[1] और प्राय इनकी कविता का वर्णन कवि जयदेव ने अपने 'गीतगोविंद'[2] मे किया है। किंतु यह उमापतिधर मिश्र के नाम से प्रसिद्ध थे। यह निस्सन्देह उमापति उपाध्याय से भिन्न व्यक्ति थे।

उमापति उपाध्याय के एकमात्र ग्रथ 'पारिजातहरण' से हम लोग परिचित है। इस से यह मालूम होता है कि इन के पृष्ठपोषक हरिहरदेव नामक एक राजा थे। इन के सबध में कवि ने कहा है कि यह अनेक छोटे-छोटे राजाओ के अधिपति थे[3]। इन का बार-बार हिंदूपति नाम से कवि ने उल्लेख किया है[4]। इन का विशेष वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—"जिन का मुख पूर्ण चद्र है, वचन अमृत है, दिग्विजयश्री ही जिन की राज्यलक्ष्मी है, जिन के बाँह पारिजात वृक्ष है, युद्धक्षेत्र में जिन की टेढी भौहे कालकूट स्वरूप है, जिन का तीव्र तेज बाड़वानल ही है, जिन की सेवा मे छोटे-छोटे राजा लोग लगे रहते है, जो गुणो के समुद्र ऐसे अतुलनीय गुणो से युक्त मिथिलेश[5] जिन की भयकर तलवार ने यवनो के मुंडो को काट कर लुप्तप्राय चारो वेदो के मार्ग को प्रकाशित कर दिया है, ऐसे विष्णु भगवान के दशमावतार[6] हिंदूपति श्री हरिहरदेव है।"[7] इन की पटरानी महारानी

---

[1] गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः।
कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य च ॥

[2] वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः सन्दर्भशुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुतेः।
श्रृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन—
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरो धोयी(ई)कविक्ष्मापतिः—
सर्ग १, श्लोक ४

[3] सकलनृपपति—पारिजातहरण, पृ० ५, १४, २१ (मिथिलाप्रकाशपरिषद्संस्करण)

[4] हिंदूपति-पा० ह०, पृ० १, २, ५, ६, ८, ९, १४, १५, १७, १८, २१, २२, २५

[5] यस्यास्यं पूर्णचन्द्रः स्ववचनममृतं दिग्जयश्रीश्च लक्ष्मीः
दोः स्तम्भः पारिजातो भ्रुकुटिकुटिलता संगरे कालकूटः।
तीव्रं तेजोऽग्निरौर्वः पदभजनपरा राजराज्यस्तटिन्यः
पारावारो गुणानामयमतुलगुणः पातु वो मैथिलेशः ॥
पा० ह०, पृ० २

[6] अतएव कवि ने पुनः कहा है—'सकलयवलवनवरदावानलदश अवतारा'—पा० ह०, पृ० २१
विष्णु का दशमावतार कल्कि है—जैसा कि जयदेव ने कहा है—
म्लेच्छनिवहनिधने कलयसि करवालं
धूमकेतुमिव किमपि करालम्।
केशव धृतकल्किशरीर जय जगदीश हरे—गीत० स० १, श्लो० १०

[7] पा० ह० पृ० २

माहेश्वरी देवी थीं,[1] जिन को कवि ने अनेक बार जगमाता कहा है[2]। हरिहरदेव बड़े विद्वान और रसिक थे[3]। मिथिला का इतिहास यद्यपि अंधकार में अभी भी पड़ा है तथापि यह मालूम है कि हरिहरदेव नामक ऐसा प्रतापशाली राजा कोई ब्राह्मण वंश में नहीं हुआ है। कन्नौजाधिपति महाराज हर्षवर्धन के मरने के बाद कुछ दिनों तक (६४८-७०३ ई०), मिथिला तिब्बत के अधीन थी[4] तथा इस के बाद नेपाल के राज्य के भी अधीन कुछ दिनों तक रही है, किंतु हरिहरदेव नामक मिथिलेश का कुछ भी पता नहीं लगता है। अतएव जब तक कुछ विशेष प्रमाण नहीं मिलता तब तक यह कहा जा सकता है कि हरिहरदेव प्राय कार्णाटकुल-चूडामणि मिथिलेश 'हरिसिंहदेव' ही का नामांतर है। यद्यपि मिथिला में उक्त मिथिलेश 'हरिसिंहदेव' ही के नाम से पूर्ण प्रसिद्ध है किंतु नेपाल की वंशावली नामक पुस्तक के डेनियल राइट द्वारा किए गए अनुवाद को देखने से यह मालूम होता है कि इन का दूसरा नाम हरिदेव[5] भी था। यह रामसिंहदेव के पुत्र, शक्तिदेव के पौत्र, नरसिंहदेव के प्रपौत्र, गंगदेव के वृद्धप्रपौत्र तथा सिमरॉवगढ़ के प्रसिद्ध राजा नान्यदेव के अतिवृद्ध-प्रपौत्र थे। हरिहरदेव के संबंध में जो कुछ उमापति ने कहा है सब एक एक कर के हरिसिंहदेव के गुणों से मिलता है। यद्यपि यह अवश्य मानना पड़ेगा कि कवि ने अत्युक्तियों की भरमार दिखाई है, किंतु सर्वथा निर्मूल आधार पर अत्युक्ति हो ही नहीं सकती। और फिर भी इतिहास से यह पता लगता है कि जब गयासुद्दीन तुगलक १३२१-१३२५ के बीच दिल्ली से लखनौटी के ऊपर आक्रमण करने को जा रहा था तब वह मिथिला होते हुए गया। मुसलमान ऐतिहासिकों ने यद्यपि लखनौटी की विजय का बहुत

---

[1] पा० ह०, पृ० ३, ६, ८, १३, १७, २२

[2] पा० ह०, पृ० ५, ९, १७ [3] पृ० २१

[4] विंसेंट स्मिथ, 'नेपाल, तिरहुत तथा तिब्बत', जर्नल अव् दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, जिल्द ३, भाग ४, पृ० ५५५-५६

[5] 'वंशावली' में भी 'हरिदेव' और 'हरिसिंह' ये दोनों नाम दो भिन्न भिन्न राजाओं के दिए हैं। किंतु प्रायः यह भूल है। वंशावली के अनुसार हरिदेव के २२५ वर्ष बाद हरिसिंहदेव का राज्यकाल कहा जाता है। ऐसा होने से हरिसिंहदेव लगभग १५४० ई० में रहे होंगे, यह मानना होगा जो कि सर्वथा असंभव है। ऐसे तो नान्यदेव (१०९७) ने लगभग ५० वर्ष, गंगदेव ने ४१ वर्ष, नरसिंहदेव ने ३१ वर्ष, शक्तिदेव ने ३९ वर्ष, रामसिंह ने ५८ वर्ष तक राज्य किया और इन के बाद हरिदेव या हरिसिंहदेव का १३१७ ई० के लगभग होना निश्चित होता है, और यह अन्य ग्रंथों से भी मिलता है।

कुछ वर्णन किया है, किंतु तिरहुत (मिथिला) के संबंध में कुछ भी नहीं कहा है। इस से यह ज्ञात होता है कि उस यात्रा में मिथिला के राजा के साथ जो लड़ाई हुई उस में गयासुद्दीन को विजय नहीं मिली प्रत्युत संस्कृत-विद्वानों के लेख से यह ज्ञात होता है कि यवन सेना बहुत ही बुरी तरह पराजित हुई थी[१] यद्यपि लखनौटी में लौटने के बाद गयासुद्दीन ने ही हरिसिंहदेव को १३२४ ई० में पराजित कर नेपाल को भगाया था[२]। मुसल्मानों के विरुद्ध लड़ने के कारण ही इन्हें बारबार कवि ने 'हिंदूपति' कहा है, अन्यथा 'हिंदू' शब्द के प्रयोग की कुछ भी सार्थकता नहीं मालूम होती। और इसी लिए इन्हें कवि ने कल्कि अवतार भी बनाया है। इन्हीं के राज्य-प्रबंध में मिथिला में अनेक प्रकार की सामाजिक उन्नति हुई, जिस का प्रभाव अद्यावधि मिथिला में पूर्ण-रूप से वर्तमान है। इसी कारण इन्हें 'मिथिलेश' की उपाधि से भी कवि ने भूषित किया है। उन दिनों इन के समान प्रतापी राजा दूसरा नहीं था, और छोटे-छोटे राज इन के अधीन थे। अतएव 'सकल, नृपपति' भी इन्हें कहा है। इन सब कारणों से जैसा ग्रीयर्सन साहब ने कहा है, मुझे भी अभी यही मालूम होता है कि 'हरिहरदेव' 'हरिसिंहदेव' ही का दूसरा नाम था। यदि यह अनुमान ठीक हो तो हरिसिंहदेव का समकालीन इन्हें कहना होगा। हरिसिंहदेव तेरहवीं शताब्दी के अंत से चौदहवीं के आदि तक थे। इस लिए उमापति भी तेरहवीं में थे।

यह तो हुआ अपने मत के समर्थन में। अब दूसरे मत के विपक्ष में यह जानना

---

[१] (क) मग्ना म्लेच्छमहार्णवे वसुमती येनोद्धृता लीलया
विध्वस्तावनवैरिणः क्षितिभुजां लक्ष्मीः समासादिता—
चंडेश्वरठक्कुररचित दानरत्नाकर के अंत में

(ख) नानायोधविरुद्धनिर्ज्जितसुरत्राणस्य सद्वाहिनी-
नृत्यद्भीमकबन्धमेलकदलद्भूमिभ्रमद्भूधरः।
अस्ति श्रीहरिसिंहदेवनृपतिः कर्णाटचूडामणि-
र्दुह्यत्पार्थिवसार्थमौलिमुकुटन्यस्तांघ्रिपंकेरुहः—

धूर्तसमागमनाटक

(ग) अस्ति श्रीहरिसिंहदेवनृपतिर्निःशेषविद्वेषिणां निर्माथी—

कृत्यरत्नाकर

[२] कृत्यरत्नाकर की भूमिका. पृ० ९ बिबलोथिका संस्करण।

आवश्यक है कि महाराजा राघवसिंह के राज्य के समय अथवा उन के पूर्व या ठीक पश्चात् कोई ऐसा प्रतापी हरिहरदेव नाम का राजा नहीं हुआ जिसे कोई मैथिल 'मिथिलेश' कह कर सबोधन करे। उन दिनो यदि कोई मिथिलेश कहलाने के योग्य थे तो महाराज राघवसिंह ही थे। उन का नाम हरिहरदेव नहीं था। मैथिलो का एकमात्र कहना यह है कि महाराज राघवसिंह के दरबार मे धर्मशास्त्र के सबध में विचार करने के निमित्त एक सभा हुई जिस मे उमापति उपाध्याय भी निमंत्रित हुए। यह मधुवनी के समीप दरभगा मे मंगलवनी (मगरौनी) नामक ग्राम मे रहते थे और बहुत वृद्ध थे। बरसात का दिन था, दरभगा और मधुवनी के बीच एक प्रकार मे जलामय था, और लोग केवल नाव मे हो कर ही आ जा सकते थे। उमापति बडे धुरधर विद्वान थे, अतएव उन का आना बहुत आवश्यक समझा गया। किंतु अपनी अवस्था और भीषण जलप्रवाह को देख कर उमापति उपाध्याय ने महाराज को एक पत्र लिखा जिस का एक अश यह है कि—

हम अतिवृद्ध नदी मरखाही[1]।
एकठा नाओ[2] चढ़ब नहिँ ताही ॥
गोकुलनाथ कहइछथि जएह।
हमरो सम्मति जानब सएह ॥

महामहोपाध्याय गोकुलनाथ उपाध्याय अठारहवी शताब्दी के एक अद्भुत विद्वान[3] मिथिला मे हुए हैं, जिन के बनाए हुए लगभग पचासो ग्रथो से मैथिल विद्वान परिचित है। इन का भी वास-स्थान मगरौनी ही था और यह यद्यपि नवीन थे किंतु विद्वत्ता के प्रभाव से राजसभा मे निमंत्रित थे। बस एकमात्र इसी दतकथा के आधार पर मैथिल पंडित चेतनाथ झा ने (और जैसा कि मैथिलो की धारणा भी है) उमापति को अठारहवी

---

[1] भयावनी, जिस के पार उतरने में प्राण-भय हो।

[2] एक ही काठ की बनी हुई नाव।

[3] इन की विद्वत्ता का परिचय निम्न-लिखित श्लोक से हो सकता है—

मातर्गोकुलनाथनामकगुरोर्वाग्देवि तुभ्यं नमः
पृच्छामो भवतीं महीतलमिदं त्यक्त्वैव यद्गच्छसि।
भूलोके वसतिः कृता मम गुरौ स्वर्गे त्वया गीष्पतौ
पाताले फणिनायके भगवति प्रौढिः क्व लब्धाऽधिका॥

शताब्दी में रक्खा है। परन्तु उक्त सब युक्तियों पर विचार करने से पंडित चेतनाथ झा जी का मत उतना प्रबल नहीं है, जितना कि ग्रीयर्सन साहब का, जिस में मैं पूर्णतया सहमत हूँ, तथा जिस के प्रमाण में ऊपर अनेक युक्तियाँ दी गई हैं।

इस के अतिरिक्त एक और भी प्रमाण है। मैथिल कवि विद्यापति ठाकुर का समय १३५० से १४४० ई० तक कहा जाता है। तुलनात्मक विचार करने से यह भासित होता है कि उमापति की कविताओ का प्रभाव विद्यापति की कुछ कविताओ पर स्पष्ट है, जिस के कुछ उदाहरण यहाँ देना आवश्यक है--

(१) कुछ कविताओं के अंत में उमापति ने लिखा है "पुनमति भजु भगवाने"[१] इसी के अनुसार कवि विद्यापति ने भी एक जगह[२] "गूजरि भजु भगवाने" लिखा है।

(२) उमापति ने प्राय सब कविताओ के अंत मे अपने पृष्ठ-पोषक राजा का उल्लेख किया है। उसी प्रकार विद्यापति मे भी देख पडता है। कही-कही कविता के अंत मे उमापति ने अपने प्रिय राजा की स्त्री के नामोल्लेख पूर्वक उल्लेख किया है, उसी प्रकार विद्यापति की कुछ कविताओ मे है। दोनो के शब्द भी प्राय एक ही है, जैसे 'माहेसरि देइ विरमाने'[३] (उमा०); 'हिंदूपति जाने'[४] (उमा०); 'लखिमा देइ रमाने'[५] (विद्या०), 'राजा सिवसिंह ई रस जान'[६] (विद्या०); 'हिंदूपति जिउगति सब रस जाननि हारा'[७] (उमा०), 'रस बुझ हिंदूपति हिंदूपति'[८] (विद्यापति), 'हिंदूपति रसविन्दक सुमति उमापति भान' (उमा०)[९]।

(३) नायिका की 'कनकलता' से दोनो ने उपमा दी है। जैसे--

**कनकलता सनि सुंदरि सजनि गे**
**विहि निरमाओल आनि;**
**कनकलता अति बिपरित**
**फरल जुगल गिरी;**

---

[१] पा० ह०, पृ० ६, ८, १०  [२] विद्यापतिपदावली, पृ० ८३ (लहेरियासराय संस्करण)
[३] पा० ह०, पृ० ६, ८, १५, १७  [४] पा० ह०, पृ० ८, ९, १३, १७
[५] वि० प०, पृ० २५, ४३, १०४  [६] वि० प०, पृ० १२२, १२३
[७] पा० ह०, पृ० २१  [८] वि० प०, पृ० १०७  [९] पा० ह०, पृ० ३

अवलम्बन उझल

हरिनहोत हिमधामा;[1]

मनिमय भूषन अंग अमूल,

कनकलता जनि फूलल फूल।[2]

इन दोनों कवियों के प्रयोग को देख कर यह मालूम होता है कि उमापति का ही अधिक स्वाभाविक और आदर्श प्रयोग है।

(४) और फिर कविताओं को लीजिए—

चानन भरम सेबलि हम सजनी
पूरत सब मन काम।
कंटक दरस परस भेल सजनी
सीमर भेल परिनाम[3]॥

—विद्यापति

हरि सउँ प्रेम आस कए लाओल,
पाओल परिभव ठामे।
जलधर छाहरि तर हम सुतल हुँ,
आतप भेल परिनामे[4]॥

—उमापति

हमर बचन यदि नहिँ परतीत
बुझि करह साति जे होय उचीत।
भुजपास बाँधि जघनतर तारि
पयोधर पाथर हिय दह भारि।
उरकारा बाँधि राख दिन राति
विद्यापति कह उचित इह साति।

—विद्यापति।

[1] वि० प०, पृ० २४, २५, २६ [2] पा० ह०, पृ० ८
[3] वि० प०, पृ० १९६ [4] पा० ह०, पृ० १४

मानिनि मानहु जउँ मोर दोसे

शास्ति करिअ बरु न करिअ रोसे।

भौंह कमान बिलोकन बाने

बेधहु विधुमुखि कए समधाने।

पीन पयोधर गिरिवर साधी

बाहुफाँस धनि धरु मोहि बाँधी।

की परिणति भए परसनि होही

भूषण चरणकमल देहु मोही।

—उमापति

और देखिए कौन स्वाभाविक तथा आदर्श मालूम होता है। सभव है कि "रुचीनां वैचित्र्या-दृजुकुटिलनानापथजुषाम्" मे एक मेरा भी मत हो, किंतु अपनी रुचि के विरुद्ध भी किस प्रकार मै कहूँ। अथवा अनत. नाम के सादृश्य ही मे हो, मै तो उमापति की ही कविता को आदिम कहने का साहस करता हूँ।

और भी देखिए—

अरुन पुरब दिसा बितलि सगरि निसा

गगन मगन भेल चंदा।

मूदि गेल कुमुदिनि तइओ तोहर धनि

मूदल मुख अरविंदा ॥१॥

चाँद बदन कुबलय दुहु लोचन

अधर मधुरि निरमान।

सगर सरीर कुसुम तोंए सिरिजल

किए दहु हृदय पखान ॥२॥

असकति करहु ककन नहि परिहहु

हार हृदय भेल भार।

गिरि सम गरुअ मान नहि मुंचसि

अपरुब तुअ बेबहार ॥३॥

अवगुन परिहरि हेरह हरखि धनि
मानक अवधि विहान।
राजा सिवसिंघ रूपनरायन
कवि विद्यापति भान[1] ॥४॥

यह कविता विद्यापति की नही है, इस मे तो मुझे कुछ भी संदेह नही मालूम होता। किंतु यहाँ तो 'भनिता' के देखने मे लोगो को मेरा कथन सर्वथा असगत मालूम पड़ेगा। हो सकता है कि लोगो ने बाद में 'भनिता' बदल कर विद्यापति के नाम से इसे प्रसिद्ध कर दिया हो, जैसा कि अनेक छोटे-छोटे कवियों ने बाद को अपनी कविता के प्रचारार्थ किया भी है। किन्तु उत्तम कवि इस प्रकार कभी नही कर सकते। यदि सभी ऐसा ही करते तो और कवियो का नामनिशान भी नही देख पड़ता, विशेष कर उन का जो कि यथार्थ मे स्वयं भी विद्यापति से अपने को नीचा समझते है। इस कविता का यथार्थ स्वरूप यों है—

अथ मावलरागे गीतम्।

ओगे मानिनि! ध्रु०

अरुन पुरुब दिसि बहलि सगरि निसि
गगन मलिन भेल चंदा।
मुनि गेलि कुमुदिनि तइअओ तोहर धनि
मूनल मुख अरविंदा ॥१॥
कमल वदन कुवलय दुहु लोचन
अधर मधुरि निरमाने।
सगर सरीर कुसुम तुअ सिरजल
किए तुअ हृदय पखाने ॥२॥
असकति कर कंकन नहिँ परिहसि
हृदय हार भेल भारे।

[1] वि० पदावली, पृ० १३८

गिरिसम गरुअ मान नहिं मुचसि
अपरुब तुअ बवहारे ॥३॥
अवगुन परिहरि हरखि हेरु धनि
मानक अवधि बिहाने।
हिमगिरिकूमरि चरन हृदय धरि
सुमति उमापति भाने[1] ॥४॥

'भनिता' से यह लोगो को मालूम होता है कि इन पद्यो के रचयिता उ
। इस के समर्थन मे दूसरा प्रमाण यह है, कि इन प्रत्येक पद्यो के बाद उमापति
ाव के सस्कृत मे भी पद्य रचे है, और प्रत्येक के आदि में 'एतस्मिन्नर्थे श्लोकः' ऐस
, जिस से यह ज्ञान होता है कि मैथिली और सस्कृत दोनो ही पद्य उमापति के
। अन्यथा कभी ये अपने ग्रथ मे नही लिखते। एक ही भाव को दोनो भाषाओ मे
रने की प्रथा अनेक ग्रथो में देख पडती है। 'पारिजातहरण' मे तो सर्वत्र ऐसा
ब उन संस्कृत श्लोको को भी यहाँ मै उद्धृत कर देना आवश्यक समझता हूँ—

रुचिर्गलति कौमुदी शशिनि कौमुदी हीयते
वदन्ति कलमन्तः (कमलन्तः) शृणु समन्तः कुक्कुटाः।
पुरोदिगतिरोहिताः परितिरोहितास्तारकाः
कथं तव वरोरु हे मुखसरोरुहे मुद्रणम् ॥१॥
आस्यन्ते सरसीरुहेण रचितं नीलोत्पलाभ्यां दृशौ
वन्धूकेन रदच्छदौ तिलतरोः पुष्पेण नासापुटम्।
इत्येवं विधिना विधाय कुसुमैः सर्वं वपुः कोमलं
क्रूरम्मानसमश्मना पुनरिदं कस्मादकस्मात्कृतम् ॥२॥
कान्ते किं तव कञ्चुकं न कुचयोर्नो हस्तयोः कङ्कणं
दोर्वल्ली वलयावलीमपि न दौर्बल्येन विन्यस्यसे।
हारं भारमिवापधारयसि चेदेवं गुरुम्मेरुवत्
मानम्मानिनि किं न मुञ्चसि मनाक् तं भावमावेदय[2]॥३॥

---

[1] पा० ह०, पृ० १५-१६ [2] पा० ह०, पृ० १५–१६

इस के अतिरिक्त कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग देख पडता है जिस से कि उमापति का बहुत ही प्राचीन होना सिद्ध होता है। जैसे—'करु'[१] (कर के), 'पुनु' (पुन), 'होमल' (होम करता है)[२], 'थापल' (रखना) तथा 'बिरमान'[३] (प्रिय), 'फुल्लिआ, मल्लिआ'[४] 'चूअ' (आम)[५], 'अवतरु' (नीचे उतरते है)[६], 'समाज' (समीप)[७], 'काहि' (किसको)[८], 'अपनुक' (अपना)[९], 'सउँ' (से) तथा 'जेउँ' (यदि)[१०] 'किअ' (किस)[११]; 'जिउ'[१२] इत्यादि।

इन सब कारणो से मुझे यही मालूम होता है कि उमापति बहुत ही प्राचीन कवि है एव विद्यापति से भी प्राचीन कहे जायँ तो कुछ अनुचित नही है। ऐसा मानने से विद्यापति से कम से कम ५० या ६० वर्ष उमापति को पूर्व मानना होगा। इस से भी उमापति का तेरहवी शताब्दी के अन्त मे होना सिद्ध होता है। पडित चेतनाथ झा जी के अनुसार महाराज राघवसिंह के समकालीन कोई दूसरे ही उमापति रहे हो तो कोई आश्चर्य नही। 'पदार्थीयदिव्यचक्षु' नामक न्याय-ग्रथ के कर्त्ता वेदवेदागपारग श्रीरत्न-पति उपाध्याय के पुत्र भी एक उमापति थे जिन की माता रत्नावती देवी थी।[१३] एवं 'शुद्धिनिर्णयकार' भी उमापति ही थे। ये दोनो तो मैथिल ही थे। इन के अतिरिक्त भी कोई उमापति रहे हो यह भी सभव है, तथा रत्नपति ही के पुत्र 'पारिजातहरण'-कर्त्ता रहे हों यह भी कहा जा सकता है।

'पारिजातहरण' नाटक के नाम से प्रसिद्ध है, किन्तु यथार्थ में यह उपरूपक[१४] है। इस मे केवल एक मात्र अक है। यह नाटक वीर-रस का है। यह 'सकलयवनवन-वरदावानलदशमदेव अवतार' महाराज हरिहरदेव की आज्ञा से लिखा गया और खेला

---

[१] पा० ह०, पृ० २ [२] पा० ह०, पृ० ३ [३] पा० ह०, पृ० ३ ये शब्द विद्यापति मे भी मिलते हैं। [४] पा० ह०, पृ० ४ [५] पा० ह०, पृ० ४ विद्यापति में 'चूत' मिलता है। [६] पृ० ५ [७] पृ० ५ [८] पृ० ६ [९] पृ० १२ [१०] पृ० १४ [११] पृ० १४ [१२] पृ० ८ 'जिउ' शब्द 'जी' अर्थ में यद्यपि मिथिला में कहीं कहीं अभी भी प्रयुक्त होता है किंतु है यह बहुत प्राचीन। म० म० हरप्रसाद शास्त्री जी के अनुसार 'जीउ' शब्द हर्जरवर्मा के तेजपुर के शिलालिपि गुप्त सं० ५१० में है—'जर्नल अव्.दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी', जिल्द २, पृ० ५११

[१३] रत्नावतीरत्नपत्योः पित्रोः पूर्वतपोबलात्।
आतनोति पदार्थीयदिव्यचक्षुरुमापतिः॥

[१४] उपरूपकों में भी केवल 'श्रीगदित' नाम का यह हो सकता है।

भी गया। सूत्रधार के कथनानुसार इस उपरूपक का नाम 'नवपारिजातमंगल है'। 'नव' शब्द से यह अनुमान होता है कि इस से प्राचीन कोई 'पारिजातहरण' नामक ग्रंथ मैथिली में रहा होगा।

इस की कथा इस प्रकार है। एक समय द्वारिका में रुक्मिणी के साथ श्रीकृष्ण भगवान बैठे थे, कि नारद जी उन के दर्शन के निमित्त स्वर्ग से आ पहुँचे। मार्ग में आते हुए उन्हे एक पारिजात का फूल मिला था उसे उन्होंने श्रीकृष्ण भगवान को समर्पण किया जिसे श्रीकृष्ण जी ने सोच कर अपनी ज्येष्ठ देवी रुक्मिणी को दिया। इस से रुक्मिणी का मान सब से बढ गया। सत्यभामा अपनी सखी सुमुखी के साथ वहीं खड़ी थीं। पहले तो उन्हे भी रुक्मिणी ही को फूल का मिलना अच्छा लगा, किंतु पीछे सुमुखी के बहकाने से वह रूठ गईं और कोप-भवन मे जा कर लेट गईं।

जब यह समाचार श्रीकृष्ण जी को प्राप्त हुआ तो वह वहाँ गए और बड़े परिश्रम से अनुनय-विनय दिखाने पर सत्यभामा को समाश्वासन दिया। किंतु सत्यभामा ने कहा कि 'जब तक आप मुझे पारिजात का वृक्ष नही ला देंगे तब तक मै किस प्रकार घर से निकल सकती हूँ? मेरा अपयश सारे संसार मे फैल गया। सखियाँ ताली बजा बजा कर मेरी हँसी करती है। स्वामी ने मेरा अपमान किया इस संकोच से मै मरी जा रही हूँ। इन सब का एक मात्र उपाय यह है कि आप मुझे पारिजात वृक्ष ला दे।'

यह सुन कर श्रीकृष्ण ने तुरत नारद को इंद्र के पास भेजा और कहलाया कि पारिजात वृक्ष शीघ्र यहाँ भेज दे। किंतु इंद्र ने गर्व मे आ कर कहा कि हे नारद तुम जा कर कृष्ण से कह दो कि—

**पारिजातदलं यावत्सूचिकाग्रेण विध्यते।**
**तावत्कृष्ण बिना युद्धं मया तुभ्यं न दीयते॥**

यह समाचार नारद के मुख से सुन कर श्रीकृष्णचंद्र ने अर्जुन के साथ गरुड के ऊपर सवार हो इंद्र से लड़ने के निमित्त प्रस्थान किया। उधर से इंद्र ऐरावत पर सवार हो हजारो घोड़ो को ले कर अपने पुत्र जयंत के साथ लडने को आए। दोनो दलो मे घोर लड़ाई होने लगी। आकाश मे देवलोक, शिव-पार्वती आदि सभी युद्ध देखने को आए। एक तरफ़ इंद्र और कृष्ण मे, दूसरी तरफ़ अर्जुन और जयंत मे घमासान लडाई होने लगी। अंत में

श्रीकृष्ण ही की जय हुई और पारिजात वृक्ष को उखाड़ कर उन्हो ने गरुड़ की पीठ पर रख लिया। पीछे से महादेव जी ने आ कर आपस में समझौता भी करा दिया।

पारिजात वृक्ष ले कर श्रीकृष्णचन्द्र द्वारिका लौट आए और सब के समक्ष उसे सत्यभामा को दे दिया। सत्यभामा ने प्रणाम कर उसे स्वीकार किया। पीछे से नारद ने कहा कि 'हे सत्यभामे ! इस वृक्ष के नीचे जो दान किया जाता है वह अक्षय होता है इस लिए इसे अपने आँगन में लगाओ और सब से प्रिय जो तुम्हारी वस्तु हो उसे इस के नीचे दान करो।'

सत्यभामा ने कहा कि 'मुझे आर्यपुत्र श्रीकृष्णचद्र से बढ़ कर प्रिय और क्या है ?' नारद ने कहा 'फिर तो इन्हें ही दान कर मुझे दो। गौरी ने शिव को और शची ने इंद्र को इसी के नीचे दान कर मुझे दिया है। तुम भी वैसा ही करो।' झट सत्यभामा ने तिल्कुश और गगाजल हाथ में ले सकल्प पढ नारद को श्रीकृष्ण का दान और दक्षिणा भी दे दिया। इसी तरह सत्यभामा के कहने से सुभद्रा ने अर्जुन को दान कर दिया।

नारद दोनों को ले कर बहुत प्रसन्न हुए और कहा कि तुम दोनो अब मेरे दास हो। मेरी सेवा करो और जहाँ मैं जाऊँ वहाँ अपने कंधे पर उठा कर मुझे ले चलो। वे दोनो भी ब्राह्मण के सेवक होने से अत्यन्त प्रसन्न हुए। किंतु बाद को नारद ने सोचा कि तीनो लोक को अपने पेट मे रखने वाले श्रीकृष्ण तथा वृकोदर के छोटे भाई अर्जुन इन दोनो के पेट मुझ गरीब ब्राह्मण से कभी नहीं भरे जा सकते, इस लिए इन्हे बेच दूँ तो अच्छा हो।[1] तुरंत इन को बेचने के लिए तत्पर हो गए और एक एक गाय के बदले इन्हे सत्यभामा तथा सुभद्रा के हाथ बेच डाला। वे दोनो अपने सर्वस्व धन को पुन. खरीद कर बहुत ही आनंदित हुई।

यह कथा 'विष्णुपुराण' (५–३०, ३१), 'श्रीमद्भागवत' (१०–५९) तथा 'हरिवंश' मे है। उमापति ने हरिवंश का अनुसरण किया है, अंतर इतना है कि युद्ध के लिए प्रद्युम्न को न ले जा कर अर्जुन को ले गए।

---

[1] इस से भी यह ज्ञात होता है कि मिथिला में दास-क्रयविक्रय प्रथा बहुत दिनों से थी। कुछ ही दिन पूर्व तक यह प्रथा वर्तमान थी। विद्यापति ने अपनी 'लिखनावली' में इस प्रथा की लिखावट के नमूने को दिखाया है।

नाटक भाषा में बहुत अल्प देख पड़ते है किंतु मैथिली में ऐसे अनेक नाटक है, जैसे 'उषाहरण' इत्यादि। कवि ने 'मार्कंडेय पुराण' के आधार पर शक्ति की उपासना स्वरूप मंगलाचरण किया है और वीररसावेश के समुचित विषय, शब्द-विन्यास तथा लबे-लबे मैथिली में भी समस्त पद का समावेश इस मे किया है। जैसे—

**धूमरनयनभसममण्डिनि, चण्डमुण्डकुहुशिरखण्डिनि।**
**सबसुरशक्तिरूपधारिणि, सेवक सबहुक उपकारिणि। इत्यादि।**

इसी प्रकार सस्कृत मे भी एक नान्दी श्लोक है जिस में कवि ने वाराहावतार भगवान का वर्णन किया है। इस वर्णन से भी यह सूचित होता है कि इस उपरूपक में वीर-रसप्रधान है, तथा किसी का उद्धार हुआ है। इस के अतिरिक्त यह कविता का प्राचीन होना भी सूचित करता है। नवीन कवि प्राय इतने प्राचीन भाव को नही ग्रहण करते।

मैथिली के अन्य प्राचीन नाटकों के समान इस मे भी सस्कृत का मिश्रण है। प्रधान पुरुष पात्र संस्कृत में तथा स्त्रियाँ प्राकृत [1] मे बोलती है। गान सब मैथिली मे है। सस्कृत के श्लोक बहुत ही सरल किंतु अत्यन्त मधुर है। इस से भी इन का प्राचीनत्व सूचित होता है। इस के अंत में भरतवाक्य भी मैथिली तथा सस्कृत में है। इस नाटक मे, मालव, वसंत, बराडी, असावरी, पंचम, राजविजय, नट, कौडाव, विभास, केदार तथा ललित आदि रागो के उत्तम उदाहरण है।

मैथिली गान सब बहुत ही उच्च कोटि के, अत्यंत मधुर, भाव गंभीर तथा सरस है। कुछ पद्य तो अतुलनीय मालूम होते है। विद्यापति से भी बढ़े-चढे है। इन के पद्य तो बहुत ही थोडे है, किंतु सभी चुने हुए है। उपमाएँ भी बहुत कुछ मौलिक कही जा सकती है। पाठकों के विनोदार्थ थोडे से पद्य यहाँ उद्धृत किए जाते है—

**चान्दकला नयनानल थापल**
**मान्दल सुख भुजंग वरा।**
**अमिय सार हरि अविरल होमल**
**हसल सकल सुर असुर नरा ॥१॥**

---

[1] **सर जार्ज ग्रीयर्सन ने इसे शौरसेनी प्राकृत बतलाया है। देखो 'जर्नल अव् बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी', जिल्द ३, पृ० २३**

गांग भिजाय भांग भउ भोजन
सेज ओछाओल बाघछला ।
दीप समीप बरय फणिमणिगण
देवि देव दुहु मन मिलला ॥२॥
भाव भगति भावित भगवति भव
देथु सदा जय अभयवरा ॥३॥

इन में अनुप्रास तथा उपमानोपमेय की छटा कैसी है ! और फिर भी भाव कितना सुंदर तथा गंभीर है। ये सब गुण अन्य कविताओं में भी मिलते हैं।

वसंत-वर्णन—

अनगनित किंशुक चारु चम्पक बकुल बकुहुल फुल्लिआ ।
पुनु कतहु पाटलि पटलि नीप नेवारि माधवि मल्लिआ ॥

अति मंजु बंजुल पुञ्ज पिञ्जल चारुचअ विराजहीँ ।
निज मधुहि मातल पल्लवच्छवि लोहितच्छवि छाजहीँ ॥

पुनु केलिकल कतहु आकुल कोकिला-कुल कूजहीँ ।
जनि तीनि जग जिति मदन नृप मनि विजयराज सुराजहीँ ॥

नवमधुर मधुरस मुगुध मधुकर निकर निकरस भावहीँ ।
जनि माननीजन मान-भंजन मदनगुण गुरु गावहीँ ॥

वह मलय परिमल कमल उपवन कुसुम सौरभ सोहहीँ ।
रितुराज रैवत सकल दैवत मुनिहु मानस मोहहीँ ॥

नारद आकाश से नीचे उतर रहे हैं किंतु दूर होने के कारण तथा उनका तेजमय शरीर होने से ठीक पता नहीं चलता है कि यह कौन है। इसी के संबंध कवि ने कहा है—

अवतरु अवनी तेजि अकास ।
न थिक दिवाकर न थिक हुतास ॥
धोती धवल तिलक उपवीत ।
ब्रह्मतेज अति अधिक उदीत ॥

वैणवदंड बेद कर शोभ।
आवथि नारद दरसन लोभ ।।

इसी भाव का श्लोक हमें 'माघ' काव्य में नारद ही के संबंध में मिलता है। संभव है उमापति के मन में रचना के समय माघ का भी श्लोक रहा हो। माघ का श्लोक यों है—

द्विधा कृतात्मा किमयं दिवाकरो
विधूमरोचिः किमयं हुताशनः।
—सर्ग १, श्लोक २

कृष्ण का वर्णन—

कनक मुकुट मँह मणि भल भासा।
मेरुशिखर जनि दिनमणि बासा ।।
सुन्दर नयन वदन सानंदा।
उगल युगल कुवलय लय चंदा ।।
पीअर वसन तनु भूषण मनी।
जनि नवघन उग दामीनि ।।
बन माला उर उपर उदारा।
अंजनगिरि जनि सुरसरि धारा ।।

सत्यभामा के मान का वर्णन—

कि कहब माधव तनिक विशेशे।
अपनहु तनु धनि पाब कलेशे ।।
अपनुक आनन आरसि हेरी।
चानक भरम काप कत बेरी ।।
भरमहु निज कर उर पर आनी।
परसए तरस सरसीरुह जानी ।।
चिकुर निकर निज नयन निहारी।
जलधर जाल जानि हिअ हारी ।।

अपन वचन पिकरब अनुमाने ।
हरि हरि तेहु परि तेजय पराने ।।
माधव आबहु करिअ समधाने ।
सुपुरुष निठुर रहय न निदाने ।।

सत्यभामा कृष्ण के प्रेम के सबधमे कहती हैं—

हरि सउँ प्रेम आस कए लाओल
पाओल परिभव ठामे ।
जलधर छाहरि तर हम सुतलहुँ
आतप भेल परिनामे ।
सखि हे मन जनु करिअ मलाने
अपन करमफल हम उपभोगब
तोहेँ किअ तेजह पराने । ध्रु० ।
पुरुष पिरिति रिति हुनि जउँ बिसरब
तइओ न हुनकर दोसे ।
कतेक जतन धरि जउँ परिपालिअ
साप न मानय पोसे ।
कबहु नेह पुनु नहिँ परगासिअ
केवल फल अपमाने ।
वेरि सहस दस अमिअ भिजाबिअ
कोमल न होअ पखाने ।

उमापति ने अपने नाम के साथ 'गुरु' शब्द का कई बार प्रयोग किया है[1]। इस से कभी मन मे यह आता है कि प्राय राजा हरिहरदेव के यह दीक्षागुरु थे। अन्यथा अपने को 'गुरु' कहना किसी प्रकार संगत नही मालूम होता है। इस मे यह भी सूचित होता है कि उमापति तो मैथिली ब्राह्मण थे, और हरिहरदेव क्षत्रिय थे, जिन्हो ने उमापति से

[1] भन गुरु उमापति—पा० ह०, पृ० ३, ५, १४

दीक्षा ग्रहण की थी। और इसी से भरतवाक्य ने तथा मंगलाचरण मे जो आशीर्वाद है वह भी चरितार्थ होता है।

उमापति शक्ति के उपासक थे, यह एक तो उन के मैथिल होने ही से सिद्ध है, द्वितीय उन के ग्रंथ मे शक्ति की आराधना देख कर भी मालूम होता है। यह अन्य मैथिलो के समान वैष्णव तथा शैव भी थे। वैष्णव थे, इस के प्रमाण मे तो उन के 'पारिजातहरण' में विष्णु की चरितगाथा ही पर्य्याप्त कही जा सकती है। उन के शैव होने का भी एक प्रमाण स्पष्ट है। इस ग्रंथ मे एक स्थान मे इन्हो ने लिखा है 'मोर शंभुक मीत'[1]। यहाँ 'मोर' शब्द से उन का शैव होना भी स्पष्ट है। इस के अतिरिक्त श्रद्धा के लिए यह कह देना आवश्यक है, कि मैथिल लोग अनादिकाल से शाक्त, वैष्णव तथा शैव तीनो होते आए है। शक्ति की उपासना मे शाक्त, जिस के चिन्हस्वरूप वे लाल वस्त्र तथा मस्तक पर लाल तिलक लगाते है। ब्राह्मणमात्र को शालग्राम शिला का पूजन कर्तव्य है। अत· वे विष्णु के आराधयिता होते है, जिस के कारण वे ललाट मे श्रीखंड चदन का ऊर्ध्वपुंड्र चिह्न रखते है। तथा शिव ही मोक्षदाता है इस विचार मे अंत मे शिव ही के भजन-भक्ति से मोक्ष मिलेगा और मोक्ष ही जीवन का एकमात्र उद्देश है यह जान कर सभी मैथिल शैव होते है। नित्य पार्थिव-शिवलिंग का पूजन करते है। अतएव ललाट पर त्रिपुंड्र भस्म लगाते है। मैथिल विद्वान धनसपन्न होने से शिवलिंग की स्थापना करना अपना मुख्य उद्देश्य समझते है। इस प्रकार शक्ति, विष्णु और शिव की साम्यावस्था का ध्यान रखते हुए अविरोधभाव से वे अपना जीवन व्यतीत करते है। यही बात विद्यापति तथा अन्य सभी मैथिल विद्वानो मे थी और अभी भी वर्तमान है।

---

[1] पा० ह०, पृ० ५

# प्राचीन भारत में वास्तुविद्या और मानसार शिल्प-शास्त्र

[ लेखक—श्रीयुत सत्यजीवन वर्मा, एम्० ए० ]

( क्रमागत )

मकानो की नीव और उसे रखने की विधि को 'गर्भविन्यास' कहते थे। नगर, ग्राम, दंग, हर्म्य, वापी, कूप, तड़ाग आदि के लिए भिन्न-भिन्न गर्भविन्यास की विधि लिखी है। ग्राम, नगरादि के लिए 'गर्भभाजन' के पॉच भेद किए गए है। मदिरो और मकानो के लिए नीव भिन्न-भिन्न प्रकार की होती थी। वर्णो के अनुसार भवनो की नीव अलग-अलग होती थी। भेद केवल पूजा-पाठ का था। नीव की गहराई 'अधिष्ठान' की ऊँचाई के अनुसार होती थी। इसे ईट, पत्थर से भरते थे। चारों कोने ईटो के बराबर बनाए जाते थे। नीव मे सात प्रकार की मिट्टी भरी जाती थी—नदी, पहाड, विमोट, कर्कट, समुद्रतट, गिरिशृग, गोखुराग्र (गोशाला) की मिट्टी। इस पर नीलोत्पल, कुमुदकद, सौगधि आदि यथास्थान रखते थे। फिर शालि, व्रिह, कंडु, कोद्रव आदि शस्य रख कर यथाविधि पूजन करते थे। मकानों की ऊँचाई के अनुसार नीव की चौडाई-लंबाई होती थी। ईंटो की माप इस प्रकार होती थी। चौडाई ७ से २९ वा ३० अगुल तक, लबाई चौड़ाई से $\frac{१}{४}$, $\frac{१}{२}$ या $\frac{३}{४}$ अधिक वा दूनी; मोटाई चौडाई की आधी। ईटे, पाषाण वा मिट्टी की होती थी। पहली ईट रखते समय विशेष प्रकार की पूजा वा उत्सव होता था। साधारणत नीव एक पुरसा गहरी होती थी।

**गर्भविन्यास**

स्तभ के निचले भाग को 'उपपीठ' कुर्सी कहते थे। 'मानसार' मे इसे बनाने का सविस्तर वर्णन दिया है। इस मे गोले-गल्ते और पटरी आदि के ५१ भेद 'मानसार' मे आए है —

**उपपीठ विधान**

१—अब्ज, अबुज, सरोरुह, २—अंतर, अतराल, अतरिक, ३—अभ्रि; ४—अशु, ५—अर्गल; ६—आधार, ७—आलिग, ८—आसन; ९—भद्र; १०—बोधिका, ११—दल, १२—

गल ग्रीव कंठ कंधर १३—घट १४—गोपानक १५—हार १६—जन्मन १७—कप कपन १८—कुमुद, १९—केंद्र, २०—क्षेपण, २१—मुष्टिबंध; २२—मूल, २३—मृणाल, मृणालिका; २४—नाटक, २५—नासि, नासी, नासिका, २६—पट्ट, पट्टिका, २७—प्रतिक; २८—प्रतिवक्त्र; २९—प्रतिवाजन, ३०—प्रतिबंध, ३१—प्रतिभा; ३२—पादुक, ३३—प्रस्तर; ३४—फलका; ३५—रत्नकंप; ३६—रत्नवप्र, ३७—ताडिका, ३८—तुंग; ३९—उत्तर; ४०—उपान, ४१—वप्र, ४२—वल्लभ, ४३—कपकर्ण, ४४—कर्णपद्म, ४५—क्षुद्रकंप, ४६—क्षुद्रपद्म, ४७—महाबुज, ४८—पद्मकंप, ४९—रत्नकंप, ५०—रत्नपट्ट, ५१—वज्रपट्ट।

इस प्रकार उपरोक्त भेदों में से ले कर 'उपपीठ' की रचना होती थी। इन के आधार पर उपपीठ के प्रथम तीन भेद वेदिभद्र, प्रतिभद्र और मचभद्र और पुन प्रत्येक के चार भेद होते थे। उदाहरण के लिए 'वेदिभद्र' का वर्णन निम्न है—

(क) प्रथम प्रकार में कुल २४ भाग का क्रम यों है। उपान ५ + कप १ + ग्रीव १२ + कप १ + वाजन ४ + कंप १ = २४

(ख) दूसरे प्रकार में कुल १२ भाग। जन्म २ + पद्म १ + कप ½ + कंठ ५ + क्षेपण १½ + पद्म १ + पट्टिका ½ + कप ½ = १२

(ग) तीसरे में १२ भाग। पादुक १½ + अब्ज १½ + कंप ½ + ग्रीव ५½ + क्षेपण ½ + पद्म १ + वाजन १ + कप ½ = १२ भाग

(घ) चौथे में १२ भाग। उपान १½ + अब्ज ½ + कप ½ + कर्ण ½ + पट्टिक १ + उपान २ + कंप ½ + वाजन ५ + कप ½ = १२ भाग।

क्रम 'उपपीठ' में ऊपर से रक्खा गया है।

पूरे स्तंभ के पाँच भाग होते थे—१ भाग उपपीठ, १ अधिष्ठान, २ स्तंभ, १ भाग बोधिक (ऊपरी भाग)। अधिष्ठान 'उपपीठ' के ऊपर होता था।

**अधिष्ठान-विधान**

इस की ऊँचाई ३० अंगुल से चार हाथ तक होती थी। इस के १२ भेद होते थे। अधिष्ठान की ऊँचाई, ४ हस्त तो ब्राह्मणों के घर में, ३ हस्त क्षत्रियों, २ हस्त वैश्यों और एक हस्त शूद्रों के घर होती थी। 'मानसार' ने अधिष्ठान के १८ भेद दिए हैं और इन के कुल उपभेद ६४ हैं। प्रत्येक का सविस्तर नाप 'मानसार' ने दिया है। उदाहरण के लिए १८ में एक भेद 'पादबंध' का एक उपभेद यों होगा। कुल २४ भाग—नीचे से क्रमानुसार—वप्रक ८ + कुमुद ७ + कप १ + कर्ण

३ + कप १ + पट्टिका ३ + कप १ = २४ भाग।

अधिष्ठान के १८ भेद और उपभेद यों है।

१—पादबध—४ भेद

२—उरगबध—४ भेद

३—प्रतिकर्म—४ भेद

४—कुमुदबध

५—पुष्प पुष्कल—४ भेद

६—श्रीबध—४ भेद

७—मचबंध—४ भेद

८—श्रेणीबध—४ भेद

९—पद्मबंध—४ भेद

१०—कुभबंध—४ भेद

११—वप्रबंध

१२—वज्रबध

१३—श्रीभोग—२ भेद

१४—रत्नबध

१५—पट्टबध

१६—कुक्षिबध—४ भेद

१७—श्रीकात

१८—केशबध

विमान (मदिर), शाला, मडप, निधान, सद्म और गोपुर आदि के लिए अधिष्ठानो में विशेष भेद और प्रकार होते थे। इन का भी उल्लेख 'मानसार' ने किया है।

स्तभ के माप, आकार, प्रकार, अलकार आदि के विषय मे 'मानसार' के १५वे अध्याय मे सविस्तर वर्णन है। इन के १२ नाम आए है—जघ, चरण, स्तली, स्तभ, अग्रिक, स्थाणु, स्थूण, पाद, स्कभ, अरणि, भारक, और धारण।

**स्तंभ**

इन नामो से भिन्न-भिन्न स्तभो की उपयोगिता का अनुमान होता है। पूरे स्तभ की ऊँचाई 'अधिष्ठान' से 'प्रस्तर' तक, 'उपपीठ' के नीचे 'उत्तर' के नीचे से 'जन्मन' तक, इस प्रकार पूरे स्तभ के पाँच भाग होते थे—अधिष्ठान, उपपीठ,

स्तंभ बोधिक और प्रस्तर स्तंभ की लबाई अधिष्ठान' की दूनी तक होती ह इस के १२ भेद हैं, जो २½ हस्त से ८ हस्त तक होते हैं। प्रत्येक मे केवल ६ अगुल का अतर होता था। दीवाल से लगा स्तभ (कुड्यस्तभ) तीन, चार, पाँच और छ अगुल चौडाई मे होता था। उस की ऊँचाई उपपीठ की तिगुनी अथवा अधिष्ठान की छगुनी वा आठगुनी हो। स्तभ का 'वृत्त', ऊँचाई का १/६, १/७, १/८, १/९, वा १/१० अथवा १/३, १/४, १/६, (केवल कुड्यस्तभ—के लिए)। कप (पूर्ण स्तभ) की चौडाई कुड्यस्तभ की दुनी, तिगुनी वा चौगुनी हो। स्तभ के अनेक भेद उस के आकार के अनुसार किए गए हैं। गोलाकार, चतुष्कोण, समवृत को 'ब्रह्म-कात', अष्टकोण को 'विष्णुकात' षट्दशकोण को 'रुद्र-कात', पचकोण को 'शिवकात' और षट्कोण को 'स्कध-कात' कहते थे। नीचे से ऊपर तक ये आकार मे स्तभ की पूरी लंबाई मे समान होते थे। माप और अलकार के अनुसार इन के नाम चित्रकर्ण, पद्मकात, चित्र-कुभ, पालिक-स्तभ और कुभ-स्तभ। इन के अतिरिक्त कोष्ठ-स्तंभ और कुड्य-स्तभ भी हैं। प्रथम पॉच भेद स्तभ के आकार के आधार पर है, शेष पॉच उन के 'बोधिक' के आकार और अलकार विशेष के अनुसार। मुख्य स्तभो के पास छोटे-छोटे स्तभ भी रखने का रिवाज था। इस दृष्टि से छोटे स्तभ को 'उपपाद' कहते थे। और एक, दो, तीन वा चार सहायक उपपाद वाले मुख्य स्तभ को 'एक-कात', 'द्विकात', 'त्रिकात' वा 'ब्रह्मकात' कहते थे। स्तंभ-विधान का सविस्तर वर्णन जो 'मानसार' ने किया है उस से उस समय के वास्तु-विशारदो की विस्तृत जानकारी और तत्कालीन समाज की सुरुचि का अच्छा परिचय मिलता है।

**स्तंभ के लिए वस्तु**

ऐसा जान पडता है कि 'मानसार' के समय मे स्तभ अधिकतर पाषाण और काष्ठ के बनते थे। ईंटो के स्तभ का विशेष रूप से कही उल्लेख नही है। यो तो प्रस्तर के स्तभ सपूर्ण रूप से नीचे से ऊपर तक एक वस्तु के और इसी प्रकार लकडी के होते थे। परतु 'मानसार' ने शुद्ध, मिश्र, और संकीर्ण तीन भेद 'वस्तु' के अनुसार किए है। अत. ऐसा जान पडता है कि पत्थर, लकडी, वा अन्य वस्तु (ईंट) सब को मिला कर भी स्तभ रचना करते थे जैसे 'स्तंभ-दंड' लकडी का और उपपीठ ईंटो वा प्रस्तर के। 'स्तभ-वेशन' के समय विशेष प्रकार की पूजा भी होती थी जिस पर ग्रथकार ने विशेष महत्त्व दिया है, जो उस समय के विश्वास की परिचायक है।

स्तंभ के ऊपर एक दूसरे को जोडने वाले पाटन और उस के ऊपर की छत के नीचे की दीवाल को 'प्रस्तर' कहते थे। इस के बनाने के अनेक विधान दिए है। 'प्रस्तर'

**प्रस्तर-विधान**

की चौडाई 'अधिष्टान' की ऊँचाई के बराबर, ३/४, १ १/२, १ १/२, १ ३/४, वा दूनी—इसी प्रकार छः तरह् की हो सकती है। अथवा सात हस्त से ४ १/२ हस्त तक, १/२ हस्त के अतर से ६ प्रकार की जैसे, ७, ६ १/२, ६, ५ १/२, ५, ४ १/२। इन मे भी ब्राह्मण, देवता, क्षत्रिय, (राजा) युवराज, वैश्य और शूद्र का भेद है। भिन्न भिन्न आकार प्रकार के अनुसार उन के नाम—कपोत, प्रस्तर, मच, प्रच्छादन, गोपान, वितान, वल्लभी, मत्तवारण, विधान और लुपा—'मानसार' मे आए है। 'प्रस्तर' के अल-कारो के अनुसार आठ भेद 'मानसार' ने माने हे—२७ भाग, २४ १/२ भाग, ३६ १/२ भाग, ३० १/२ भाग के दो प्रकार, २९ भाग के दो, और ३४ भाग। गोले गल्ते के हेर-फेर से इन के भेद होते थे, जिस प्रकार अधिष्ठान और उपपीठ वा 'बोधिक' का होता था। उन का परिमाण 'मानसार' मे दिया है। 'प्रस्तर' मे विशेष कर 'नाटक' (प्रसाद का एक अग) के प्रस्तर में भूत, गण, विद्याधर आदि की मूर्तियाँ बनाई जाती थी।

'प्रच्छादन' प्रस्तर के ऊपर होता था। इस से तात्पर्य छत वा पाटन से है। ईंटो की बनाई इमारतो की छत लकडी की होती थी। पत्थर के मकानो की अवश्य पत्थर

**प्रच्छादन**

की होनी थी। छत या तो एक वस्तु की अर्थात् 'शुद्ध' होती थी, या दो वस्तुओं की 'मिश्र' वा अनेक वस्तुओ की 'सकीर्ण'। छत मे पट्टिका (पटरी) काम मे आती थी और उस की शोभा 'कर्ण' वा कारनिस से बढाई जाती थी। प्रस्तर के ऊपर छज्जे भी बनते थे—उन्हे 'दल' कहते थे। प्रच्छादन—चौरस वा समतल, गोलाकार अंडाकार, गुबदाकार अथवा छाजन सा होता था। इस मे 'फलक' (लकड़ी के पटरे) पत्थर की पट्टियाँ वा चौके, लकड़ी की शहतीरे (दड) काम मे आती थी।

प्राकार की रचना 'बलिकर्म', परिवार के रहने के लिए, शोभा अथवा रक्षार्थ होती थी। प्राकार से तात्पर्य दीवार से घिरे आगन मे होता है। प्राकार के पाँच भेद

**प्राकार**

'मानसार' के ३१वे अध्याय मे वर्णित है। पहला ९ पद का होता था, दूसरा ४९ का, तीसरा १६९ पद का, चौथा ४४१ पद का और पाँचवाँ ९६१ पद का। सब से भीतरी प्राकार वा प्रथम प्राकार को 'अतर-

मंडल' कहते थे दूसरे को अंतर्नीहार' और तीसरे को मध्यम-हार चौथे का नाम 'प्राकार' और पाचवे को 'महामर्य्यादा' कहते थे। क्रम से एक को घेर कर दूसरा होता था, और इस प्रकार पहला सब के बीच मे और पाँचवाँ सब के घेरे हुए होता था। प्रत्येक में शालाएँ होती थी। जाति, छंद विकल्प और आभास के अनुसार 'प्राकार' के भी चार भेद होते थे। पाँचवे 'प्राकार' की सुरक्षा के लिए कभी कभी छठा और सातवाँ प्राकार भी होता था। प्रथम प्राकार मे प्रासाद वा मुख्य हर्म्य होता था। इन प्राकारो की दीवाले पत्थर, ईंटो अथवा शहतीरो की होती थी। इन मे द्वार होते थे जो क्रमश बड़े छोटे होते थे।

**परिवार-विधान**

प्राकार में जब अनेक देवी-देवताओ के मंदिर बनाए जाते थे तो उसे 'परिवार-विधान' कहते थे। 'मानसार' मे नाना देवी-देवताओ के मंदिरो को प्राकार मे यथास्थान रखने का सविस्तर वर्णन दिया है जो हमारे प्रस्तुत कार्य के लिए कदाचित् उतना उपयोगी नही होगा।

**गोपुर-विधान**

प्रधान-द्वार की इमारत को गोपुर कहते थे। आजकल भी 'गेट' अथवा मुगल समय के 'दरवाजे' से उस का बोध हो सकता है। प्राकार के प्रत्येक प्रांगण मे आने के लिए एक गोपुर होता था। 'अंतरमंडल' प्राकार के द्वार को 'द्वारशोभा' कहते थे। दूसरे प्राकार के गोपुर को 'द्वारशाला', तीसरे प्राकार के गोपुर को 'द्वारप्रासाद'। चौथे प्राकार के गोपुर को 'द्वारहर्म्य' और पाँचवे प्राकार के गोपुर को 'महागोपुर' कहते थे। ये क्रम से १ से पाँच तल्ले के होते थे। 'मानसार' ने इन अनेक प्रकार के गोपुरो की रचनाविधि का सविस्तर वर्णन किया है। उन की लंबाई, चौड़ाई, ऊँचाई, आकार, प्रकार, अलंकारादि का वर्णन विशद है। गोपुर केवल फाटक मात्र नही होता था उस के साथ उस मे मीनार, कमरे आदि भी होते थे जिस मे रक्षकगण अथवा द्वाररक्षक, राजपुरुष आदि संभवत रहते थे। उन के कमरो के नाम गर्भगेह, मध्यकोष्ठ, नालि-गेह, महाशाला, क्षुद्रशाला, आदि मिलते हैं। उन मे अलिंद होते थे, धुर ऊपर छत पर कूटशाला होती थी, भद्र (मुख्य) द्वार के अगल-बगल स्तंभ होते थे। ऊपर के तल्लो मे पंजर (खिड़कियाँ), उन पर जालक होते थे। उन का प्रच्छादन ईंटों और चूने का बनता था। खिडकियो अथवा वातायन

का नाप-जोख 'मानसार' ने दिया है। ऐसा जान पड़ता है कि वातायन बनाने के लिए मध्य मे एक दड (लकड़ी) होता था उस के दोनो पक्ष मे 'जालक' अथवा 'फलक' लगाए जाते थे। जालक वा जालियॉ अनेक प्रकार की होती थीं। उन के नाम—नागबध, बल्ली गवाक्ष, कुजगाक्ष, स्वस्तिक, सर्वतोभद्र, नद्यावर्त और पुष्पवध आदि मिलते है। ये नाम उन के छिद्र के परिमाण और उन की बनावट के अनुसार है; इस से पता चलता है कि उस समय जालिया बड़ी सुदर और कलापूर्ण होती थी। साधारणतः खिड़की की लंबाई चौड़ाई बनाने वाले के ऊपर छोड़ी जाती थी—परंतु कुछ लोगों का मत है कि चौड़ाई १½ से पॉच हाथ तक होती थी और ६ अगुल की वृद्धि कर उस के अनेक भेद किए जाते थे।

'मंडप' का साधारण अर्थ मदिर, कुज, चौपाल, छाजन अथवा खुली हुई (दीवाल-रहित) 'शाला' से होता है। परतु 'मानसार' मे 'मंडप' शब्द विशेष अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

**मंडप-विधान**

इस से तात्पर्य्य देहात में बनी खुली शाला से है अथवा नदी, समुद्र, तड़ाग आदि के तट पर बने हुए हर्म्य से है। 'मडप' उस इमारत को भी कहते थे जो मंदिरो आदि के समीप बनाई जाती थी। 'मडप' से आवास-गृहो का तथा प्रासादो के कमरों का भी अर्थ लिया गया है। 'मानसार' मे ३४वे अध्याय मे इस पर सविस्तर लिखा है। 'मंडप' के तीन मुख्य अग है। अलिद, प्रपाग और भित्ति—अर्थात् बरामदा, आँगन, और दीवाल। प्रपागवाले मडप मे 'अधिष्ठान' नही होता था। इस मे लकड़ी के स्तंभ होते थे। लकड़ी मे खदिर (खैर का बृक्ष) पूति-पादप (पाइन) हेमपादप और क्षीरणी काम मे आते थे। इन की अनुपस्थिति मे पत्थर के स्तंभ भी बनते थे। बॉस के भी स्तभ बनते थे। शहतीरे सुपारी के वृक्ष की होती थी। इन पर बल्लियाँ बॉस की होती थी। आच्छादन के लिए नारियल की जटा बिछाई जाती थी, अथवा अन्य कोई वस्तु। चारो ओर घेरा अथवा 'प्रपा' ऐसी बनती थी कि जिस से हवा से उड न सके। 'प्रपा' मदिरो, आवासों आदि के भी चारो ओर बनाई जाती थी। मडप का निर्माण बलिकर्म, राज्याभिषेक, रहने के लिए, विवाह आदि के लिए होता था। 'सती' के लिए भी मंडप बनाया जाता था। इन के लिए उचित स्थान बहुधा तो प्रासाद के सामने होता था। इस प्रकार के मडप या तो स्नान के लिए, अथवा अध्ययन के लिए अथवा पूजनादि के लिए होते थे। तीर्थ-स्थानों तथा नाच-रग वा नाटक के लिए भी मडप बनाए जाते थे। प्रायः यह मडप अ-स्थाई होते थे। प्रासाद के सामने बनाए जाने वाले सात प्रकार के मडपो के नाम

मानसार' में इस प्रकार दिए हैं हिमज निषधज विजय माल्यज पारियात्र गधमादन और हेमकूट। इन में प्रथम स्नान के लिए, दूसरा अध्ययन, अध्यापन, पुस्तकालय के लिए होता था। इन के अतिरिक्त 'मेरुज मंडप'—ग्रंथागार के लिए, 'विजय'—विवाह-कर्म के लिए, 'पद्मक'—भोजनालय के लिए, 'भद्र'—जलागार के लिए, 'शिव'—धान कूटने के लिए, 'वेद'—सभा के लिए होते थे। 'सुख्यंग'—अतिथिगृह था, 'दर्भ'—हाथियों के रहने के काम में आता था। 'फूलधारण' मडप गौवो के लिए काम मे आता था। 'द्रोण' मंडप में तीर चलाने की शिक्षा होती थी। 'खलूरिका' से भोजनालय का काम लिया जाता था। इस प्रकार 'मानसार' मे मंडपों के अनेक भेद और उन के बनाने की विधियाँ दी है। 'मडप' में स्तभो की सख्या सहस्र तक होती थी।

**शाला**

देवताओं और राजाओ आदि के रहने के मकान को 'शाला' कहते थे। यह एक से १२ तल्ले तक होती थीं। ग्रामविधान के भेदानुसार इन के भी छ भेद है। इन की लबाई, चौड़ाई, ऊँचाई के अनेक भेद दिए गए है। 'मानसार' में गृह-प्रवेश-विधान बहुत विस्तार के साथ दिया है, जिस से तत्कालीन रीति-रवाज का परिचय मिलता है।

**विशेष**

मकानो मे द्वारस्थान, उस का माप तथा निर्माण-विधि का भी विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है। मदिरों में चारों दिशाओं में चार द्वार होते थे। पानी के लिए जलद्वार होता था। मुख्य द्वार ऊँचा होता था, जहाँ दरवाजे नही हो सकते थे, वहाँ खिड़कियाँ रक्खी जाती थी। द्वार साधारणतः १½ हाथ से ७ हाथ तक होते थे। इन द्वारो मे कपाट होते थे। उन पर बेल बूटे खुदे होते थे। चौखट के ऊपरी भाग के मध्य मे गणेश, सरस्वती वा अन्य देवताओ की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। आजकल भी काशी आदि स्थानो में हिंदुओं के घरो तथा मदिरो मे यही बात देखने मे आती है।

**राजगृह-विधान**

राजाओं के प्रासाद के नौ भेद 'मानसार' मे दिए है। यह भेद उन के 'पद' के अनुसार है। उन की लंबाई, चौड़ाई आदि में भी उन के पद और आवश्यकतानुसार ही भेद किए गए है। चक्रवर्ती राजा के महल मे एक से सात तक शालाएँ होती थीं। 'अधिराज' के प्रासाद मे छ प्राकार हो सकते थे। इसी प्रकार नरेंद्र के पाँच, पार्ष्णिक के चार, पट्टभज, मडलेश और पट्टाधार

के तीन प्राकार प्राहारक और अस्त्रग्राह के लिए दो प्राकार (अथवा दोहरी दीवार वा कुड्य) होते थे। दीवाले पत्थर, मिट्टी वा ईंटों की होती थी। मुख्यगृह का द्वार पूर्व की ओर होता था, अंतःपुर उत्तर की ओर वा दक्षिण-पश्चिम वा उत्तर-पश्चिम की ओर। अभिषेक-मंडप मुख्य हर्म्य के दक्षिण। 'मानसार' में राजप्रासाद के भिन्न-भिन्न अंगो का पदन्यास निश्चय किया गया है। उन्हे देखते हुए उस समय के राजाओं की आवश्यकताओं का पता चलता है। कंचुकी का घर महल के पास अंतःपुर के उत्तर होता था; विलासिनी महिलाओं का अलग; गोपुर की बाईं ओर अश्वशाला, या गजशाला, दाहिनी ओर रक्षकगण; नाई का घर अलग, रथशाला अलग। राजकुमार का आवास अलग, 'आस्थान मंडप'—तालाब के दक्षिण ओर; मंदिर अलग; उस के पुरोहित का मकान अलग। इस प्रकार राजमहल से संबद्ध सभी आवश्यक वस्तुएँ होती थी। यहाँ तक कि मुर्गे, मेढ़े आदि की युद्धशालाएँ, मयूर के लिए घर, शेरों के लिए घर आदि आदि। राजमहल से संबंध रखनेवाली इमारतों के नाम उन की उपयोगिता के विषय मे प्रकाश डालेगे। जैसे, अभिषेक-मंडप, आयुधालय, वस्तुनिक्षेप-मंडप (गोदाम), भूषणालय, भोजन-मंडप, पाचनालय (रसोई), पुष्प-मंडप, मज्जनालय (स्नानगृह) शयनालय (शयनागार), अंतःशाला (अंतःपुर) स्थान-मंडप (दीवाने-आम) मेषयुद्धार्थ-मंडप, कुक्कुट-युद्धार्थ मंडप, कारागार (जेल) आदि। राजप्रासाद बहुत ही सुंदर सुरक्षित स्थान मे बनाया जाता था। चारों तरफ वाटिकाएँ, जलाशय और इन सब की रक्षा के निमित्त दृढ़ प्राचीर, परिखा, आदि सभी होती थी।

वास्तुविद्या के अंतर्गत रथादि का बनाना भी आता है, यह पहले ही कह चुके है। 'मानसार' के ४३वें अध्याय मे रथ के बनाने की विधि लिखी है। रथ का उपयोग वाहन तथा राजाओं और देवताओं के जुलूस निकालने के काम मे होता था। युद्धार्थ भी रथ बनता था। रथ साधारणतया एक तल का परंतु दिखावे के रथ ९ तले तक के होते थे। रथ के भागो मे प्रधान अंग चक्र है। उस मे प्रधान कुक्षि (मूडी) है। यह रथ के पूरे नाप की $\frac{1}{3}$ होती थी। मूडी अथवा कुक्षि गोल होती थी, इस में छिद्र (धुरे के लिए) गोल होता था। इस के अनेक माप दिए हैं। धुरा तथा अन्य भाग लकडी के होते थे। इस काम के लिए शाल (साखू) जंबूक, सार, सरल, बकुल, अर्जुन, मधूक, तिंत्रिणी, बर्बुर, व्याघ्री,

**रथलक्षण-विधान**

क्षीरणी खदिर क्षीकर कतमाल शमी आदि वृक्षों की लकड़ियाँ य काम म आती थीं। रथों के, उन की ऊँचाई, आकार-प्रकार के अनुसार, अनेक भेद होते थे। देवताओं के रथ चौकोर, षट्कोण, अष्टकोण, गोलाकार, अंडाकार आदि होते थे। युद्ध के रथ में तीन पहिये होते थे, नित्योत्सव के रथ के लिए पाँच पहिये, महोत्सव के लिए छ पहिये से १० पहिये तक होते थे। 'मानसार' में साधारणतया महाराजों और महोत्सवों के रथों ही को दृष्टि में रख कर निर्माणविधि लिखी गई है। तेज चलने वाले, हलके वा अन्य नित्य के काम में आने वाले रथों का सविस्तर वर्णन नहीं है।

देवताओं, द्विजों और अन्य वर्ण के लोगों के लिए शयन अथवा पर्यंक-रचना विधि 'मानसार' के ४८वें अध्याय में है। साधारणत बड़ाई-छोटाई के आधार पर पर्यंक वा शयन दो प्रकार के होते थे—पर्यंक और बाल-पर्यंक। बाल-पर्यंक अथवा बच्चों का पलंग चौड़ाई में ११ से २५ अंगुल तक होता था और पर्यंक २१ से ३७ अंगुल तक चौड़ाई में बनता था। साधारणत इन में चार पैर वा पाए होते थे। बच्चों के पलंग में पहिए लगते थे। पहियों की चौड़ाई पैर की मोटाई के बराबर होती थी—पट्टिका वा पाटी की मोटाई दो, वा तीन अंगुल, चौड़ाई इस की दूनी। चारों कोने पर 'कर्ण' वा लट्टू होते थे। पलंग सून, रस्सी, बाँस की तीली वा बेत (?), ताड़ की रस्सी आदि से बुना जाता था। राजाओं के पलंग के पैर का नीचे का भाग शेरों के पंजे जैसा होता था। साधारणत पर्यंक आयताश्र होते थे। पलंग के अतिरिक्त डोला (झूले), पीठ, आसन आदि भी बनते थे।

**शयन**

'सिंहासन' शब्द से तात्पर्य ऐसे आसन से है जिस में 'सिंह' की मूर्ति बनी हो। ऐसे आसन प्राय राजाओं और देवताओं के लिए बनते थे। 'सिंहासन' चार प्रकार के होते थे, प्रथमासन (जिस का उपयोग प्रथमाभिषेक के लिए होता था) मांगल, वीर और विजय। ये एक ही राजा के जीवन में चार अवसरों के लिए होते थे। देवताओं के लिए तीन प्रकार के आसन होते थे—नित्यार्चन, विशेषार्चन महोत्सव—इन तीन कामों के लिए। आकार और प्रकार के अनुसार सिंहासन के दस भेद 'मानसार' में मिलते हैं—पद्मासन, पद्मकेसर, पद्मभद्र, श्रीभद्र, श्रीविलास, श्रीबंध, श्रीमुख, भद्रासन, पद्मबंध और पादबंध। इन में पद्मासन—विष्णु वा शिव के लिए, पद्मकेसर—अन्य देवताओं वा चक्रवर्ती राजा के लिए; पद्मभद्र—अधि-

**सिंहासन**

राज के लिए श्रीभद्र—नरेन्द्र के लिए होते थे इसी प्रकार पद क्रम से अन्य राजाओं के लिए। सिंहासनों के बनाने तथा उन के नाप-जोख, अलंकार आदि का वर्णन 'मानसार' के ८५वें अध्याय में मिलेगा।

**तोरण-विधान**

भूपतियों, देवताओं आदि के गृह की शोभा के लिए तोरण वा मेहराब होते थे। तोरण स्थानक (गृह) और राजाओं तथा देवताओं के सिंहासनों के ऊपर भी शोभा के लिए बनाया जाता था। तोरण के आधार 'अंघ्रि' अथवा छोटे-छोटे स्तंभ होते थे। ये कई आकार के होते थे—वृत्त (गोल), त्रियुग्म वा अर्धचन्द्राकृत, त्रिकोण, धनुषाकार आदि आदि। इन सब प्रकार के तोरण के नापने की विधि 'मानसार' में दी है जिस में उस समय की जानकारी और भूमिति के ज्ञान का पता चलता है। अलंकार की दृष्टि से तोरण चार प्रकार के होते थे पत्र-तोरण, पुष्प-तोरण, रत्न-तोरण और चित्र-तोरण। पत्र-तोरण में लताएँ और पत्तियाँ बनाई जाती थी, पुष्प-तोरण में अनेक प्रकार के फूल, रत्न-तोरण में मणियों वा जड़ाई का काम होता था, चित्र-तोरण में यक्ष, विद्याधरों के चित्र अंकित होते थे। तोरण के ऊपर नारद और उन के 'तुंबुर' (वाद्यविशेष) का चित्र होता था। तोरण के ऊपर और अधर भाग में 'मकर' अंकित किया जाता था। तोरण के आधार में 'व्यालि' अथवा व्याघ्र की मूर्ति बनाई जाती थी। साधारण 'चित्र-हीन' तोरण भी बनाए जाते थे।

**मध्यरंग-विधान**

'मध्यरंग' वा 'मुक्तप्रपाग' से तात्पर्य आँगन से है अथवा घिरी हुई ऐसी खुली जगह से, जिस में किसी उत्सव के लिए लोग एकत्र हो सकें। प्राय इस का उपयोग राज्याभिषेक, नाटकादि वा देवमंदिरों में उत्सवादि अवसरों के लिए होता था। चारों तरफ से स्तंभवाली बारहदरी (शाला) से घिरे हुए लंबे-चौड़े आँगन के बीच में एक सिंहासन वा मंच होता था। इस में छोटे-छोटे स्तंभ (अंघ्रि) होते थे। यह सब प्रकार अलंकृत होता था।

**कल्पवृक्ष**

मुक्तप्रपाग, मकरतोरण और मंडप के संबंध में कल्पवृक्ष का उल्लेख आया है। कल्पवृक्ष से तात्पर्य शोभा के लिए बनाए हुए कल्पित वृक्ष से है। यह शुभ समझा जाता था। इस के विषय में नाप-जोख 'मानसार' ने ४८वें अध्याय में विस्तार के साथ लिखा है।

राजाओं तथा देवताओ के शिरोभूषण को मौलि कहते थे। आकार और माप के अनुसार 'मानसार' मे मौलि के अनेक भेद दिए है—जटा, मौलि, किरीट, करड, शिरस्त्रक, कुतल, केशबध, धम्मिल, अलक, चूडक, मुकुट, पत्रपट्ट, पुष्प-पट्ट और रत्नपट्ट। इन का व्यवहार इस प्रकार 'मानसार' मे दिया है :—

**मौलि**

जटा और मुकुट—ब्रह्मा के लिए। करंड और मुकुट—अन्य देवताओ के लिए। किरीट और मुकुट—नारायण के लिए। जटा, मौलि, मुकुट, और कुतल—रति के लिए। केशबध और कुतल—सरस्वती के लिए। करड और मुकुट—अन्य देवियो के लिए। किरीट—सार्वभौम और अधिराजा के लिए। करंड—नरेंद्र श्रेणी के राजाओं के लिए। शिरस्त्रक—पार्सनिक राजाओ के लिए अथवा करड और मुकुट—चक्रवर्ती तथा अन्य राजाओं के लिए। पत्रपट्ट—पट्टाधार राजाओ के लिए। रत्नपट्ट—पार्सनिक के लिए। पुष्पपट्ट—पट्टभज राजाओं के लिए। प्राहारक और अस्त्राग्राह राजाओ के लिए केवल पुष्पमाल पहनने की व्यवस्था है। कुतल और मुकुट चक्रवर्ती की रानी (पट्टमहिषी) के लिए। केशबध—अधिराजा और नरेंद्र की रानी के लिए। धम्मिल और मुकुट—पार्सनिक, पट्टभज—मडलेश आदि राजाओके लिए। अलक और चूडा—प्राहारक और अस्त्रग्राह—राजाओं की रानियो के लिए।

इन भिन्न शिरोभूषण के नाप दिए है। साधारणतया मुकुट की ऊँचाई चेहरे की लबाई की दूनी वा तिगुनी होती थी। स्त्रियो के लिए चेहरे की लबाई की दूनी ऊँचाई (मुकुट की) रखने का नियम था। मुकुट की चौड़ाई (नीचे के भाग की) चेहरे की चौडाई के बराबर होती थी। भिन्न-भिन्न राजाओं और देवताओ के मौलि का नाप 'मानसार' मे दिया है। चक्रवर्ती राजा के मुकुट मे ५००, १०००, २०००, वा २५०० निष्क (स्वर्णमुद्रा) खर्च होते थे। रानी के मुकुट मे इस का आधा लगता था। सब से छोटा मौलि मूल्य की दृष्टि से पट्टभज का होता था। इस का मूल्य १०० से ३०० स्वर्ण मुद्रा होता था। कह नही सकते कि यह 'निष्क' सख्या मौलि में लगे सोने की तौल के रूप मे थी अथवा मूल्य-रूप में। 'मानसार' मे मौलि-लक्षण शीर्षक ४९ अध्याय में 'मौलि'-रचना का विशद वर्णन किया है, जिस से उस समय के कलाकौशल और रुचि का प्रमाण मिलता है।

आभूषण के चार भेद वास्तुविद्या की दृष्टि से 'मानसार' मे मिलते है। पत्रकल्प, चित्रकल्प, रत्नकल्प और मिश्रीय। पहले तीन देवताओं के लिए। प्रथम चक्रवर्ती राजा के लिए, दूसरा और मिश्रीय अधिराज और नरेंद्र के लिए और मिश्रीय शेष के लिए। आभूपणो के नाम और लक्षण इस प्रकार है। आभूपण दो प्रकार के हैं अगभूषण और वहिर्भूपण। पहला शरीर के लिए दूसरा शोभा के लिए।

आभूषण

अग-भूषणों में .—

किरीट—सिर के लिए।

शिरोभूपण—सिर के लिए।

चूडामणि—बालो के लिए।

कुंडल—कान के लिए।

ताटक—कान के लिए।

मकर-भूषण—कान के लिए।

कंकण—कलाई के लिए।

केयूर, कटक—भुजा के लिए।

मणिबध-करप—बॉह के लिए।

किकिणी-वलय—कलाई के लिए।

अंगुलीयक—उँगली के लिए।

रत्नागुलीयक—उँगली के लिए।

हार, अर्धहार—गले के लिए।

माला—गले के लिए (यह कधों पर से लटकती थी)।

वनमाला—गले के लिए (यह बहुत नीचे तक लटकती थी)।

नक्षत्रमाला—गले के लिए (२७ मोतियो की)।

दामन—गले के लिए (गले मे सूत्र की भाँति)।

स्तनूसूत्र—स्तन के लिए (स्त्रियो के लिए)।

स्वर्णसूत्र—स्तन के लिए (स्त्रियो के लिए)।

पुरसूत्र—वक्षस्थल के लिए।

उदर-बंध—कमर के लिए

कटिसूत्र—कमर (नितंब) के लिए।

मेखला—कमर के लिए।

स्वर्णकंचुक—छाती के लिए (एक प्रकार की चोली का काम देता था)।

नूपुर—टाँग (टखनी) के लिए।

वलय (कड़ा)—टाग के लिए।

पादजाल भूषण—पैर के लिए (पद के पीठ पर)।

बहिर्भूषण मे दीपदंड, व्यजन, दर्पण, मजूषा, डोला, तुला, पजर, नीडादि की गणना होती थी।

दीपदंड दो प्रकार के होते थे—चल और अचल। दीपदड की ऊँचाई ११, १२ अगुल मे २७, २८ अंगुल तक होती थी। हर्म्य के मुख्यद्वार पर दीपदड मकान की ऊँचाई के अनुसार होता था, कोई प्रस्तर तक, कोई वेदिका तक, कोई ग्रीव तक, कोई स्तंभदड तक, कोई नासिक तक, कोई फलक, पद्म, घट अथवा स्तूपिका तक। चौड़ाई में दीपदड १, २ अंगुल से ५, ६ अगुल तक वनता था। यह लकड़ी वा लोहे का होता था। लोहा अधिक उपयुक्त समझा जाता था। दीपदड का ऊपरी भाग पाण्याग्र (हथेली के अग्र भाग) के समान होता था, नीचे का भाग 'पद्मासन' के आकार का। अचल दीप-दड पत्थर का भी बनता था। दीप-दड तरह तरह से अलकृत किया जाता था।

**दीपदंड**

पखे (व्यजन) का डंड लोहे वा लकड़ी का होता था। पखा चमड़े का बनता था। इस पर विष्णु वा अन्य देवताओं के चित्र बनते थे।

**व्यजन**

दर्पण ५, ६ अंगुल से २१, २२ अगुल तक होता था। इस का किनारा १ जौ मे नौ जौ तक, क्रमश मोटा होता था। यह वृत्ताकार होता था। दर्पण स्वच्छ और उसके किनारे पर 'रेखा' अथवा किनारी होना चाहिए। बाहरी ओर (पृष्ठ की ओर) दर्पण मे लक्ष्मी का चित्र होना चाहिए। उस मे एक मूठ होता था जिसे हाथ में पकड़ कर दर्पण में मुँह देखते थे। यह लकड़ी वा लोहे का होता था। वर्णों के अनुसार दर्पण की छोटाई-बड़ाई, तथा बनावट मे भेद होता था।

**दर्पण**

मंजूषा वा पेटारी वस्त्रादि रखने के लिए होती थी। यह लकड़ी, लोहे की

बनती थी। इस का आकार चौकोर, समकोण, वृत्ताकार होता था। इस मे एक, दो, तीन कोष्ठ होते थे। पर्ण-मजूपा बकस की तरह होती थी। तैल-मजूषा—तेल रखने के लिए होती थी। वस्त्रमजूपा से तात्पर्य्य वस्त्रादि की पेटारी से था। इन सब की चौड़ाई एक से तीन हाथ और ऊँचाई, लंबाई उसी के अनुसार रक्खी जाती थी।

**मंजूषा**

डोला से तात्पर्य झूले से था। यह प्राय देवताओ और राजाओं के काम मे आता था। बंबई की ओर अभी तक इस का रिवाज है। धनी लोग सुदर से सुदर 'डोला' बनवा कर काम मे लाते है। 'मानसार' मे पता चलता है कि उस समय डोले की अर्गला लोहे की बनती थी। डोले को अनेक प्रकार से सुदर बनाते थे। 'तुला' उस 'तराजू' को कहते थे जिस पर तौल कर राजा लोग दान देते थे—इसे 'तुलादान' कहते थे। 'तुला-दड' गावदुम होता था—यह लकडी या लोहे का बनता था। इस के कोने पर 'वलय' लगते थे। इस की अर्गला लोहे की और पलरे भी उसी के होते थे। उसे 'पत्र' कहते थे। उस की मेखला वा 'ओष्ठ' से रस्सी बाँध कर दड से लटकाई जाती थी।

**डोला और तुला**

ऐसा जान पड़ता है कि उस समय अनेक प्रकार के जानवर तथा पक्षी पाले जाते थे। 'मानसार' ने उन के पिजरो के बनाने की विधि लिखी है। वह संक्षेप मे इस प्रकार है।

**पिंजर**

| नाम पशु-पक्षी | माप पीजरा |
|---|---|
| मृग-नाभ-विड़ाल (एक प्रकार की बिल्ली) | १ से दो हाथ |
| शुक | ९ से २३ अंगुल तक |
| चातक | ७ से २३ अंगुल तक |
| चकोर | ७ से २३ अंगुल तक |
| मराल | ७ से २३ अंगुल तक |
| पारावत (कबूतर) | ७ से २३ अंगुल तक |
| नीलकंठ | २५ से ७३ अंगुल तक |
| कुक्कुट (मुर्ग) | १५ से ३१ अंगुल तक |
| कुलाट | १५ से ३१ अंगुल तक |

| | |
|---|---|
| नकुल (नेवला) | ११ से २७ अगुल तक |
| गोधार (गोह) | ९ से २५ अगुल तक |
| व्याघ्र | $१\frac{१}{३}$ से $३\frac{१}{३}$ हस्त तक |
| खंजरीट | ७ से २३ अंगुल तक |

पीजरों की बनावट कई आकार की होती थी। एक बात विचारणीय यह है कि 'मानसार' के दिए हुए माप के अनुसार कुछ पीजरे आवश्यकता से अधिक छोटे जान पड़ते है। संभव है कि उन के माप का परिमाण अगुल वा हस्त—लबाई मे अधिक माना जाता हो अन्यथा इतनी विशदता से वर्णन करने वाला शिल्पशास्त्रज्ञ ऐसी भूल नही कर सकता।

लकड़ी आदि जहाँ 'मानसार' के अनुसार हर एक काम में लगती थी वहा उस के जोड़ने आदि की विधि देना भी आवश्यक है, इस लिए 'मानसार' मे एक अध्याय 'संधिकर्म' से सबध रखता है। साधारणत शहतीर का नीचे का भाग ऊपरी भाग से अधिक मजबूत समझा जाता है। 'मानसार' कहता है कि 'दारु' वा शहतीर का चुनाव करते समय इस पर ध्यान रहे कि 'दारु' वक्र न हो, टूटा न हो और न नीचे और ऊपर के भागों में अधिक असमानता हो—अर्थात् समान मोटा हो। 'मानसार' के अनुसार आठ प्रकार के 'सधिकर्म' (जोड़) हो सकते हैं। वे यो हैं —

**संधिकर्म-विधान**

मल्लबंध—दो लकड़ियो का।

ब्रह्मराज—तीन वा चार लकडियो का।

वेणुपर्व—पाँच लकड़ियों का।

पूगपर्व—छः लकड़ियों का।

देवसंधि—सात लकड़ियों का।

कृषिसंधि—आठ लकड़ियो का।

इषुपर्व—नौ लकड़ियो का।

दंडिका—नौ के ऊपर।

छोटे, बड़े अथवा सम (बराबर) दारु इसी प्रकार जोड़े जाते थे। मल्लबध मे एक दारु के मध्य में एक दूसरा दारु खड़ा जोड़ा जाता था अथवा लबाई मे एक पर दूसरा रख कर। नंद्यावर्त में चौखटे की भाँति चार लकड़ी के टुकड़े समकोण जोड़े जाते थे।

सर्वतोभद्र मे चारो लकडियाँ कुछ झुकी हुई दशा मे होती थीं। स्वस्तिक-बंध मे आकार स्वस्तिक की भाँति बनता था। इन बंधनो के अतिरिक्त मेषयुद्ध-बंध, महाव्रत, शुक्रग्रहण-बंध आदि अनेक प्रकार की संधि-विधियाँ 'मानसार' ने दी है।

मूर्तियाँ हिरण्य (सोना), रजत (चाँदी), ताम्र (ताँबा), पत्थर, लकडी, सुधा (चूना आदि), शर्करा, आभास (संगमर्मर) तथा मिट्टी इन नौ द्रव्यो की बनती थी। मूर्तियाँ चल और अचल अर्थात् स्थावर और जंगम दोनो प्रकार की बनती थी। स्थावर वा अचल मूर्तियाँ पत्थर वा लकडी की बनाई जाती थी। तीन प्रकार की मूर्तियाँ बनाई जाती थी—चित्रांग, अर्ध-चित्रांग और आभास। 'चित्रांग' से तात्पर्य उस मूर्ति से है जिस मे अंगादि स्पष्ट पूर्णरूप से बने हो। 'अर्ध-चित्रांग' मे आधा अंग स्पष्ट दिखाई पडता है। 'आभास' मे केवल चौथाई दृष्टिगोचर होता है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव की मूर्तियाँ 'दशताल' माप के अनुसार बनती थी, उन की परिचारिकाओ वा शक्तियो की नौ ताल माप के अनुसार। 'लिंगविधान' नामक अध्याय में शिवलिंग बनाने, उन के माप आदि का सविस्तर वर्णन है—इन के छः भेद किए गए है। शैव, पाशुपत, कालमुख, महाव्रत, वाम और भैरव। ४ वर्णो के अनुसार 'लिंग' के चार भेद माने गए है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिए क्रमानुसार (१) संस्करण, (२) वर्धमान, (३) शिवांक और (४) स्वस्तिक। ये 'लिंग' आत्मार्थ (अपने घर मे पूजने के लिए) और परमार्थ (जन साधारण के लिए) बनते थे। स्थायी रूप से पूजनकार्य के लिए वा 'क्षणिक' प्रयोजन के लिए लिंग-रचना होती थी। यजमान (पूजन करने वाले) के हिसाब से 'लिंग' की ऊँचाई रक्खी जाती थी। कभी उस के बराबर ऊँची, कभी उस की आँखो, ठुड्डी, नाक, स्कंध, आदि की ऊँचाई तक। इस प्रकार नौ प्रकार की ऊँचाई होती थी। लिंग और उस की 'पीठ' प्रायः एक ही वस्तु की बनाई जाती थी। परंतु यदि 'लिंग' सोने, चाँदी वा मणि-जटित हो तो 'पीठ' आभास वा संगमर्मर की होती थी।

मूर्तियाँ

देवियों की मूर्तियो की रचनाविधि भी 'मानसार' ने दी है। देवियो मे सरस्वती, लक्ष्मी, सावित्री, मही, मनोन्मानी (रति) दुर्गा और सप्तमात्री की मूर्तियाँ बनती थी। सरस्वती के चार हाथ होते थे, वर्ण स्फटिक, दोनो दाहने हाथो में सदर्श (दर्पण ?) और अक्षमाला, बाएँ हाथो मे पुस्तक और कुंडिका। उन के कानो मे 'ग्राहकुंडल' होता था। पद्मासन मुद्रा में पद्म पर

शक्तियाँ

बठी होना चाहिए माथ पर ग्रमरक तिलक) अथवा 'मौक्तिपट्ट' हो गले म हार अथवा मोतियो की माला। कुचबध, बाहुमाला, केयूर, कटक, प्रकोष्टवलय आदि आभूषणो से सुसज्जित होना चाहिए। इस प्रकार अन्य देवियो के भी आभूषणादि का उल्लेख किया गया है। 'मही' से तात्पर्य पृथ्वी से है। इस का रग 'श्याम' और इस के एक हाथ मे नीलोत्पल और दूसरे मे 'दान-मुद्रा' होनी चाहिए। मनोन्मानी या 'रति' के तीन ऑखो का होना लिखा है और सिर पर जटा होनी चाहिए।

शक्तियो के अतिरिक्त 'मानसार' मे जिन, बुद्ध, मुनि, भक्त, वाहन (देवी देवताओ के) गरुड, वृषभ (नदी) सिहादि के बनाने के लिए माप दिए है जिन से आवश्यक ज्ञान प्राप्त हो सकता है। विशेष रूप से उन्हे अध्ययन करने की इच्छा रखने वाले को 'मानसार' के ५४ से ६१ तक के अध्यायो को पढ़ने की आवश्यकता होगी।

**अन्य मूर्तियाँ**

'मानसार' के अनुसार किसी प्रतिमा की सपूर्ण ऊँचाई नख से शिख तक मानी जाती थी। इस के भाग माने जाते थे और उसी के अनुसार प्रतिमा के समस्त अगो का निर्माण होता था। दशताल के उत्तम और मध्यम दो वर्ग माने गए है। उत्तम मे १२४ भाग मध्यम में १२० भाग। उदाहरणार्थ उत्तम दशताल के अनुसार किसी मूर्ति का माप यो होगा।

**दशताल-विधान**

सपूर्ण प्रतिमा के भाग १२४।

| | | |
|---|---|---|
| उष्णीष से केशान्त तक | = ४ | भाग |
| केशात से चिबुक तक | = १३ | भाग |
| गला | = ४½ | भाग |
| गले से हृदय तक | = १३½ | भाग |
| हृदय से नाभि तक | = १३½ | भाग |
| नाभि से मेढ़ सीमत (पेडू तक) | = १३½ | भाग |
| जघ से घुटने तक | = २७ | भाग |
| घुटना | = ४ | भाग |
| घुटने के नीचे से टखने तक | = २७ | भाग |
| पैर | = ४ | भाग |
| | १२४ | भाग |

चेहरे की लंबाई के तीन भाग होने चाहिए। बाह की लबाई २७ भाग होनी चाहिए---कोहनी २ भाग, पहुँचा २१ भाग + हाथ १३½ भाग। बिचली अँगुली की लंबाई ६½ भाग, शेष हथेली। पैर की लबाई १७ भाग, अँगूठे की लंबाई ४½ भाग, उस की आधी चौडाई। इस की आधी नाखून की चोडाई और अँगुली की चौड़ाई की पौनी नाखून की लबाई। इस प्रकार 'मानसार' ने शक्तियों की प्रतिमा के लिए मध्यम ताल माप उचित समझा है और इस के अनुसार उस में कुल १२० भाग माने गए है और इस मे भिन्न-भिन्न अंगो के परिमाण निश्चित किए गए है। ये माप चित्रकारो वा मूर्तिकारों के बडे काम के है।

**मधूच्छिष्ट-क्रिया**

मूर्तियो को ढालने के लिए और मोम की प्रतिमा बनाने को मधूच्छिष्ट-क्रिया कहते थे। मूर्तियो का चुनाव कर के उन पर मोम लगाते थे। मूर्ति के किसी किसी अग को ताम्रपत्र से भी मढते थे फिर उस पर दो तीन अगुल मोम लगाते थे। इस के ऊपर मिट्टी आदि पोत कर साँचा बनाया जाता था फिर इच्छानुसार उस मे मूर्तियाँ ढाली जाती थी।

**फुटकर**

'मानसार' से पता चलता है कि मूर्तियो के बन जाने के पश्चात् उन की 'नयनोन्मीलन' (नेत्र खोलना)-क्रिया बडे समारोह से होती थी। और मूर्तियो वा हर्म्यो के बनाने मे बड़ी सावधानता रक्खी जाती थी। 'मानसार' के एक अध्याय मे केवल 'अग-दोष-विधान' लिखा गया है; और वास्तुकार की असावधानी से यदि कोई दोष रह जाय तो उस का क्या फल होता है, यह भी लिखा है। इस से पता चलता है कि अशुद्ध मापने वाले वा शास्त्रो के नियमो को उल्लघन करने वाले को भारी पाप लगता था। हिंदुओ को सावधान रखने के लिए उन्हे पाप के भय के अतिरिक्त और कोई अन्य अमोघ उपाय नही मिलता था, जिस का प्रभाव चिरस्थायी रह सके।

**अन्य उपयोगी बातें**

राजाओ के प्रासाद, मुकुट आदि के लक्षण लिखते समय मानसार ऋषि ने राजाओ के विषय मे कुछ ऐसी बाते भी लिखी है जो यद्यपि 'मानसार' शिल्पशास्त्र के काम की नही परंतु उन से तत्कालीन राज्यव्यवस्था तथा सभ्यता के विषय मे कुछ उपयोगी ज्ञान प्राप्त होता है। 'मानसार' के ४१वें और ४२वें अध्याय का साराश यो है---राजा को, चार वेद, उस के छओ अग

(शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छद और ज्योतिष) शास्त्र, ........, दर्शन, आदि का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। वह धीरोद्दात हो, धीरललित हो, धीरोद्धत हो। राज्य के विषय मे उसे स्वय सब ज्ञान होना चाहिए। उसे स्वयं योद्धा होना चाहिए। राजाओ के नौ भेद हैं—(१) चक्रवर्तिन्, (२) महाराज (अधिराज), (३) महेंद्र (नरेंद्र), (४) पार्षणिक, (५) पट्टाधार, (६) मडलेश, (७) पट्टभज, (८) प्रहारक, और (९) अस्त्रग्राहिन्। इन मे 'अस्त्रग्राहिन्' सब से छोटा होता था। उन की सेनादि का उल्लेख यो हुआ है।

(१) अस्त्रग्राह—५०० अश्व, ५०० गज, ५०,००० पदातिक, ५०० वरागना और १ महिषी (रानी)।

(२) प्रहारक—६०० अश्व, ६०० गज, १००,००० सैनिक, ७०० वरागना और दो महिषियाँ।

(३) पट्टभज—८०० अश्व, ८०० गज, १५०,००० पदातिक, १००० वरांगना और तीन रानियाँ।

(४) मडलेश—१००० अश्व, १००० गज, २ लाख सैनिक, १५०० वरांगना और चार रानियाँ।

(५) पट्टाधार—१५०० अश्व, १२०० गज, २ लाख सेना, दो सहस्र वरागना और पाँच रानियाँ।

(६) पार्षणिक—२००० अश्व, १५०० गज, ४ लाख सैनिक, ३ हज़ार वरांगना और ६ रानियाँ।

(७) महेंद्र या नरेंद्र—१०,००० अश्व, कई सहस्र गज, १ कोटि सेना, ५०,००० वरागना, और १० रानियाँ।

(८) अधिराज वा महाराज—१ कोटि अश्व, १०,००० गज, दस कोटि पदातिक (तत्रकम्), दस लाख मरण्य (वह स्त्री जो राजा के साथ मरने को तैयार हो) और १००० रानियाँ।

(९) चक्रवर्ती—१ अर्बुद (दस करोड) अश्व, १ नर्बुद (सौ करोड) गज, १ महासख सैनिक, १ पद्म गणिका और एक परार्ध पट्टमहिषी। यह सब से बड़ा और सब का स्वामी होता था।

चारो दिशाओं का जीतने वाला चक्रवर्ती माना जाता था। अधिराजा सात देशो का नायक होता था। नरेंद्र तीन राज्य का अधिपति माना जाता था। इन से छोटे पार्ष्णिक पट्टधार, पट्टभज आदि होते थे। इन के पद और श्रेणी के अनुसार उन के पास सिंहासन, चमर, छत्र आदि राजलक्षणों का नियम भी 'मानसार' ने दिया है। एक बात जानने की यह है कि यह आवश्यक नही था कि राजा क्षत्रिय ही हो। चारो वर्णो के लोग राजा होते थे यहाँ तक कि 'मानसार' के अनुसार 'प्रहारक' नृप शूद्र ही होता था।

प्रजा से कर की व्यवस्था भी प्रसगवश 'मानसार' ने दे दिया है—चक्रवर्ती १/१० कर लेता था, महाराज उपज का षष्ठांश १/६ और नरेंद्र १/५, पार्ष्णिक १/४, पट्टधार १/३ इसी प्रकार और भी। ऐसा जान पडता है कि 'मानसार' के समय मे भारत की राजनैतिक व्यवस्था बहुत अच्छी थी। न्याय और दड का उचित विधान था—साधु, महात्माओ और ब्राह्मणो आदि को राज्य से सहायता मिलती थी। मंदिरो, धर्मशालाओ आदि की देख-रेख राजा की ओर से होती थी।

---

# वयणसगाई

[ लेखक—श्रीयुत सूर्यकरण पारीक, एम्० ए० ]

"इण भाखा आवै अवस, वैणसगाई वेस।"

(मुरारिदान)

राजस्थानी साहित्य के मध्यकाल मे काव्यभाषा डिंगळ का प्राधान्य रहा। यह बोलचाल की भाषा नही थी, कृत्रिम काव्य-भाषा थी, जिस का चारण, ढोली भाट आदि कवि अपने काव्यो मे प्रयोग करते थे। डिंगळ का साहित्य-भंडार बहुत विस्तृत है और वह मुख्यत शृगार और वीररसात्मक है। महाकाव्य, खडकाव्य, लोक-गीत, ऐतिहासिक महापुरुषों के गीत, धार्मिक स्तोत्र आदि का इस मे अखूट भंडार भरा है। मुख्यत गीत-साहित्य अधिक है। संयुक्त-वर्ण और द्वित्व-प्रयोग इस की विशेषताएं है, जिन के कारण यह भाषा समझने मे दुरूह और उच्चारण मे कठिन हो गई है। विक्रम की बारहवी शताब्दी से उन्नीसवी शताब्दी तक डिंगळ काव्य का अनुक्रम विकास-सूत्र मिलता है। प्रधान रचनाओं मे श्रीधर-कृत 'रणमल्ल छद' (वि० सं० १४५५ के लगभग) 'खीची अचलदास री वचनिका' (वि० स० १४७०) 'छद राउ जइतसीरउ' (स० १५९० के लगभग), 'वेलि क्रिसन-रुकमणी री' (सं० १६३७), 'राव रतनदास महेसदासोत री वचनिका' (स० १७१५), 'वरसलपुर-गढ-विजय' (स० १७६९) 'सूरज-प्रकाश', गोपीनाथ गाडण कृत 'ग्रथराज' (सं० १८०० के लगभग) आदि उल्लेखनीय है। शृगाररस मे स० पृथ्वीराज कृत 'वेलि क्रिसन-रुकमणी री' और वीररस मे वीठू सूजोकृत 'राउ जइतसी-रउ छद' उत्कृष्ट रचनाएँ है।

काव्य-भाषा डिंगळ की सबसे बडी विचित्रता वयणसगाई का प्रयोग है। प्राय सभी डिंगळ ग्रंथो में वयणसगाई का निर्वाह हुआ है। 'वयणसगाई' का अर्थ है वर्णो की मित्रता। इसे दूसरे शब्दो मे अक्षर-साम्य भी कह सकते है। डिंगळ भाषा का

वयण-सगाई व्यापक और अनिवार्य अलंकार है जो छंद के प्रत्येक चरण में पाया जाता है। रीति-ग्रंथों में इस के महत्त्व के सम्बन्ध में लिखा है--

**आवै इण भाखा अमल, वैणसगाई वेस।**
**दगध अगण वद दुगणरो, लागत नहिं लवलेस॥**

(रघुनाथ-रूपक)

[इस भाषा (डिंगळ) में वयणसगाई का प्रयोग होता है, जिस के नियमानुकूल निर्वाह से दग्धाक्षर, गणदोष आदि का भी लवलेश मात्र दोष नहीं लगता।]

वयणसगाई के सम्यक् निर्वाह के लिए डिंगळ के रीतिग्रंथों में नियम बने हुए हैं। चरण के प्रथम शब्द के प्रथम अक्षर के साथ उसी चरण के अंतिम शब्द के प्रथम अक्षर का अक्षर-साम्य अथवा अनुप्रास संघटित होने को वयणसगाई कहते हैं।

उदाहरण--

**खूँन कियाँ जाँणै खलक, हाड वैर जो होय।**
**वयणसगाई वरणतो, कळपत रहै न कोय॥**

(रघु०)

ऊपर के दोहे के चारों चरणों में क्रमशः खून-खलक, हाड-होय, वयणसगाई-वरण, कलपत-कोय में उत्तम प्रकार की वयणसगाई का निर्वाह हुआ है।

साधारणतः समान अक्षरों की आवृत्ति से वयणसगाई सिद्ध होती है और वह उत्तम कोटि की गिनी जाती है, परंतु कहीं-कहीं भिन्न परंतु समान ध्वनि वाले वर्णों में भी वयणसगाई घटित होती है। वर्णों का यह पारस्परिक संबंध-निरूपण इस प्रकार किया गया है। इसे अखरोट कहा गया है।

चौपाई

**आई ऊए यव मित्र आणो,**
**जझ, बव, पफ, नण, गघ त्रिब जाणो।**
**तट, धढ़, दड़, चछ मंछ जतावै,**
**वेदग ए अखरोट बतावै॥**

(रघु० १।३५)

दोहा

ऊ-कारादि षट बरण अ, जुग जुग अवर सु जाण।
इधक और सम न्यून इम, चित तीनूं पहिचांण॥

(रघु० १।३६)

[ आ ई ऊ ए य व ये छ मित्र-वर्ण हैं। जझ, बव, पफ, नण, गघ तट, धढ, दड, चछ इन के जोडे है। कवि लोग इस को 'अखरोट' कहते है। ]

आद तिको इज अंत मे, इधक सु खुलतो अंक।
अकारादि कहिया इता, मम अखरोट असंक॥

(रघु० १।३७)

जझ बवादि आखर जिके, आंणे सुकवि उमाह।
ताहि मछ कवि कहत है, नून मित्र नरनाह॥

(रघु० १।३८)

[ जो वर्ण चरण के प्रथम शब्द के आदि मे और वही अत के शब्द का प्रथम अक्षर हो, उसे 'इधक' अर्थात् अधिक वयणसगाई कहेगे। आ ई ऊ ए य व इन छः मित्र-वर्णो मे से किसी का किसी के साथ अक्षर-साम्य हो तो उसे 'सम' वयणसगाई कहेगे और जझ, बव, पफ, नण, गघ, तट, धढ, दड, चछ आदि जोडो मे अक्षर-साम्य हो तो उसे 'न्यून' वयणसगाई कहेगे। ]

ऊपर कहे हुए तीन प्रकार के मित्रवर्णो के आदि, मध्य और अंत मे रखने के प्रकार-भेद से भी क्रमश, अधिक, सम, और न्यून वयणसगाई बनती है। अक्षरो को स्थान के अनुसार रखने की इस विधि को 'अखरोट' कहा गया है।

वरण मित्त जू धरण विध, कवियण तीन कहंत।
आद इधक सम मध अवर, अंक न्यून सो अंत॥

(रघु० १।३९)

इन के उदाहरण नीचे दिए जाते है :—

विकट करो तीरथ वरत, धरा भेष के धार।
विना नाम रघुबीर रै, परत न उतरै पार॥

(रघु० १।४०)

इस म चरण के प्रथम शब्द के प्रथम अक्षर का चरण के अंतिम शब्द के प्रथम अक्षर के साथ अक्षर-साम्य है—यथा, विकट-वग्त, धग-धार, बिना-बीर, परल-पार। अतएव इसे अधिक अर्थात् उत्तम अखरोट कहेंगे।

सम अखरोट—उदाहरण—

नाम लियाँ थी मानवाँ, सलकै कळुष बिसाळ।
महि जंमे मेटै तिमर, रस अपरस किरणाळ॥
(रघु० १।४१)

इस मे चरण के प्रथम शब्द के प्रथम अक्षर का चरण के अंतिम शब्द के मध्यवर्त्ती अक्षर के साथ साम्य है, यथा—नाम-मानवा, सलकै-विसाल, महि-तिमर, रस-किरणाल। इसे सम अखरोट कहा गया है।

न्यून अखरोट—उदाहरण—

मरद जिके संसार मे, लपजै जीव बिसाल।
रात दिवस रघुनाथ रा, लेवै नाम रसाल॥
(रघु० १।४२)

यहाँ पर चरण के प्रथम शब्द के प्रथम अक्षर का चरण के अंतिम शब्द के अंतिम अक्षर के साथ अक्षर-साम्य है। यथा,—मरद-मे, लपजै-विसाल, रात-रघुनाथरा, लेवै-रसाल। इसे न्यून अखरोट कहा है।

इन तीनो भेदो से भिन्न वयणसगाई का एक चौथा भेद भी उपलब्ध होता है। उसे 'अरधमेल अखरोट' अथवा अलग्ग वयणसगाई कहते है। उदाहरण—

अरधमेळ अखरोट इक, चललुक किणि कवि चाल।
नाम हेक नर राम रै, किता कटै जग जाळ॥
(रघु० १।४३)

अथवा—

सैसवतनि सुबपति, जोवण न जाग्रति।
(वेलि, छद १५, प्रथम चरण)

यहाँ पर चरण को दो पृथक् विभागो मे विभक्त कर के साधारण नियम के अनुसार दो वयणसगाई उपस्थित की गई है, जिस से यह चमत्कार प्रतीत होता है मानो चरण

एक नही, दो है । यथा,—नाम-नर, राम-रै, किला-कटै, जग-जाल, सैसव-सुषपति, जोवण-जाग्रति ।

डिगळ मे छद के चरण या पाद को 'मोहरा' कहते है । किसी छद के चरणो को सम, अर्धसम अथवा विषम रीति से रखने के ढग को 'मोहरामेल' अर्थात् चरण-साम्य कहा गया है । 'मोहरामेल' भी तीन प्रकार का होता है—अधिक, सम, और न्यून । जिस छद के सभी चरणो मे 'अधिक' प्रकार की वर्णमैत्री और 'अधिक' प्रकार की ही अखरोट हो, उसे 'अधिक मोहरामेल' कहते है । जिस के चार चरणो मे से दो-दो एक समान हों, अर्थात् दो-दो मे एक ही प्रकार की वर्णमैत्री और अखरोट हो उसे 'सम मोहरामेल' कहते है, और जो इन दोनो भेदो से पृथक् हो अर्थात् जिस मे तीन चरण तो एक समान हो, और चौथा भिन्न हो, उसे न्यून कोटि का मोहरामेल कहते है ।

मोहरा-मेल

अधिक मोहरामेल—उदाहरण—

**वारज द्रग वारज वरण, गहर धरण गुणगाथ ।**
**करुणानिध अकरण करण, नमो नमो रघुनाथ ॥**

(रघु० १।४५)

यहाँ पर छद के चारो चरणो मे अधिक वर्णमैत्री और अधिक अखरोट का प्रयोग हुआ है । सभी चरणो की यह समता 'अधिक मोहरामेल' कहलाती है ।

सम मोहरामेल—उदाहरण—

**तिर्‌यो चहै भव पार तो, उबर धार हर एक ।**
**तिण रे नाम-प्रताप-थी, उधरै जीव अनेक ॥**

(रघु० १।४६)

इस उदाहरण के प्रथम और तृतीय चरणो मे 'अधिक' वर्णमैत्री और 'न्यून' अखरोट है । अतएव इन दो चरणो का समान जोडा हुआ । इसी प्रकार द्वितीय और चतुर्थ चरणो में 'सम' कोटि की वर्णमैत्री और 'अधिक' कोटि की अखरोट है । अतएव इन का भी जोड़ा हुआ । चरणो की यह अर्द्धसमता 'सम मोहरामेल' कहलाती है ।

न्यून ा हरण

गुणा करे रीझव गुणी, कोसल राजकँवार।
जिकण जिसो फिर जगत में, अवर न कोय उदार॥

(रघु० १।४७)

इस उदाहरण मे वर्णमैत्री की दृष्टि से प्रथम, द्वितीय, तृतीय चरण तो 'अधिक' है और चौथा 'सम' है। अखरोट की दृष्टि से पहला, तीसरा, चौथा 'अधिक' है और दूसरा 'सम' है। वर्णमैत्री और अखरोट दोनो की दृष्टि मे तीन चरण एक समान है और चौथा भिन्न है। चरणो की यह विषमता 'न्यून मोहरामेळ' कहलाती है।

यह तो वयणसगाई के सबंध मे शास्त्रीय नियम-निर्देश हुआ। साधारणत डिगळ कवियों में इसका पालन सर्वत्र देखा जाता है। परंतु जहाँ नियम है, वहाँ अपवाद भी है। कही-कही कवियों ने नियमों की जटिलता को तोड कर अपनी स्वच्छदवृत्ति का परिचय भी दिया है। सक्षेप मे कुछ अपवादो का यहाँ उल्लेख कर देना भी अप्रासगिक न होगा।

**अपवाद**

(१) यदि कोई चरण ाियाविशेषण, अव्यय, सर्वनाम अव्यय, समुच्चय-बोधक अव्यय, अथवा अन्य किसी अव्यय या उपसर्ग अथवा कारक-चिन्ह से प्रारभ हो तो वह अव्यय अथवा उपसर्ग अथवा कारक-चिन्ह चरण का प्रथम शब्द न समझा जायगा; वह संज्ञा, जिस का कि वह अगीभूत अग है, प्रथम शब्द मानी जायगी और इस सज्ञा के प्रथम अक्षर की वयणसगाई साधारण नियमानुसार चरण के अंतिम शब्द के प्रथम अक्षर के साथ घटित होगी।

यथा—

**किरि वैकुण्ठ अयोध्यावासी**

(वेलि, छद १०६ तृतीय चरण)

यहाँ पर 'किरि' अव्यय 'वैकुण्ठ' संज्ञा से सबध रखता है। अतएव 'वैकुण्ठ' शब्द प्रथम माना जा कर उस की वयणसगाई अंतिम शब्द (अयोध्यावासी) का प्रथम अक्षर (अ) अथवा मध्यवर्ती (व) के साथ सघटित हुई है।

इसी प्रकार के और भी उदाहरण है, जैसे—

(१) **किरि नीपायौ तदि नीकुटिअे ।**

(वेलि, छद ११० तृतीय चरण)

(२) **तिणि आपही करायो आदर ।**

(वेलि, छद १६८ तृतीय चरण)

(३) **जिम सिणगार अकीधै सोहति ।**

(वेलि, छद २२८ तृतीय चरण)

(४) **करि परिवार सकल पहिरायौ ।**

(वेलि, छंद २३७ तृतीय चरण)

( २ ) डिंगल भाषा में सज्ञा का कारक-चिन्ह सस्कृत, बगला, इत्यादि सयोगात्मक भाषाओं की तरह उस का अभिन्न भाग ही गिना जाता है। अतएव यदि चरण के अतिम शब्द के स्थान पर कोई कारक-चिन्ह अथवा उपसर्ग हो तो वह सज्ञा का अभिन्न भाग ही गिना जाता है और वयणसगाई उस सज्ञा शब्द के प्रथम अक्षर के साथ सघटित होती है।

यथा,—

**अम्ब जात्र अम्बिका-तणी ।**

(वेलि, छद ७९ चतुर्थ चरण)

यहाँ पर 'तणी' पृथक शब्द न गिना जा कर 'अम्बिकातणी' समस्त पद गिना गया है।

( ३ ) कहीं कहीं चरणो में वयणसगाई न होने पर भी उस का अभाव इसलिए नही अखरता कि उस छद में अथवा उस चरण में कवि ने पर्याप्त रूप में शब्दानुप्रास का अन्य रीतिसे उपयोग किया है

यथा,—

**दस मास समापति गरत्र दीध रति ।**

(वेलि, छंद २२९ प्रथम चरण)

वयणसगाई के प्रयोग से काव्य का भाषा-सबंधी बाह्य सौंदर्य अवश्य

बढ जाता है, परतु काव्य की अतरात्मा, अर्थ के दूषित[1] हो जाने पर वयणसगाई का चमत्कार भी उस भारी दूषण[1] को ढक नही सकता। रीतिकार ने ठीक ही कहा है—

वयणसगाई वेस, मिल्याँ साँच दोषण दटै।
किणयक समै कवेस, थपियो सगपण ऊथपै ॥

---

[1] डिंगळ के काव्य-दोषों के लिए देखो पं० नरोत्तमदास स्वामी, एम० ए० का लेख 'डिंगळ और काव्य-दोष', हिंदुस्तानी, अक्तूबर १९३४ में प्रकाशित।

# कालिदास के ग्रंथों में वर्णित भारतीय शासनपद्धति

[ लेखक—श्रीयुत भगवत शरण उपाध्याय, एम्० ए० ]

( क्रमागत )

राजधानी साम्राज्य-शासन का हृदय थी। यहीं से सारे शासन-सूत्र सर्वत्र फैले हुए थे। इस कारण इसे मूल कहते थे। यह शासन-रूप अश्वत्थ का वास्तव में मूल[1] थी

**राजधानी**

जहाँ से यह वृक्ष अपना भोजन पाता था। शासन का प्राण-रूप राजा यहीं वास करता था और राजधानी का शासन एक प्रकार से उस की दृष्टि के सामने ही होता था। यहीं साम्राज्य का न्यायमंदिर था जहाँ सारे साम्राज्य के नागरिकों के अभियोग सुनने, आवेदनपत्र ग्रहण करने और उचित न्याय करने मे कठिन परिश्रमी भारतीय सम्राट् सारा दिन व्यस्त रहता था।[2]

राजसभा की श्री अनेक सामंतराजाओं की उपस्थिति से, जो साम्राज्य के कितने ही उच्च पदों को सुशोभित करते थे, और भी कांतिमती हो जाती थी। कालिदास की राजसभा के वर्णन से प्रतीत होता है कि दरबार मुगल दरबारों की द्युति धारण करता था। साम्राज्य के उच्च पदाधिकारों के निमित्त सामंतराजाओं के बड़े बड़े प्रयत्न होते होंगे, बड़े बड़े षड्यन्त्र रचे जाते होंगे। उन की इस चेष्टा से उन के दमन में सम्राट् को बड़ी सहायता मिलती होगी।

अमात्यपरिषद् के राजधानी में होने से विदित होता है कि अधिकरणाध्यक्षों

---

[1] स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः।
रघुवंश, ४।२६

[2] स पौरकार्याणि समीक्ष्य काले रेमे विदेहाधिपतेर्दुहित्रा।
उपस्थितश्चारु वपुस्तदीयं कृत्वोपभोगोत्सुकमेव लक्ष्म्या॥
रघुवंश, १४।२४

के हेडक्वार्टर राजा के दृष्टि-पथ के अंतर्गत ही थे राजधानी की रक्षा का साधारण भार 'नागरिक' (अर्थशास्त्र का पौर) के ऊपर निर्भर था जो कि पुलीस विभाग का अध्यक्ष था और रात्रि के उपद्रवियों को दंड से शांत करता था।

जब राजा दिग्विजय या अन्य कार्यवश राजधानी छोड़ कर राज्य के बाहर जाता था उस समय राजधानी (मूल) और सीमाप्रांत (प्रत्यंत) की रक्षा का प्रबंध कर[1] राज्यशासन की बागडोर सचिवों के हाथ में छोड़ जाता था।[2]

नगर एक प्रबल प्राकार से परिवेष्टित था और इस परिवेष्टन के चतुर्दिक एक चौड़ी, गहरी खाई[3] बराबर जल से भरी रहती थी। उस समय, जब कि दुर्ग रक्षा का एक प्रबल आश्रय था, नगर, प्राकार और खाई बाहरी आक्रमणकारियों के मार्ग में भारी अवरोध सिद्ध होते थे।

राजधानी का शासन साम्राज्यांतर्गत अन्य नगरों के लिए एक आदर्श था जिस का वे अनुकरण करते थे। विदिशा नगरी की भाँति वाइसरायों की भी राजधानियाँ थीं, जिन का शासन मुख्य राजधानी के अनुरूप ही होता था। देश में जल और स्थल मार्गों से बहुत व्यापार होने के कारण[4] यह कहा जा सकता है कि सामुद्रिक नगर अथवा बंदर-गाह भी साम्राज्य में काफी रहे होंगे।

---

[1] रघुवंश, ४।२६

[2] तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे।
रघुवंश, १।३४

...राजर्षिममात्येषु निवेशित राज्यधुरम्।
विक्रमोर्वशीयम्, ४

स्वन्मतिः केवला तावत्परिपालयतु प्रजाः।
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ६

[3] श्रुत्वा रामः प्रियोदन्तं मेने तत्संगमोत्सुकः।
महार्णवपरिक्षेपं लंकायाः परिखालघुम्॥
रघुवंश, १२।६६

तथैव

स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम्।
अनन्यशासनामुर्वी शशासैकपुरीमिव॥
रघुवंश १।३०

[4] अमात्य पिशुन की अर्थ-संबंधी सूचना।
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ६

राजप्रासाद आभ्यतर[1] और बाह्य कक्षों से भरा एक बहुत बड़ा स्थान था। राजप्रासादों के विमानपरिच्छन्द, मणिहर्म्य, देवच्छंदक, अभ्रलिहाग्र आदि कितने ही नाम रक्खे जाते थे जिन से उन की वृहती स्थित का पता सरलता से चल सकता है। 'विक्रमोर्वशीय', 'मालविकाग्निमित्र', 'अभिज्ञानशाकुतल' और 'मेघदूत' से इन नामों का पता चलता है। इन प्रासादों में अनेकानेक छोटे बड़े कमरे होते। उन में एक को अग्निशरण[2] अथवा अभ्यागार कहा गया है जो शायद आधुनिक ड्राइंग रूम की भाँति व्यवहृत होता था। इस मे अग्नि रक्खी जाती थी। परंतु ऊँचे बरामदे वाला यह अभ्यागार आजकल का साधारण ड्राइंग रूम नहीं था बरन् वह स्थान था जहाँ विशेष कार्यों के निमित्त राजा वैद्यों और तपस्वियों से मिलता था। यह उस प्रकार का कमरा नहीं था जिस में सर्दी के मौसम में राजा शीत शात करता वरन् इस मे गार्हस्थ्य अग्नि निरंतर प्रज्वलित रक्खी जाती थी। यदि ऐसा न होता तो वहाँ बँधी यज्ञ संबंधी गौ (होमार्थ धेनु)[3] की क्या आवश्यकता थी?

राजप्रासाद

इन राजप्रासादों के अपने वन्यपशुओं को रखने के लिए उपवन भी थे, जहाँ पिंगल, कपि[4] आदि रक्खे जाते थे।

राजप्रासाद की रक्षा एक सुसगठित रक्षकसैन्य द्वारा होती थी। इन को 'अवरोधरक्षक'[5] कहते थे। दिल्ली के मुस्लिम शासकों के हरम की तातारी बाँदियों की भाँति कालिदास के समय के हिंदू राजप्रासाद के अवरोधगृहों की रक्षा भी विदेशी स्त्रियों द्वारा होती थी। ये दासी रूप में हिंदू राजाओं द्वारा क्रय की जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन समय में हिंदू राजा इन को अंतःपुर की रक्षा के लिए बराबर नियुक्त

---

[1] या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः।
अभिज्ञानशाकुंतल, ५।३

[2] अग्निशरणमार्गमादेशय।
वही।

[3] अभ्यागारतः कार्यम्पश्येद्वैद्यतपस्विनाम्—भाष्यकार।

[4] कुमारी वसुलक्ष्मीः कन्दुकमनुधावन्ती पिंगलवानरेण...
मालविकाग्निमित्र, ४

[5] दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः।
रघुवंश, ७।१९

करते थे विशेष कर य 'यवनी' राजा के शस्त्रास्त्रों को वहन करती थीं 'यवन' शब्द से यूनानियो अथवा अयोनियनों (तातारो अथवा बेक्ट्रियनो) का बोध होता है। कौटिलीय अर्थशास्त्र मे इन यवनियो का उल्लेख हुआ है। उस मे लिखा है कि आखेट के समय शस्त्रास्त्रो से सुसज्जित वे राजा को चतुर्दिक घेरे रहे और प्रात काल शय्या छोडते समय राजा उन्ही का मुख देख कर उठे। यवनी शब्द का कालिदास द्वारा उल्लेख एक प्रकार से और मुख्यता रखता है। यूनानी राजदूत मेगैस्थेनीज़ के लेखो से विदित होता है कि जब सम्राट् चंद्रगुप्त राजप्रासाद से बाहर निकल कर नगर के राजमार्ग पर घूमता था तब उस की पालकी धनुर्बाण-ग्राहिणी यवनियो द्वारा घिरी रहती थी। कालिदास ने भी उन को सदा अस्त्रो से सुसज्जित[1] ही लिखा है। समय समय पर इन यवनियो ने राजा की प्रेयसी का भी आचरण किया होगा क्योंकि विदेशी ग्रीक नारियो का शरीर-गठन दुर्बल काश्मीर-कुसुम से कुछ कम आकर्षक नही होता।

राजप्रासाद का चार्ज कंचुकी अथवा प्रतीहार के अधीन था। उस की नियुक्ति असाधारण थी। पर्याप्त वयस का बडा ईमानदार, सत्यवादी और असाधारण शीलाचरण-पूत राजसेवक ही इस भार को वहन करने के लिए चुना जाता था। राजा के अवरोधगृहा मे सिवा प्रतीहार के और किसी पुरुष के प्रवेश करने की आज्ञा नही थी। इस प्रकार यह कार्य बड़ी ज़िम्मेदारी का था। कालिदास के नाटको मे उस का प्रवेश असाधारण सा होता है। वह शांतिप्रिय और बिचारशील व्यक्ति वृद्धावस्था के नाना कष्टो का स्मरण कराता हुआ आता है और वयस से प्राप्त उस की प्रशात मुद्रा पाठको पर असाधारण प्रभाव डालती है। नियुक्ति के समय वह बडा बलवान होता था परंतु क्रमश वयस की वृद्धि के साथ साथ वह दुर्बल होता जाता था, फिर भी शील, सत्यता और आचार पर ध्यान देते हुए यह कहा जा सकता है कि अपने पद के लिए उस की योग्यता और भी बढती जाती थी। इसी कारण वृद्धावस्था मे भी उस को अपने अधिकार से छुट्टी नही मिलती थी। यह बात उस की उक्ति मे स्पष्ट हो जाती है—"प्रत्येक गृहस्थ प्रारंभिक जीवन मे

---

[1] धनुर्ग्राहिणी यवनी

विक्रमोर्वशीयम्, ५

एषा बाणासनहस्ताभिर्यवनीभिः

अभिज्ञानशाकुन्तलम्, २

धन अर्जन करने का उद्योग करता है और जब उस का गार्हस्थ्य-भार उस के पुत्र ग्रहण कर लेते है तब वह शांतिपूर्वक विश्राम करता है, परंतु हमारी वृद्धावस्था शरीर को जीर्ण करती हुई सेवा में ही संलग्न रहती है। हा शोक[1] अवरोधगृहो मे (स्त्रीसमुदाय का) सेवा-कार्य बडा कष्टकर होता है।"[1] इस प्रकार वह स्त्रियो की रक्षा और उन के प्रबंध के लिए नियुक्त होता था और इस रूप मे वह अशोक के शिलालेखो के 'स्त्र्याध्यक्ष' संज्ञा वाले पदाधिकारी से कुछ कुछ मिलता है।[2] राजा उस का बडे आदर के साथ संबोधन करता है और उस के संबंध में 'भवान्' सर्वनाम का प्रयोग करता है।

वह राजप्रासाद के सारे कर्मचारियों का अध्यक्ष था और इस हेतु सत्तास्वरूप एक वेत्रदंड धारण करता था।[3] अभिज्ञानशाकुंतल' के द्वितीय अंक के 'दौवारिक' की भाँति वेत्रयष्टि हाथ में धारण किए द्वार में खड़े दौवारिको की अनेक सुंदर सौम्य मूर्तिया मथुरा के पुरातत्व-संबंधी कर्जन म्यूजियम मे देखने में आती है।

पुलीस विभाग का अध्यक्ष 'नागरिक' था जिस के नीचे नगर के सारे 'रक्षक' कार्य करते थे। मध्यकाल के कोष्ठपाल की भांति वह नगर का रक्षा-भार वहन करता था।

**पुलीस-विभाग**

'अभिज्ञानशाकुंतल' के छठे अंक मे यह नागरिक अभियुक्त को न्याय-मंदिर में दंडार्थ ले जाता है। अभियुक्त को नागरिक के अधीनस्थ रक्षक या पुलीस कान्स्टेबुल पकड कर ले जाते है। यही रात्रि मे पहरेदारो

---

[1] सर्वः कल्पे वयसि यतते लब्धमर्थान्कुटुम्बी
पश्चात्पुत्रैरपहृतभरः कल्पते विश्रमाय।
अस्माकं तु प्रतिदिनमियं साधयंती प्रतिष्ठां
सेवा कारापरिणतिरभूत्स्त्रीषु कष्टोऽधिकारः॥
विक्रमोर्वशीयम्, ३।१

[2] अथा व्यापता धम्ममहामाता च इथीझख महामाता च वचभूमिका च...
अशोक के चतुर्दश शिलालेख,
(शहबाजगढ़ी संस्करण)

[3] आचार इत्यवहितेन मया गृहीता
या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः।
काले गते बहुतिथे मम सैव जाता
प्रस्थानविक्लवगतेरवलम्बनार्था॥
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५।३

का कार्य भी करते होंगे। 'विक्रमोर्वशीय' के अनुसार नागरिक का संबंध नगर के शासन से है। परंतु वहाँ भी वह पुलीस के योग्य कार्य सौंपा गया है। वहाँ भी वह एक चोर पक्षी के पीछे भेजा जाता है। वहाँ नागरिक शब्द का बहुवचन में प्रयोग इस बात को सिद्ध करता है कि नागरिक अपने सारे समुदाय के साथ 'नागरिका' कहलाता था।[१] 'अभिज्ञानशाकुंतल' में हमारा जिन अभियुक्त 'रक्षकों' से साक्षात् होता है वे अपने चरित्र और इच्छा में ठीक आज कल के कांस्टेबुलों की तरह प्रतीत होते हैं। उन में से एक के हाथ अभियुक्त के वधार्थ फूल बांधने के लिए प्रस्फुटित[२] होते हैं परंतु ज्योंही अभियुक्त पुरस्कृत कर के छोड़ा जाता है उन में से एक उस के द्रव्य को ईर्ष्यापूर्वक[३] देखता है और चातुरी भरे शब्दों में कहता है कि नागरिक ने धीवर का कार्य खूब बनाया है। इस पर धीवर उन को अपने पुरस्कार-द्रव्य का आधा उन के 'सुमनमूल्य'[४] (आज कल के 'पान खाने के लिए' की तरह) के अर्थ देता है, जिसे रक्षक बहुत उचित समझते हैं[५] और स्वयं नागरिक कहता है "धीवर, तुम महत्तर हो। आज से तुम मेरे परम मित्र हुए। इस मित्रता का साक्षी मदिरा होगी। अतः हम लोग मदिरा की दूकान पर चलें।"[६] ऊपर के उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि पुलीस का आचरण बहुत उच्च नहीं था। यदि वे घूसखोर नहीं थे तो कम से कम पुरस्कार ग्रहण करते थे। मदिरा की तृष्णा उन में बड़ी बलवती थी।

परंतु जब तक अभियुक्त का अभियोग सुन कर अदालत अपना निर्णय नहीं दे देती तब तक उस के प्रति रक्षकों का आचरण बड़ा कठोर रहता था। न्याय के सिद्धांतों

---

[१] भद्रवनादुच्यन्तां नागरिकाः सायं निवासवृक्षाग्रे विचीयतां विहगाधमः।
विक्रमोर्वशीयम्, ५

[२] जानुक, प्रस्फुटतो मम हस्तावस्य वधार्थं सुमनसः पिनद्धुम्॥
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ६

[३] इति पुरुषमसूयया पश्यति।
वही।

[४] भट्टारक, इतोऽर्धं युष्माकं सुमनोमूल्यं भवतु।
वही।

[५] एतावद्युज्यते।
वही।

[६] धीवर, महत्तरस्त्वं प्रियवयस्क इदानीं मे संवृत्तः। कादम्बरी सखित्वमस्माकं प्रथमशोभितमिष्यते। तच्छौण्डिकापणमेव गच्छामः।
वही।

को विफल करने के लिए वे घूस नहीं खाते थे। जो द्रव्य रक्षकों ने धीवर से लिया था उस को घूस नहीं कहा जा सकता क्योंकि तब तक अभियुक्त का आचरण जाँचा जा कर उचित पाया जा चुका था। उसे न्यायालय ने मुक्त कर दिया था। अतः जो द्रव्य उन्हों ने ग्रहण किया था वह एक प्रकार की छूटने की खुशी में बख्शीश थी। यदि यही द्रव्य उन्हों ने अभियोग सुने जाने के पहले लिया जाता तो उसे घूस कहते और इस दशा में उन का आच-रण न्याय के विपरीत होता। इस से न्याय का हनन हो जाता। फिर भी तब की पुलीस का यह आचरण क्षम्य और सराहनीय नहीं हो सकता।

**व्यवहार और न्याय**

ब्रह्मचर्याश्रम में शास्त्रों के मनन से राजा 'व्यवहार' का पंडित हो जाता था। दंडविधान में 'व्यवहार' का पूर्ण ज्ञान अनिवार्य था। अभियुक्त को उस के दुष्कर्म के अनुसार ही दंड देना था। यह तभी हो सकता था जब व्यवहार ग्रंथों के नित्याभ्यास से शास्त्रों में बुद्धि अकुंठिता होती। इस प्रकार यथापराधदंड[1] में न्याय की नींव, व्यवहार का पांडित्य राजा प्राप्त करता था। राजा एक प्रकार से व्यवहार का रक्षक मात्र था। न्यायार्थ दंड में वह व्यवहार का प्रयोग करता था। राजा व्यवहार का उद्गम नहीं केवल 'व्यावहारिक' मात्र था क्योंकि कालि-दास के सारे ग्रंथों में अथवा सारे संस्कृत साहित्य में हम कहीं राजा का संबंध व्यवहार-निर्माण से नहीं पाते। जैसा वह व्यवहार को नीति-शास्त्रों में पाता था वैसा ही वह उस का प्रयोग करता था। सर्वत्र वह प्रजा का शास्त्रानुसार रक्षक बताया गया है। व्यवहार के उद्गम, ईर्ष्या और स्वार्थ-रहित अरण्यवासी सांसारिक बंधनों के छेत्ता साधु-तपस्वी थे। उन के बनाए व्यवहार को साधारण अवस्था में राजा किंचिन्मात्र भी नहीं बदल सकता था। राजा सामाजिक नियमों और वर्णाश्रमधर्म का रक्षक था और प्रजा को न्याय्य आचरण से संबद्ध रखने में सदा 'जागरूक'[2] रहता था। उस का यह

---

[1] रघुवंश, १।६

[2] निगृह्य शोकं स्वयमेव धीमान्वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः।
स भ्रातृसाधारणभोगमृद्धं राज्यं रजोरिक्तमनाः शशास ॥
रघुवंश, १४।८५

वर्णाश्रमाणं रक्षिता।
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५

कर्तव्य था कि वह बराबर देखता रहे कि कहीं कोई वर्णाश्रमधर्म के नियमों का उल्लंघन तो नहीं करता। जिस प्रकार कुशल सारथी अपने रथ को पूर्व गए हुए रथों की लीक पर ही ले जाता है, वैसे ही राजा भी शास्त्रानुमोदित मार्ग से अपनी प्रजा को 'रेखा मात्र की चौडाई' के बराबर भी नहीं हटने देता था।[1]

दंड-नीति का एक वैज्ञानिक विधान था। राष्ट्र की स्थिति[2] के लिए अपराधियों को न्यायपूर्वक दंड देना आवश्यक था। दंड का रूप राजा की स्वेच्छाचारिता नहीं थी वरन् उस की नींव एक सुंदर, सुव्यवस्थित और सुस्पष्ट व्यावहारिक नीति थी जिस के ऊपर अभियोग को जाँच कर उस की गुरुता और लघुता के अनुसार दंड दिया जाता था।[3] राजा अपनी प्रजा का शासन 'रजोरिक्तमन'[4] से—क्रोधादि विकारों से मुक्त हो कर—करता था। रजोगुण के प्रभाव से जो स्वेच्छाचारिता के फलस्वरूप और शास्त्रविमुख आचरण होते हैं, उन से वह दूर था। दंडशक्ति धारण करने वाला राजा 'विमार्ग' पर आरूढ़ व्यक्तियों को रोक कर व्यवहार के मार्ग पर चलाता था, 'विवादों' का 'शमन' करता था और इस प्रकार प्रजा की रक्षा करता था। लोगों का कहना था कि धन के आगमन के साथ साधारण मित्रों की अतिशय वृद्धि होती है परंतु राजा में सारे 'बंधुकृत्यों' की पराकाष्ठा हो जाती है।[5] प्रजापालन में लीन राजा प्रजा का अद्वितीय बंधु है। उस के प्रेम का अंत नहीं।

**दंड-नीति**

---

[1] रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम्।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः॥
रघुवंश, १।१७

[2] स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान्परिणेतुः प्रसूतये।
अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्मएव मनीषिणः॥
रघुवंश, १।२५

[3] यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम्।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम्॥
रघुवंश, १।६

[4] ...राज्यं रजोरिक्तमनाः शशास॥
रघुवंश, १४।८५

[5] नियमयसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः
प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय।
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम
त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम्॥
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५।८

न्यायालय राजप्रासाद के ही बाहरी भाग मे होता था, जहाँ न्याय का अंतिम आश्रय, राजा, व्यवहार के आधार पर दडविधान करता था। वह वहाँ अपने व्यवहारासन पर बैठा शास्त्र द्वारा बनाए गए समय पर पौरकार्यों का निरीक्षण करता था,[१] नागरिको के आवेदनपत्रो को सुनता था। इस कार्य के अनंतर ही वह अपनी ओर ध्यान देता था। इसी कारण राजा का यह आसन व्यवहारासन,[२] धर्मासन[३] और कार्यासन[४] के नामो से विख्यात था। व्यवहारासन मे राजा के दडकार्य विशेष का ही बोध होता है। यह आसन वह प्रजा के कार्यों की पूर्ण रूप से परीक्षा[५] करने के लिए ग्रहण करता था। यह धर्मासन था क्योंकि यहाँ वह किसी प्रकार के अधर्म का आचरण नही कर सकता था। कार्यासन से उस का न्याय मे निरतर व्यसन सिद्ध होता है। इस आसन पर बैठा वह प्रजा के विवाद सुन कर उन पर अपना न्यायपूर्ण निर्णय देता था। ऐसा प्रतीत होता है कि न्यायालय वादियो और प्रतिवादियो से बराबर भरा रहता था क्योकि 'जनसपात'[६] शब्द

---

[१] स पौरकार्याणि समीक्ष्य काले रेमे विदेहाधिपतेर्दुहित्रा ।
उपस्थितश्चारु वपुस्तदीयं कृत्वोपभोगोत्सुकयेव लक्ष्म्या ॥
रघुवंश, १४।२४

[२] नृपतिः प्रकृतिरवेक्षितुं व्यवहारासनमाददे युवा ।
परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूतं प्रयास्तु विष्टरम् ॥
रघुवंश, ८।१८

[३] तथापीदानीमेव धर्मासनादुत्थिताय पुनरुपरोधिकारी कण्वशिष्यागमनमस्मै नोत्सहे निवेदितुम् ।
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५

धर्मासनम् ।
उत्तररामचरितम्, १

तद्यावत्सराजा धर्मासनगत इत आयाति ।
विक्रमोर्वशीयम्, २

[४] एष पुनः प्रियवयस्यो कार्यासनमुत्थित इति एवागच्छति ।
वही ।

[५] नृपतिः प्रकृतीरवेक्षितुं व्यवहारासनमाददे युवा ।
रघुवंश, ८।१८

[६] अविदाविद भोः निमन्त्रणिकः परमान्नेनेव राजरहस्येन स्फुटन्न शक्नोमि जनाकीर्णेऽकीर्तनेनात्मनो जिह्वां धारयितुम् । तद्यावत्सराजा धर्मासनगत इत आयाति तावदेतस्मिन्विरलजनसंपाते देवच्छन्दकप्रासाद आरुह्य स्थास्ये ।
विक्रमोर्वशीयम्, २

से आधुनिक अदालतों की भीड का स्मरण हो आता है।

ज़ाब्ता फौजदारी मौर्य सम्राटो के समय की दडपद्धति की भाँति ही कठोर प्रतीत होती है। चोरी का प्राणदंड होता था। 'अभिज्ञानशाकुतल' का धीवर केवल चोरी के अपराध का अभियुक्त है, फिर भी शूली अथवा कुत्तो[1] द्वारा उस के प्राणहरण की आशका है। चोरी मे प्राणदड की व्यवस्था मनुस्मृति में बताई दंडनीति के अनुरूप है।[2] कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी केवल सुनार की दूकान में प्रवेश मात्र का प्राणदड विधान है।[3]

**ज़ाब्ता फ़ौजदारी**

जिस व्यक्ति के पास चुराई हुई वस्तु का कोई हिस्सा मिलता था उसी से पूरी वस्तु वसूल की जाती थी। यह भारतीय प्रमाण-सिद्धात का उदाहरण था। इस पद्धति का प्रयोग चोरी का पता लगाने मे करते थे। सिद्धात यह था कि जिस के पास अश की प्राप्ति होती थी वह पूर्ण का उत्तरदायक हो।[4] यह एक व्यावहारिक सिद्धात था। क्योंकि निष्कर्ष यही निकलता है कि आधे का रखने वाला चोर होगा और सारा उसी के पास होगा।

प्रमाण पेश करते समय अदालत मे साक्षियो के आचरण और उन की सामाजिक अवस्था को भी ध्यान मे रक्खा जाता था। शार्ङ्गरव के व्यंगपूर्ण वक्तव्य से ज्ञात होता है कि

---

[1] गृध्रबलिर्भविष्यसि शुनोमुखं वा द्रक्ष्यसि
अभिज्ञानशाकुंतलम्, ६
एषनामानुग्रहो यच्छूलादवतार्य हस्तिस्कन्धे प्रतिष्ठापित:
वही।
एष यमसदनं प्रविश्य प्रतिनिवृत्त:
वही।

[2] पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां च विशेषत:।
मुख्यानां चैव रत्नानां हरणे बधमर्हते॥
मनुस्मृति, ८

[3] अर्थशास्त्र, ४

[4] यदि हंसगता न ते नतभ्रू:
सरसो रोधसि दृक्पथं प्रिया मे।
मदखेलपदं कथं नु तस्या:
सकलं चोरगतं त्वया गृहीतम्॥
विक्रमोर्वशीयम्, ४।३२

सदाचारी साक्षी का दुराचारी साक्षी से अधिक विश्वास किया जाता था उस के साक्ष्य की गुरुता का अदालत आदर करती थी। शार्ङ्गरव का वक्तव्य इस प्रकार है—"आश्चर्य! जो व्यक्ति 'जन्म' से ही 'शाठ्य' मे 'अशिक्षित' है उस के 'वचन' 'अप्रमाणित' किए जाते है और जिन्हो ने औरो को धोका देना 'विद्या' की भॉति सीखा है उन के वचन प्रामाणिक समझे जाते है।"[1]

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है चोर के लिए प्राणदड दिया जाता था (यमसदनं)[2]। प्राणदड बडा भयावह था। या तो प्राणदड पाए हुए को मार कर उस के शव के टुकडे गिद्धो के सम्मुख डाल देते थे[3] अथवा उस का आधा शरीर पृथ्वी मे गाड कर उस पर कुत्ते ललकार दिए जाते थे।[4] प्राणदंड के पूर्व उसे फूलो से सुसज्जित करते थे।[5] शूली पर चढ़ा कर ही शायद गृध्रबलि दी जाती थी। 'राजशासन'[6] राजा की उन आज्ञाओ को कहते थे जो वह अपने हस्ताक्षर के साथ लिख कर देता था। प्राणदड के पूर्व इस लिखे शासन की अनिवार्य आवश्यकता होती थी। विना इस के प्राणदंड नही हो सकता था। राजशासन लिख कर उपयुक्त अधिकारियो को दे दिए जाते थे, जो उन के पालन का उचित प्रबध करते थे।

ऊपर के वर्णन से यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि दंडनीति बड़ी कठोर थी। 'मालविकाग्निमित्र' के एक स्थल से विदित होता है कि स्त्री अपराधियों को भी बेडियाँ[7] पहनाने का विधान था। परंतु ब्राह्मणो के दड की भॉति उन का दंड भी अवश्य मर्दों की

---

[1] आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितो य—
स्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य।
परातिसंधानमधीयते यै—
र्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः॥
अभिज्ञानशाकुंतलम्, ५।२५

[2] वही, ६ [3] वही। [4] वही।

[5] प्रस्फुरतो मम हस्तावस्य वधार्थं सुमनसः पिनद्धुम्।
वही।

[6] एष नो स्वामी पत्रहस्तो राजशासनं प्रतीक्ष्येतो मुखो दृश्येत।
वही।

[7] मालविका बकुलावलिका च पातालवासं निगलपद्यावदृष्टसूर्यपादं नागकन्यके इवानुभवत:............ ।
मालविकाग्निमित्रम्, ४

अपेक्षा कुछ कम कठोर रहा होगा जैसा संस्कृत साहित्य के अन्य ग्रंथो से पता चलता है दंड की कठोरता के होते हुए भी चोरी वगैरह अपराध होते थे। 'चौर' और 'गंडभेदक' आदि शब्दो का कालिदास में प्रयोग मिलता है। राजमार्ग पर दस्युता का प्रमाण भी 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के एक श्लोक से[1] उपलब्ध होता है, जिस से ज्ञात होता है कि दस्यु सशस्त्र पर भी आक्रमण कर बैठते थे। उस का उल्लेख इस प्रकार है—"धनुष हाथ मे लिए, कोलाहल करते हुए प्रतिरोधकों का एक दल आ पहुँचा। उन के वक्ष तूणीर-पट्ट से आच्छादित थे और वे मयूर-पुच्छ पहने हुए थे, जिन के पंख उन के कानों तक लटके हुए थे। उन का प्रथम आक्रमण अमोघ होता था।"

कारागार शायद किसी अँधेरे स्थान मे होते थे। संभव है वे प्रासाद के ही किसी निचले बहिर्भाग मे होते हो जहाँ सूर्य का प्रकाश न पहुँचता हो और पाताल लोक का भ्रम होता हो।[2]

कालिदास के ग्रंथो मे एक स्थल को छोड़ कर और कही दीवानी विधान का प्रमाण नही है। संभव है उस समय फौजदारी और दीवानी व्यवहार के भिन्न-भिन्न अंग पूर्णरूप से अलग न किए गए हो। 'अभिज्ञानशाकुंतल' के छठे अंक मे जब राजा मंत्री को प्रजा के वाद-प्रतिवादो को सुन कर एक रिपोर्ट देने की आज्ञा करता है तब मंत्री उस दिन का एक मात्र विषय इस प्रकार लिखता है—

**ज़ाब्ता दीवानी**

"समुद्रमार्ग से व्यापार करने वाला धनमित्र नामक सार्थवाह जहाज़ के साथ डूब गया है। लोगो का कहना है कि वह बेचारा निर्वंश है। अतः उस का संचित धन राज-कोष मे जाएगा।"[3]

---

[1] तूणीरपट्टपरिणद्धभुजान्तराल-
माप‍ार्ष्णिलम्बिशिखिपिच्छकलापधारि।
कोदण्डपाणि विनदत्प्रतिरोधकाना-
मापातदुष्प्रसहमाविरभूदनीकम्॥
मालविकाग्निमित्रम्, ५।१०

[2] पातालवासं....अदृष्टसूर्यपादं..........।
वही, ४

[3] राजा—समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः। अन-

रिपोर्ट पढ़ कर राजा मंत्री को यह पता लगाने की आज्ञा देता है कि धनमित्र की कई पत्नियों में से कोई गर्भवती तो नहीं है। पता लगाने पर यह विदित होता है कि उस की एक पत्नी का शीघ्र ही पुंसवन संस्कार किया गया है। फिर राजा मंत्री को धनमित्र का धन लौटा देने की आज्ञा देता हुआ कहता है कि "गर्भ का बालक पैतृक संपत्ति का अधिकारी होता है।"

ऊपर के लेख से ज्ञात होता है कि मृत व्यक्ति का धन पुत्र की अनुपस्थिति में राजगामी होता था। इस से यह भी पता चलता है कि विधवा पत्नी अपने स्वामी के धन की स्वामिनी नहीं हो सकती थी। मंत्री ने यह जान कर कि धनमित्र के कोई पुत्र नहीं है उस का धन राजकोष में संमिलित कर लिया था, परंतु राजा ने फिर अनुसंधान करा कर सारा धन लौटा दिया। इस से यह सिद्ध होता है कि यो विधवा मृत स्वामी के धन की हकदार नहीं थी, परंतु पुत्र की आशा में गर्भ धारण करती हुई वह धन पा सकती थी।

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि राजा किस प्रकार न्याय-संपादन करता था। राजा की प्रजा के हितार्थ चिंता बड़ी सराहनीय है। उस ने अपने राज्य में घोषणा करा दी कि जिस-जिस प्रजा का जो-जो आत्मीय मृत हो जाय उस-उस की स्थान-पूर्ति राजा स्वयं करेगा। वह केवल प्रजा के पाप का भागी नहीं होगा।[1]

विशेष अवसरों पर बंदियों को मुक्त करने की एक प्राचीन प्रथा थी। राजा का पुत्रोत्सव एक ऐसा ही अवसर था।[2] राजा के दुर्ग्रहों की शांति के अर्थ भी कैदी छोड़े जाते

---

पत्यश्च किल तपस्वी। राजगामी तस्यार्थसञ्चय इत्येतदमात्येन लिखितम्। कष्टं खल्वनपत्यता। वेत्रवति, बहुधनत्वाद्बहुपत्नीकेन तत्र भवता भवितव्यम्। विचार्यतामस्यदिकाचिदापन्नसत्त्वा भार्यासु स्यात्।

प्रतीहारी—इदानीमेव साकेतस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निर्वृत्तपुंसवनाजायास्य श्रूयते।

राजा—ननु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति, गच्छ, एवममात्यं ब्रूहि।

अभिज्ञानशाकुंतलम्, ६

[1] येन येन वियोज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्॥

अभिज्ञानशाकुंतलम्, ६।२३

[2] न संयतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद्यं सुतजन्महर्षितः।
ऋणाभिधानात्स्वयमेव केवलं तदा पितॄणां मुमुचे स बन्धनात्॥

रघुवंश, ३।२०

थे [1] भविष्यवक्ता राजसभाओं में रहते थे जो दुष्टग्रहों की सूचना राजा को देते थे

**बंदिमोक्ष**

त्यौहार के दिन भी कैदियों का छुटकारा होता था। माल-विकाग्निमित्र' नाटक में एक ऐसे अवसर का वर्णन इस प्रकार है—"अपराधी होने पर भी सेवकों को बंधन में उत्सव के अवसर पर नहीं रखना चाहिए—यही विचार कर मैंने उन को बंधनमुक्त करा दिया, जिस से वे कृतज्ञता में मुझे प्रणाम करने यहाँ आ पहुँचे।"[2] राजा के विदेश-विजय का उत्सव एक ऐसा ही उत्सवदिवस[3] था। संभव है शुभ अवसरों पर बंदिमोक्ष की अशोक की प्रणाली अभी जीवित रही हो और यह उत्सवदिवस वैसा ही शुभदिवस हो। राज्याभिषेक के समय भी बंदी बंधनमुक्त किए जाते थे। उस समय प्राणदंड पाए हुए अपराधी भी क्षमा कर दिए जाते थे।[4]

कालिदास ने चतुरंगिणी[5] सेना का कई बार वर्णन किया है। ये चारों अंग थे—

**सेना**

(१) पदाति

(२) हयदल

(३) रथदल

(४) गजदल

इन में से रथदल तो केवल चतुरंग के समाहार के कारण लिखा गया है, नहीं तो

---

[1] दैवचिन्तकैर्विज्ञापितो राजा। सोपसर्गं वो नक्षत्रम्। तदवश्यं सर्वबन्धमोक्षः क्रियतामिति।

मालविकाग्निमित्रम्, ४

[2] नार्हति कृतापराधोऽप्युत्सवदिवसेषु परिजनो बन्धुम्।
इति मोचिते मयैते प्रणिपतितुं मामुपगते च॥

वही, १७

[3] मौद्गल्य, यज्ञसेनश्यालमूरीकृत्य मोच्यन्तां सर्वे बन्धनस्थाः।

वही, ५

[4] बन्धच्छेदं स बद्धानां वधार्हाणामवध्यताम्।
धुर्याणां च धुरो मोक्षमदोहं चादिशद्गवाम्॥

रघुवंश, १७।१९

[5] प्रतापोऽग्रे ततः शब्दः परागस्तदनन्तरम्।
ययौ पश्चाद्रथादीति चतुःस्कन्धेव सा चमूः॥

रघुवंश, ४।३०

यह तो कालिदास के बहुत पूर्व ही मृत हो चुका था। बहुत प्राचीन काल के युद्धों के प्रसंग में ही कालिदास ने चारों अंगों का वर्णन किया है। बाक़ी तीनों अंग अंग्रेजों के भारत में आने के पहले बराबर युद्ध में व्यवहृत होते थे। इन के अतिरिक्त सेना का एक पाँचवाँ स्कंध और था जिस का व्यवहार समुद्रतट-निवासी प्रायः बहुत प्राचीन समय से करते थे और जिस को कालिदास ने अपने 'नौसाधनोद्यतान्'[१] में कहा है। पूर्व-भारत के बंग देश में रघु के शत्रुओं ने उसे अपनी नौकाओं द्वारा लड़ कर रोकना चाहा था, पर उस ने उन्हें हरा कर बलपूर्वक उखाड़ फेंका था।

सेना

कालिदास के समय में सेना को नियमित वेतन मिलता था, जिस से सिद्ध होता है कि उस समय भारतीय राजा सेना प्रस्तुत रखते थे। यह वेतन खानों, खेतों और वनहस्तियों की आय[२] से दिया जाता था। मौर्य सम्राटों की सेनाओं की भाँति नियमित वृत्ति वाली सेनाएँ कालिदास के समय में भी थीं। यह बात विशेष उल्लेखनीय इस कारण है कि प्रबल प्रतापी मुग़ल सम्राट् भी प्रस्तुत सैन्य कभी नहीं रख सके थे। मुग़ल सम्राटों की सेनाएँ सामंतराजाओं की अपनी टोलियाँ थीं जिन को ले कर वे सम्राट् की सेवाओं के लिए, विजय अथवा आपत्ति के समय राजधानी में उपस्थित होते थे। इस प्रकार की सामंत राजाओं की सेवाएँ कालिदास के समय के सम्राट् की भी होती थीं फिर भी उस समय प्रस्तुत सेना रक्खी जाती थी। वेतन के लिए कालिदास ने 'वेतन'[३] शब्द का ही प्रयोग किया है।

भारतीय सैनिक के शस्त्रास्त्रों में धनुष-बाण, भल्ल, असि आदि मुख्य थे। वह

---

[१] वंगानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान्।
निचखान जयस्तम्भान्गंगास्रोतोऽन्तरेषु सः॥
रघुवंश, ४।३६

[२] खनिभिः सुषुवे रत्नं क्षेत्रैः सस्यं वनैर्गजान्।
दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः॥
रघुवंश, १७।६६

[३] यन्ता हरेः सपदि संहृतकार्मुकज्य-
मापृच्छ्य राघवमनुष्ठितदेवकार्यम्।
नामांकरावणशरांकितकेतुयष्टि-
मूर्ध्वं रथं हरिसहस्रयुजं निनाय॥
वही, १२।१०३

विविध प्रकार के बाण व्यवहार म लाता था ये बाण लब बेतो के बन होते थे जिन के मुख पैने और तीक्ष्ण लौह द्वारा निर्मित होते और पीछे पख-पुच्छ लगे होते थे। प्रधान और कलाप्रिय सैनिक बाणों पर अपने नाम अथवा नामाक लिखवा रखते थे। पुरूरवा के पुत्र के बाण के ऊपर कचुकी एक ऐसा ही लेख पाता है, जिसे वह दुर्बलदृष्टि का होने के कारण पढ नही सकता।[१] कुमार अयुस के बाण का लेख प्रमाण और उदाहरण रूप में उद्धृत किया जा सकता है :—

'यह शत्रुघ्न बाण उर्वशी और ऐल के पुत्र धनुष्मत कुमार अयुस का है'।[२]

उस समय के सैनिक बराबर कवच धारण करते थे। कालिदास ने कवचो का कई बार उल्लेख किया है। युवावस्था के चिह्नों के प्रादुर्भाव के साथ ही युवक कवच धारण करने योग्य समझा जाता था।[३]

क्षत्रियो की नियमवृत्ति बडी कठोर थी। क्षत्रिय कुमार जो सर्वदा बढ कर सैनिक होता था बचपन से ही विनीत बनाया जाता था। वास्तव मे उस की सैनिक शिक्षा तभी से आरंभ हो जाती थी जब वह धनुष धारण करने और उस की प्रत्यचा चढ़ाने योग्य हो जाता था। क्षत्रिय शब्द मे ही रक्षण का भाव रूढि[४] हो गया था फिर विना धनुष के रक्षा कैसी ? अत कोई क्षत्रिय कभी अपने धनुष-बाण को अपने से अलग नहीं कर सकता

---

[१] नामांकिते दृश्यते न तु मे वर्णविचारक्षमा दृष्टिः।
विक्रमोर्वशीयम्, ५

[२] उर्वशीसंभवस्यायमैलसूनोर्धनुष्मतः।
कुमारस्यायुषो बाणः संहर्ता द्विषदायुषाम् ॥
वही, ७

[३] गृहीतविद्य आयुः सांप्रतं कवचार्हः संवृत्तः।
विक्रमोर्वशीयम्, ५

सम्यग्विनीतमथ वर्महरं कुमार-
मादिश्यरक्षणविधौ विधिवत्प्रजानाम्।
रोगोपसृष्टतनुदुर्वसतिं मुमुक्षुः
प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्बभूव ॥
रघुवंश, ८।९४

[४] क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥
वही, २।५३

था। पुरूरवा का पुत्र जब पिता को प्रणाम करने के लिए करबद्ध होता है तब दोनो करो के मध्य अपना बाण दबा लेता है।[1] यह रीति अभी तक कई देशी रियासतों मे जीवित है, जहाँ के राजा कभी शस्त्र से रहित नही होते।

कालिदास के समय के भारतीय शस्त्रागार मे केवल धनुष-बाण, भल्ल, असि, शूल, शक्ति, गदा आदि ही नही वरन् ऐसे भी कई अस्त्र थे जिन के प्रहार से सैकडो व्यक्ति धराशायी होते थे। ऐसे ही एक अस्त्र का नाम कालिदास ने 'शतघ्नी'[2] लिखा है। यह एक प्रकार की चतुस्ताला लाठी होती थी जिस मे सहस्त्रो लोहे के तीक्ष्ण कटक लगे रहते थे।[3]

सारी सेना का अध्यक्ष 'सेनापति'[4] होता था जो युद्ध मे उस का शत्रुओ के विरुद्ध सचालन करता था। जब राजा उपस्थित होता था तब वह स्वयं सेना का अधिपति होता था। सेना के सगठन का पूरा विवरण कालिदास के ग्रथों से नही दिया जा सकता। क्योंकि उन मे इस विषय की सामग्री बहुत थोड़ी है। केवल इतना कहा जा सकता है कि सेना की सफलता असाधारण थी। इस सैन्य-शासन की सुचारु पद्धति द्वारा ही पुष्पमित्र 'दुष्ट विक्रात यवनों' (यूनानियो) के राजा मिनेडर को हरा सका और समुद्रगुप्त सारे भारत पर अपना प्रभुत्व जमा सका था।

**अर्थ-विभाग—भूमि-कर और अन्य आय**

प्रजा के जीवन और सपत्ति की रक्षा करने के बदले राष्ट्र उनके क्षेत्र की उपज का षष्ठाश लेता था।[5] यह षष्ठाश प्रजा के उपकार के बदले राजा का वेतन (वृत्ति) अथवा जीवन-वृत्ति था।

---

[1] कुमारो चापगर्भमञ्जलिं बद्ध्वा प्रणमति।
विक्रमोर्वशीयम्, ५

[2] अयः शंकुचितां रक्षः शतघ्नीमथ शत्रवे।
हृतां वैवस्वतस्येव कूटशाल्मलिमक्षिपत्॥
रघुवंश, १२।९५

[3] शतघ्नी तु चतुस्ताला लोहकण्टकसंचिता। यष्टिः . . . —केशव

[4] अभिज्ञानशाकुन्तलम्, २
सेनानी—मालविकाग्निमित्रम्, ५

[5] वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः।
औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः॥
रघुवंश, २।६६
नीवारषष्ठभागमस्माकमुपहरन्त्विति।
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, २

राजा की आय का वर्णन निम्न-लिखित शीर्षकों के अंतर्गत करेंगे—

(१) भूमि-कर।

(२) भूमिसिंचन।

(३) आबकारी अथवा मद्य-कर।

(४) राष्ट्र का स्वायत्त व्यापार और अन्य कार्य।

(५) उपायन और सामन-कर।

(६) वंशरहित व्यक्तियों का राजगामी धन।

भूमिकर या लगान सारी प्रजा से पूर्णरूप से इकट्ठा किया जाता था। इस कर की व्यापकता का बोध इस बात से हो सकता है कि संसार-त्यागी अरण्यवासी तपस्वी भी इस से वंचित नही थे। इतना अवश्य था कि उन को यह कर द्रव्य मे नही प्रत्युत् अपने पुण्य और तप के षष्ठांश में देना पड़ता था। उस समय के विचारों की प्रतिध्वनि कालिदास के एक श्लोक मे सुन पड़ती है—"वर्णाश्रमियो से प्राप्त धन क्षयशील है, परतु अरण्यवासियों द्वारा राष्ट्र को दिया गया षष्ठांश अक्षय है।"[1]

**भूमिकर**

कालिदास मे भूमिसिंचन का प्रमाण तो नही है परतु भूमिकर ही राष्ट्र के आय की रीढ थी इस हेतु अधिकाधिक भूमिकर के निमित्त भूमिसिंचन विभाग अवश्य रहा होगा। अर्थशास्त्र मे इस विभाग का वर्णन आया है, जिस से राष्ट्र को प्रचुर धन प्राप्त होता था और जो राष्ट्र द्वारा भूमिकर के साथ ही वसूल किया जाता था।

**भूमि-सिंचन**

मद्य-कर का कोई व्यक्त प्रमाण कालिदास के ग्रंथो मे नहीं है, परंतु मद्यपान के सैकड़ो वर्णन आए है। कितनी ही दूकाने सड़को पर सजी रहती थी।[2] साधारणतया ये

---

[1] मूर्ख, अन्यद्भागधेयमेतेषां रक्षणे निपतति, यद्रत्नराशीनपिविहायभिनन्द्यम्। पश्य।

षडुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम्।
तपः षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यकाहिनः॥

अभिज्ञानशाकुंतलम्, २।१३

[2] ...कादम्बरीसखित्वमस्माकं प्रथमशोभितमिष्यते। तच्छौण्डिकापणमेव गच्छामः।

वही, ६

दूकानें सर्वत्र थीं। इन को ........ भूल न गए होंगे और इन से भी यथेष्ट कर वसूल होता होगा। शराब की दूकानों से प्राचीन भारतवर्ष में राज्य की बड़ी आय थी जैसा कि कौटिलीय अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है। उस के अनुसार राष्ट्र का मद्य एक स्वतंत्र, बहुत बड़ा विभाग था जिस का एक अध्यक्ष नियुक्त था।

**आबकारी अथवा मद्य-कर**

खानों की खुदाई[1] और वनों से हाथियों[2] की प्राप्ति (गजबंध) राष्ट्र के स्वायत्त व्यापार थे जिन से बड़ी आय होती थी। रातदिन खोदी जाती हुई खानें, रत्न और धातु धन की बड़ी प्रसविनी थीं।[3] राष्ट्र के युद्ध आदि कार्यों में पूर्णतया व्यवहृत हो चुकने के पश्चात् हाथियों के दाँत देश विदेश से वृहत् धनराशि लाते होंगे। राष्ट्र के अन्य बहुत से कार्यों से भी राजकोष में बहुत धनसंचय होता था। सेतु[4] (पुल) और वार्ता[5] (चारागाह की रखवाली और गृह पशुओं का राष्ट्रीय स्टाक) राष्ट्र की आमदनी के दो बड़े जरिए थे। सेतुओं से पार होने का (अथवा नावों से घाटों पर पार होने का) कर लगता था। चारागाहों में पशुओं के चराने पर भी संभव है नाम मात्र का कर लगता हो। गृह-पशुओं के राष्ट्रीय वर्द्धन और पालन से ज्ञात होता है कि आधुनिक सरकार की भाँति तब की सरकार भी आदर्श पशुओं को जनन-कार्य के लिए अपने पास रखती थी। संभव है सुंदर, बड़े पशु जुताई के लिए किराए पर भी दिए जाते हों।

**राष्ट्र का स्वायत्त व्यापार और अन्य कार्य**

---

[1] तस्मिन्गते द्यां सुकृतोपलब्धां तत्संभवं शंखणमर्णवान्ता।
उत्खातशत्रुं वसुधोपतस्थे रत्नोपहारैरुदितैः खनिभ्यः॥
रघुवंश, १८।२२

तथापि

वही १७।६६

[2] स सेतुवार्तागजबन्धमुख्यैरभ्युच्छ्रिताः कर्मभिरप्यवन्ध्यैः।
अन्यान्यदेशप्रविभागसीमां वेलां समुद्रा इव न व्यतीयुः॥
वही, १६।२

...वनैर्गजान्...।

वही, १७।६६

[3] ...रत्नोपहारैरुदितैः खनिभ्यः॥
वही, १८।२२

[4] वही १६।२ [5] वही।

जल और स्थल-माग से अनंत व्यापार होता था भारतीय नैगम और सार्थवाह देश-विदेश सर्वत्र व्यापार के लिए भ्रमण करते थे। व्यापार-मार्गों की रक्षा के लिए ये राजा को बड़ी-बड़ी संपत्ति भेंट करते थे। अगाध संपत्ति के स्वामी वणिकाग्रगण्य व्यापारी राज-कोष में धन की वर्षा कर देते थे।[1] भेंट और उपायनो के अतिरिक्त व्यापार की वस्तुओं पर कर द्वारा भी राजकीय आय की वृद्धि होती होगी।

**उपायन और सामंत-कर**

उपायन अर्थात् भेंट विजित राजाओं और स्वतंत्रराष्ट्रों से अत्यधिक मात्रा में आते थे। सामंतराजाओं से कर के रूप में भी बहुत द्रव्य प्राप्त होता था। ये भेंट और उपायन परराष्ट्रसचिव के पास भेजे जाते थे[2] जैसा 'मालविकाग्निमित्र' नाटक से ज्ञात होता है। इस उदाहरण में विदर्भ के राजा ने अग्निमित्र के मंत्री के पास जो वस्तुएँ भेजी है वह कई प्रकार की है। उन में और वस्तुओं के अतिरिक्त निम्नलिखित है—

(१) भृत्यवर्ग, मुख्यकर, कलापंडिता कन्याएं (शिल्पकारिका)।

(२) बहुमूल्य रत्न, और

(३) वाहन, जैसे हाथी, घोड़े, रथ, पालकी आदि।

**वंशरहित व्यक्तियों का राजगामी धन**

निर्वंश मृत व्यक्तियों का धन राजकोष में कम धन की वृद्धि नहीं करता था। समय-समय पर नैगम और सार्थवाहों की अगाध संपत्ति पुत्र के अभाव में राष्ट्र-संपत्ति हो जाती थी। राजा ही उन का उत्तराधिकारी था। इसी विषय की बनाई हुई एक रिपोर्ट राजा की स्वीकृति के लिए अर्थसचिव द्वारा 'अभिज्ञानशाकुंतल' नाटक[3] में राजप्रासाद में भेजी गई है। उस को हम

---

[1] विद्युल्लेखा कनकरुचिरं श्रीवितानं ममाभ्रम्
व्याधूयन्ते निचुलतरुभिर्मञ्जरी चामराणि।
धर्मच्छेदात्पटुतरगिरो बन्दिनो नीलकण्ठा
धारासारोपनयनपरा नैगमाश्चाम्बुवाहाः॥

विक्रमोर्वशीयम्, ४।१३

[2] वशीकृतः किल वीरसेनप्रमुखैर्भर्तुर्विजयदण्डैर्विदर्भनाथः। मोचितोऽस्य दायादो माधवसेनः। दूतश्च तेन महासाराणि रत्नानि वाहनानि शिल्पकारिकाभूयिष्ठं परिजनमुपायनीकृत्य भर्तुः सकाशं प्रेषित इति।

मालविकाग्निमित्रम्, ५

[3] अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ६

अन्य स्थल पर उद्धृत कर चुके है

'कर' द्रव्य अथवा वस्तु किसी रूप में दिया जा सकता था। अर्थसचिव की एक दूसरी रिपोर्ट[१] मे अर्थगणना का उल्लेख है। यह 'अर्थ' राष्ट्र के भिन्न-भिन्न प्रांतों की आय था, जिस की गणना कर अर्थसचिव कोप मे रखता था। यह स्मरण रखने का विषय है कि मौर्य सम्राट् का कोष-गणना का एक स्वतत्र विभाग ही था जिस का उल्लेख उस के शिलालेखो मे आया है। गणना से तात्पर्य है द्रव्य का गिनना और धान्यादि वस्तुओ का हिसाब मिलाना। द्रव्य की गणना भी कुछ असाधारण नही है, क्योकि उस समय में सिक्के खूब चलते थे और कालिदास ने एक विशेष प्रकार के सोने के सिक्के 'सुवर्ण' का कई बार उल्लेख किया है।

प्रजा पर कर राजा के आनद के लिए नहीं प्रत्युत् प्रजा ही के हित के लिए लगाया जाता था। आय और व्यय की इस प्रकार व्यवस्था की जाती थी कि प्रजा का दिया हुआ कर सहस्र द्वारों से उस के पास पहुँच जाता था। जिस प्रकार सूर्य पृथ्वी का जल खींच कर फिर उसे सहस्र गुना कर के पृथ्वी को ही लौटा देता है, वैसे ही राजा भी प्रजा का कर ले कर उसे कई प्रकार से पूरा कर देता था।[२] इस अलकारिक उल्लेख का तात्पर्य शायद उन वापी, कूप, तड़ाग, दीर्घिका आदि प्रजा की भलाई के कार्यो से है जिन का निर्माण राजा की ओर से बराबर होता रहता था। इन्ही के ऊपर शायद आय का व्यय किया जाता था। प्रस्तुत सैन्य रखने पर राजकोप का एक बडा हिस्सा उस पर व्यय होता है। यह प्रस्तुत सैन्य का एक भारी दोप है जो उस समय भी था। खानो, हाथियों (गजबध)

---

तथापि---

अहार्य ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमितिस्थितिः।
इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृपः॥

मनुस्मृति

[१] अर्थजातस्य गणनाबहुलतयेकमेव पौरकार्यमवेक्षितम् तद्देवः पत्रारूढं प्रत्यक्षीकरोत्विति।

अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ६

[२] प्रजानामेवभूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥

रघुवंश, १।१८

और खतो से प्राप्त धन का एक बडा भाग सेना पर व्यय होता था [1]

भूमि की उपज का षष्ठांश और वंशरहित व्यक्ति का धन राजगामी होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि राजा भूमि का स्वामी समझा जाता था।

सभ्यता की उन्नति के साथ व्यापार बढ़ता है और देशव्यापी व्यापार मे वस्तु का वस्तु से विनिमय व्यर्थ हो जाता है। ऐसी दशा मे हल्के, स्थानांतर ले जाने मे सरल धातुओ के बने सिक्को की बडी आवश्यकता मालूम होने लगती है। कालिदास के समय का व्यापार केवल भारत मे ही नही प्रत्युत दूर विदेश तक फैला हुआ था। भला यह कैसे सभव था कि वस्तुओ के मूल्य मे केवल वस्तुएँ लाद कर देश मे वणिक लाते। फिर 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के अनुसार ये वणिक अपने राजा के पास धारासार नजरे भेजते थे जो प्राय. द्रव्य के रूप मे ही होती होगी। रत्न और इतर धातुओ की सरकारी खानों से प्राप्ति हो ही जाती थी, फिर उन को साँचे मे ढालना क्या बडी बात थी जब कालिदास के पूर्व और पश्चात् बराबर सिक्के की ढलाई का प्रमाण हमे मिलता ही है। भूमिकर और दूर के प्रांतो की आय भी अधिकतर सिक्को मे ही अदा की जाती थी। इसी प्रकार के सिक्को की 'गणना' मे कदाचित् 'अभिज्ञानशाकुतल' के छठे अक मे मत्री व्यस्त है। सभव है यह गणना स्वर्ण के सिक्को की ही हो।

**मुद्राएँ**

कालिदास के ग्रथो मे 'निष्क' और 'सुवर्ण' नाम के सिक्को का उल्लेख [2] हुआ है। 'निष्क' और 'सुवर्ण' गुप्त सम्राटो और दूसरे राजाओ के समय मे खूब प्रचलित थे। 'सुवर्ण' सोने का सिक्का था जो तौल मे प्राय सोलह माशे होता था। गुप्त सम्राटो के शिलालेखो में निष्क और सुवर्ण का बहुधा उल्लेख मिलता है। कालिदास मे इन स्वर्ण-सिक्को के अतिरिक्त और किसी धातु के सिक्को का वर्णन नही है। इस लिए यह नही

---

[1] खनिभिः सुषुवे रत्नं क्षेत्रैः सस्यं वनैर्गजान् ।
दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः ॥

रघुवंश, १७।६६

[2] यतः प्रभृति सेनापतियज्ञतुरंगरक्षणे नियुक्तो भर्तृदारको वसुमित्रस्ततः प्रभृति तस्यायुर्निमित्तं निष्कशतसुवर्णपरिमाणां दक्षिणां देवी दक्षिणीयैः परिग्राहयति।

मालविकाग्निमित्रम्, ५

कहा जा सकता कि और किन-किन धातुओं के सिक्के, राजा के अंक से मुद्रित, देश मे प्रचलित थे।

योग्य सरकार के लिए जन-सम्मति आवश्यक हो जाती है। शासन-कार्य में शासक के लिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि प्रजा उस के कार्यों की किस प्रकार आलोचना करती है। उस के किस कार्य से वह प्रसन्न और किस से अप्रसन्न है। उस की सरकार और प्रजा के दृष्टिकोण मे कितना अंतर है। यह सब बातें जब तक सरकार नही जानेगी, वह उचित रूप से प्रजा का शासन नही कर सकती। इस प्रकार हिंदू राजा जन-सम्मति का बराबर ध्यान रखता था। जन-सम्मति के इसी चट्टान पर राजा राम के गार्हस्थ्य आनंद की नौका चूर-चूर हो गई। इसी जन-सम्मति के परिणाम-स्वरूप रानी सीता को वनो मे अमानुषिक कष्ट सहने पडे। स्वयं कालिदास ने रजक के विचारों की गुरुता पर अपना वक्तव्य कहा है। 'पुरोगों' की 'किंवदंती'[1] ऐसी वस्तु नही जिस को राजा अनुचित समझ कर छोड़ दे। जन-सम्मति का ध्यान कर प्रजा की आलोचना से राजा अपने शासन मे सुधार करता था, प्रजा के कष्टों को दूर करता था।

**जन-सम्मति और गुप्त-दौत्य**

उस समय, जब कि मुद्रण की सुविधाएँ प्राप्त नहीं थी, देश मे समाचार-पत्र नहीं थे, दूतों के विभाग का संगठन अनिवार्य था। शासनकार्य की आलोचना और प्रजा की अन्य सम्मति दूतों के द्वारा प्राप्त होती थी। गुप्तदौत्य की आवश्यकता गृहशांति और बाह्य शत्रु की चालों की जानकारी के लिए बड़ी थी। इसी कारण कौटिलीय अर्थशास्त्र मे गुप्तदौत्य के एक स्वतंत्र विभाग की बड़ी आवश्यकता बताई गई है और शायद उसी ग्रंथ के अनुरूप आचरण करते हुए मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त ने अपने शासनतंत्र मे इस विभाग की सत्ता स्वीकार कर के उस का उद्घाटन किया था। स्वयं कालिदास ने भी इस प्रकार के दौत्य का कई स्थलों पर उल्लेख[2] किया है। जन-सम्मति के ज्ञान के लिए जिस दूत को नियुक्त किया गया था, उस के लिए कालिदास ने 'अपसर्पम्' शब्द का प्रयोग

---

[1] स किम्वदन्तीं वदतां पुरोगः स्ववृत्तमुद्दिश्य विशुद्धवृत्तः।
सर्पाधिराजोरुभुजोऽपसर्पं पप्रच्छ भद्रं विजितारिभद्रः॥
रघुवंश, १४।३१

[2] वही।

किया है इसी विभाग के योग्य वाक्कुशल सुबुद्ध व्यक्ति और उच्च कर्मचारी राजनैतिक दौत्य पद के उत्तरदायित्व के लिए चुने जाते होंगे। दूत लोग कदाचित् परराष्ट्र-सचिव के अधीनस्थ[1] कर्मचारी रहे होंगे।

प्रांत

राष्ट्र, शासन के अर्थ, बहुत से प्रांतों में विभक्त था। प्रत्येक प्रांत राजा द्वारा नियुक्त एक-एक वाइसराय के उत्तरदायित्व में था। ये वाइसराय राजकुल के ही पुरुष होते थे। पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र इसी प्रकार का एक वाइसराय था जो अपने पिता के साम्राज्य के दक्षिणी प्रांतों की रक्षा के लिए नियुक्त था। उस की राजधानी विदिशा थी। उस की सत्ता और वैभव का अंदाज उस की उपाधि-संज्ञा से लगता है। उस की उपाधि 'भगवान् विदिशेश्वर'[2] थी। पिता सम्राट् होते हुए भी सेना से शाश्वत संबंध होने के कारण अपने को केवल 'सेनापति'[3] कहता था। अग्निमित्र ने, संभव है, उस की उपाधि के अभाव में राजकीय उपाधि धारण कर ली हो। इस प्रकार वाइसराय अपने प्रांत में राजा था। वह अपने 'प्रकृत्यमित्रों'[4] के प्रति संधि और युद्ध की घोषणा कर सकता था। शासनकार्य में उस की सहायता के लिए एक 'अमात्यपरिषद्'[5] नियुक्त था जिस के राष्ट्र-नीति-निर्णय का वह बड़ा आदर करता और उसे मानता था। अमात्यपरिषद् की सत्ता का बोध 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में उस के प्रति बारंबार उल्लेख से हो सकता है। क्रोध की चरम सीमा में भी राजा अपने मंत्रियों से राय लेना नहीं भूलता था।[6]

अग्निमित्र वाइसराय का उदाहरण हो सकता है। सीमाप्रांत अथवा 'प्रत्यंत' की रक्षा के लिए वहाँ सैन्य द्वारा रक्षित बड़े-बड़े दुर्भेद्य दुर्ग थे। इन दुर्गों का रक्षाभार भी राजसंबंधियों को ही दिया जाता था। अग्निमित्र की दक्षिणी सीमा—नर्मदा के मैदान—की रक्षा का उत्तरदायित्व उस के साले 'अंतपाल' वीरसेन को सौंपा गया था।[7]

---

[1] मालविकाग्निमित्रम्, ५
[2] वही, ४
[3] वही, ५
[4] वही, १ और ५
[5] वही, ५
[6] वही, १
[7] स भर्त्रा नर्मदातीरे अन्तपालदुर्गे स्थापितः।
वही ।

अपने राज्यों के आभ्यंतर शासन में पूर्ण स्वतंत्र थे वे सम्राट के 'प्रत्यंतों' के पास अपने देशों में शासन करते थे। ये प्रांत, प्रत्यंत और सामंतराज्य साम्राज्य के अंतर्गत उस के अंग थे। सामंत राजाओं की साम्राज्य की राजधानी में प्रायः उपस्थिति इस बात का प्रमाण है कि उन के राज्य एक प्रकार से साम्राज्य के ही बाह्य प्रांत थे और ये राजा इन प्रांतों के वाइसराय थे जो अपनी सत्ता के संस्करण[1] समय-समय पर सम्राट् के मुद्रांक द्वारा करा लेते थे।

कालिदास ने जिन राजनैतिक भागों का वर्णन किया है उन का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है। उन का अध्ययन भारतवर्ष के पुराने मानचित्र के साथ भली प्रकार किया जा सकता है :—

**भारतवर्ष के राजनैतिक भाग**

( १ ) मगध अथवा दक्षिण बिहार जिस की राजधानी कुसुमपुर थी। कुसुमपुर के कई और नाम थे जैसे पुष्पपुर, पाटलिपुत्र आदि।

( २ ) विदेह, अथवा आधुनिक तिरहुत मंडल (डिविजन) जिस की राजधानी मिथिला थी। मिथिला विदेह और उस की राजधानी दोनों की संज्ञा थी।

( ३ ) अंग अथवा मुंगेर सहित भागलपुर के चारों ओर का देश।

( ४ ) वंग अथवा आधुनिक बंगाल।

( ५ ) कामरूप अथवा आधुनिक आसाम जिस की राजधानी प्राग्ज्योतिष अथवा गोहाटी थी।

( ६ ) सुह्म अथवा गंगा के पश्चिम ओर के प्रांत जिस में तामलूक, मिदनापुर और हुगली और बर्दवान ज़िले शामिल थे।

( ७ ) उत्कल (उत्कलिंग का अपभ्रंश) अथवा उत्तर कलिंग।

( ८ ) कलिंग, अथवा आधुनिक उत्तरी सरकार, जो उड़ीसा और द्रविड के बीच का प्रांत था।

( ९ ) पाड्य अथवा टिन्नेवेली और मदुरा के आधुनिक जिले।

(१०) केरल अथवा मालाबार का समुद्रतट।

(११) कंबोज अथवा अफ़गानिस्तान का पूर्वी भाग।

[1] सामन्तमौलिमणिरञ्जितशासनांकः।
विक्रमोर्वशीयम्, ३।१९

(१२) पारसीक अथवा आधुनिक फ़ारस

(१३) हूण देश अथवा कश्मीर का पश्चिमोत्तर प्रदेश।

(१४) कारापथ अथवा सिंधु के पश्चिम तट का बागान।

(१५) केकय अथवा सतलज और व्यास के मध्य का प्रदेश।

(१६) शूरसेन जिस की राजधानी मथुरा थी। शूरसेन देश मथुरा के चतुर्दिक था।

(१७) उत्तर-कोसल अथवा अवध के उत्तर का प्रांत।

(१८) कोसल अथवा आधुनिक अवध।

(१९) काशी।

(२०) दशार्ण अथवा पूर्वी मालवा जिस की राजधानी विदिशा थी।

(२१) विदर्भ अथवा बरार, खानदेश, निज़ामराज्य के कुछ प्रांत और मध्य-प्रदेश के कुछ भाग।

(२२) भोज अर्थात् भोज लोगों का देश जो विदर्भ और दशार्ण के बीच में था।

(२३) ऋथकैशिक वे लोग थे जो विदर्भ देश में वास करते थे।

(२४) अवंती अथवा पश्चिमी मालवा जिस की राजधानी उज्जैनी थी।

(२५) उज्जैनी, अवंती की राजधानी।

(२६) माहिष्मती अथवा नर्मदा के दक्षिण तट पर बसा महेश अथवा महेश्वर।

(२७) कदंब।

# संस्कृत के अलङ्कार-शास्त्र में कवि और काव्य का आदर्श

[ लेखक—श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए० ]

संस्कृत साहित्य में अलंकार-शास्त्र के अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथ मिलते हैं। उन में कवि और काव्य के गुण-दोषों की खूब मीमांसा की गई है। इन विषयों का विश्लेषण तथा निरूपण करने में संस्कृत के आलंकारिकों ने अपनी प्रखर बुद्धि और आलोचनात्मक विचारशैली का खूब परिचय दिया है। उन्होंने काव्य के लक्षण और उस के अंग-प्रत्यंग के विषय में जुदे-जुदे सिद्धांत प्रतिपादित किए हैं जिन से उन के विचारों की मौलिकता सिद्ध होती है।

कवि-कर्म बहुत कठिन है, कवित्त्व-शक्ति का होना सुमहत् पुण्य का फल है। जिस ने चाहा वह कवि बन गया, यह संभव नहीं। कवि जन्म से हुआ करते हैं, शिक्षा-दीक्षा से नहीं। संस्कृत के आलंकारिकों ने इस विषय की बड़ी ही रोचक चर्चा अपने ग्रंथों में की है। कवि कैसा होना चाहिए, उस में किन-किन गुणों की आवश्यकता है, और क्या वह शिक्षा-दीक्षा से अपनी कला में सिद्धहस्त हो सकता है, उस के गुणों का कितना अंश स्वाभाविक और कितना श्रमसाध्य है, इत्यादि बातों पर हिंदू आलंकारिकों ने अपने गंभीर विचार प्रकट किए हैं, जिन से कवि और कविता-संबंधी हमारा आदर्श कितना उत्कृष्टतम था यह मालूम होगा।

संस्कृत के आलंकारिकों में भामह, दंडी, उद्भट, भरत, वामन, रुद्रट, आनंदवर्धन, भोज, मम्मट, विद्यानाथ, धनिक, पीयूषवर्ष, अप्पय्य दीक्षित, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि बड़े प्रौढ़ और प्रसिद्ध विद्वान हुए हैं। इन में सब से प्राचीन विद्वान 'भरत नाट्य-शास्त्र' के प्रणेता थे। वे ईस्वी सन् के आरंभ में वा इस से कुछ पूर्व हुए थे। वे अलंकार-शास्त्र में रस-सिद्धांत के प्रवर्तक माने जाते हैं। अलंकार-पंथ के सब से

पुराने ग्रंथकार भामह थे। आचार्य दंडी और वामन ने रीति-संप्रदाय का अलंकार-शास्त्र में प्रचलन किया। इन के उपरांत ध्वनि-प्रधान काव्य-शैली के प्रवर्तक आनंद-वर्धन हुए। काश्मीर के धुरंधर विद्वान मम्मट का 'काव्य-प्रकाश' अलंकार-शास्त्र का 'आकर ग्रंथ' है। इस शास्त्र के इतिहास पर कुछ विहंगम दृष्टि डालने से ही पता चलता है कि काव्य-कला की आलोचना में संस्कृत साहित्य-सेवियों ने आश्चर्य-जनक उन्नति की थी।

## कवि कौन हो सकता है ?

कविवर दंडी आदर्श कवि में प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीन गुणों का होना परमावश्यक मानते हैं। स्वाभाविक प्रतिभा, अत्यंत निर्मल ज्ञान और अमंद उद्योग ये काव्य-संपत्ति के कारण हैं।[1] यद्यपि जन्मसिद्ध अद्भुत प्रतिभा किसी में न भी हो तथापि यत्न और विद्यानुराग द्वारा आराधित सरस्वती अवश्य उस पर कुछ न कुछ अनुग्रह करती ही है। दंडी के इस मत का समर्थन संस्कृत के बहुत से आलंकारिकों ने किया है। रुद्रट ने इस मत की और भी विशद व्याख्या की है। 'काव्यालंकार' में रुद्रट ने लिखा है—"असार के त्याग और सार के ग्रहण से सुचारु काव्य रचा जाता है और उस की रचना में तीन गुण काम आते हैं—शक्ति, व्युत्पत्ति, अभ्यास। 'शक्ति' उसे कहते हैं जिस के द्वारा सदा एकाग्र किए हुए मन में विचारों का अनेक प्रकार से विस्फुरण होता रहे तथा कोमलकांत (अक्लिष्ट) पद बराबर सूझते रहें। दूसरे लोग इस शक्ति को 'प्रतिभा' कहते हैं। वह 'सहजा' और 'उत्पाद्या' दो प्रकार की होती है। इन में 'सहजा' मनुष्य के जन्म से होने वाली उत्कृष्टतर होती है, क्योंकि अपने संस्कार के हेतु-रूप से वह दूसरी प्रकार की प्रतिभा का आश्रय लेती है। किंतु 'उत्पाद्या' प्रतिभा परम व्युत्पत्ति से कथंचित् उत्पन्न होती है। छंद, व्याकरण, कला, लोकस्थिति, शब्द, अर्थ, युक्त और अयुक्त का विवेक—यही संक्षेप में

---

[1] नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसंपदः॥
न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥
काव्यादर्श, १, १०३ तथा १०५

व्युत्पत्ति कही जाती है ।[1]

प्रसिद्ध आलकारिक भामह ने भी प्रतिभा ही को काव्य का कारण माना है ओर अन्य शास्त्रो के ज्ञान को केवल उपकरण रूप से काव्य के लिए उपयोगी बतलाया है। भामह के मत मे कवि में प्रतिभा का होना नितात आवश्यक है।[2] मंदबुद्धि भी शास्त्रो को गुरु के उपदेश से सीख सकते है, किंतु काव्य-रचना तो कदाचित् कोई विरला ही प्रतिभाशाली मनुष्य कर सकता है। जो स्वभाव से कवि नही है, उस का शास्त्र-ज्ञान वैसा ही निरर्थक है जैसा निर्धन का दाता होना, कायर का शस्त्र-विद्या मे निपुण होना तथा अज्ञानी का चतुर होना।[3] भामह के उपर्युक्त अवतरणो से स्पष्ट है कि प्रतिभा के विना कवि होना असभव है। इस विषय मे दडी का मत उन से भिन्न है। दडी के मतानुसार कवित्व-शक्ति के कृश होने पर भी श्रम करने वाले मनुष्य कवियो की गोष्ठी मे मनोविनोद कर सकते है। अर्थात् विद्या और अभ्यास से—सरस्वती की निरतर उपासना से—मनुष्य कवि-पदवी का अधिकारी हो सकता है।[4]

'काव्यालकार सूत्र' में वामन ने भी केवल प्रतिभा ही को काव्य का कारण कहा है। उस के विचार मे प्रतिभा ही कवित्व का बीज है।[5]

अलकार-शास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य मम्मट शक्ति, निपुणता और अभ्यास इन

---

[1] तस्या सारनिरासात्सारग्रहणाच्च चारुणः करणे ।
त्रितथमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः ॥
मनसि सदा सुसमाधानि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य ।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ॥
प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोपाद्या च सा द्विधा भवति ।
पुंसा सहजातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा ॥

[2] विनयेन विना का श्रीः का निशा शशिना विना ।
रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता ॥
गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जड़धियोऽप्यलम् ।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः ॥ भामहालंकार १, ४-५

[3] अधनस्य दातृत्वं क्लीबस्यास्त्रकौशलम् ।
अज्ञस्येव प्रगल्भत्वं , अकवेः शास्त्रवेदनम् ॥

[4] तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः ।
कृशे कवित्वेऽपि जना कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते ॥काव्यादर्श, १,१०५

[5] 'कवित्वबीजं प्रतिभानम्'

तीनों को सम्मिलित रूप में काव्य का कारण मानते हैं[1] उन का कथन है कि लोक व्यवहार, शास्त्रों और काव्यादिकों के आलोचन से निपुणता प्राप्त होती है और काव्य के मर्मज्ञों द्वारा शिक्षा ग्रहण करना ही 'अभ्यास' है।

शक्ति से कवित्व उत्पन्न होता है और अभ्यास से बढ़ता है, किंतु कवित्व में चारुता लाने के लिए व्युत्पत्ति ही अधिक अपेक्षित है।[2] यदि प्रतिभा काव्य का कारण है तो व्युत्पत्ति उस का भूषण है। यदि प्रतिभा कविता-लता का बीज है तो व्युत्पत्ति और अभ्यास उस के पल्लवित और पुष्पित करने में कारण होते हैं।[3] यदि केवल प्रतिभा के बल पर कवि कविता करने लगे तो वह सिर्फ अपने विचित्र मनोविजृंभणों को ही अपनी कृति में दरसा सकेगा। उसका बाह्य जगत से संबंध विच्छिन्न हो जाता है। उस की स्वप्न-सृष्टि सहृदय को रोचक नहीं होती। उस की कल्पनाएँ दुरूह मालूम होती हैं। अतएव कवि में जगत के प्रति अतिशय सहानुभूति होनी चाहिए उसे जगत के व्यवहारों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। लोक-शिक्षण को अपने जीवन का लक्ष्य बनाना चाहिए। बाह्य जगत में अनंत विभूतियाँ हैं जिन के ज्ञान से कवि की प्रतिभा प्रदीप्त हो जाती है। अतएव, व्युत्पत्ति और अभ्यास द्वारा कवि को अपनी प्रतिभा प्रखर और प्रौढ़ बनाना चाहिए।

## प्रतिभा क्या वस्तु है?

प्रतिभा का होना कवि और कवि-कर्म के लिए परम आवश्यक है, इस को सभी आलंकारिकों ने स्वीकार किया है। प्रतिभा क्या वस्तु है, इस का भी सूक्ष्म विवेचन उन्हों ने किया है। दंडी के अनुसार पूर्व-जन्म की वासना के गुण जिस के पीछे लगे हुए हैं वही संसार को चकित कर देने वाली प्रतिभा है।[4] जिस मन में भाँति-

---

[1] शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

[2] कवित्वं जायते शक्तेर्वर्धतेऽभ्यासयोगतः।
तस्य चारुत्वनिष्पत्तौ व्युत्पत्तिस्तु गरीयसी॥ अलंकारशेखर

[3] प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसंबद्धबीजोत्पत्तिर्लतामिव॥ चंद्रालोक

[4] पूर्ववासना गुणानुबन्धिप्रतिभानमद्भुतम्। दंडी

रीति के अर्थों की स्फूर्ति होती हो और सरल सुंदर पद सूझ पड़ते हों वही प्रतिभा है यह दो प्रकार की है—एक 'सहजा' जो ईश्वर-दत्त शक्ति और दूसरी 'उत्पाद्या' जो गंभीर और व्यापक ज्ञान के उपार्जन से उत्पन्न होती है। रुद्रट ने प्रतिभा की उक्त रीति से व्याख्या की है। वाग्भट ने उस में कुछ और विशेषण जोड़ कर 'प्रतिभा' की व्याख्या को विशद कर दिया है। उस ने लिखा है—

'सरल और सुंदर पद और नवीन अर्थ और युक्तियाँ सुझाने वाली उत्तम कवि की चमकती हुई बुद्धि ही प्रतिभा है जो सब ओर देखने वाली है।'[१]

बुद्धि का 'सर्वतोमुखी' होना ही उत्तम कवि का लक्षण है। स्फूर्ति और संस्कार तो साधारण कवि मे भी होते है। जहाँ कही कवि की दृष्टि पड़े वही उसे अपनी कृति के लिए कुछ न कुछ उपकरण मिलना चाहिए। उस का दृष्टि-क्षेत्र विशाल होता और कल्पना-शक्ति सजीव रहती है। जैन आचार्य हेमचंद्र का मत है कि जिस मे नए-नए विचारो का उन्मेष होता हो उस प्रज्ञा का नाम प्रतिभा है और वह कवि है जो ऐसी प्रज्ञा के आवेश मे वस्तु का सजीव चित्रण करने मे चतुर होता है। ऐसे चतुर चितेरे का कर्म ही काव्य कहलाता है।[२]

सभी संस्कृत के आलकारिको ने एक मत हो कर यह मान लिया है कि कवि मे नैसर्गिक शक्ति वा प्रतिभा अवश्य होनी चाहिए। अपूर्व वस्तु के निर्माण करने की शक्ति रखने वाली, अभिनवोन्मेषशालिनी, सर्वतोमुखी प्रज्ञा ही कवि का विशिष्ट गुण है।[३] यदि उस मे यह गुण नही है तो उस की कृति सहृदय की दृष्टि मे उपहासास्पद ही होगी। भामह का कथन है कि कविता न करने से कोई अधर्म, व्याधि वा दंड नही होता, किंतु कुकविता को विद्वान साक्षात् मृत्यु ही मानते है।[४] कवित्व-शक्ति

---

[१] प्रसन्नपदनव्यार्थ युक्त्युद्बोधविधायिनी।
स्फुरन्ती सत्कवे बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी।
वाग्भटालंकार, १, ३

[२] प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
तदनुप्राणनाजीवद्वर्णनानिपुणो कविः॥
तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्। हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, ३

[३] प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा। ध्वन्यालोक

[४] नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः॥ भामह

के विकास का दूसरा हेतु 'निपुणता' है जो कि शास्त्र काव्य आदि के अवलोकन से प्राप्त होती है। कवि को बहुश्रुत अनेक शास्त्रों का पारदर्शी होना चाहिए। उसे दुनिया का खूब ज्ञान होना चाहिए। मानव-प्रकृति का उसे पूरा अनुभव होना चाहिए। सृष्टि का सूक्ष्मरूप से निरीक्षण करने की उसे योग्यता होनी चाहिए। 'प्रतिभा' और 'व्युत्पत्ति' के संमिश्रण से कवि-भारती में अपूर्व चमत्कार आ जाता है। जिस व्युत्पन्न और प्रतिभाशाली कवि ने बारबार उन सहृदय विद्वानों की शिक्षा से लाभ उठाया है जो काव्य की रचना और आलोचना में बड़े प्रवीण हैं, निःसंदेह उस की कला के सर्वांग-सुंदर होने में कोई कसर नहीं रहती। अतएव आचार्य मम्मट का ही सिद्धांत समीचीन प्रतीत होता है कि कवित्त्व-शक्ति के पूर्ण विकास के लिए, प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों ही गुण आवश्यक हैं।[१] 'कवि जन्म से होते हैं, अभ्यास से नहीं' इस अंग्रेजी की कहावत में सत्य का सिर्फ़ अंश-मात्र है—पूर्ण तथ्य नहीं।

आधुनिक मनोविज्ञान की परिभाषा में हम 'प्रतिभा' को कल्पना-शक्ति[२] कहते हैं। पूर्व अनुभव का अनुचिंतन करना मन का साधारण व्यापार है, जो वस्तु पहले अनुभव में आ चुकी है उस का संस्कार कालांतर में मन में फिर से स्फुरित हो जाता है। ऐसे मनो-व्यापार को पुनरोद्बोधक कल्पना-शक्ति[३] कहते हैं। यह शक्ति स्वाभाविक और न्यूनाधिक अंश में सभी मनुष्यों को प्राप्त है, किंतु कवि की इस शक्ति में यह विशेषता है कि उस के मन में पूर्व-संस्कार विशद रूप से उदित होते हैं और वह उन्हें प्रस्फुट रूप से प्रकट कर सकता है। परंतु कवि की प्रतिभा में इस से भी अधिक उत्कृष्ट कल्पना-शक्ति रहती है। इसे संस्कृत के आलंकारिक 'अपूर्व-वस्तु-निर्माण-क्षमता'[४] कहते हैं। मेधावी मनुष्य अपने ज्ञान-कोष से वा संचित संस्कारों से यथेष्ट तत्व ग्रहण कर, उन से एक नवीन वस्तु की कल्पना कर सकता है। मन की यह निर्माण-क्षमता कवि में बहुत अधिक मात्रा में हुआ करती है। जिस में जितनी ही अधिक यह शक्ति होगी

---

[१] प्रतिभा बहुशास्त्रदर्शिता बहुधा काव्यविदां च शिक्षया।
मुहुरभ्यसनं मनीषिभिः कथितं कारणमस्य संभवे॥ एकावली

[२] 'इमैजिनेशन'। [३] 'रिप्रोडक्टिव इमैजिनेशन'। [४] 'क्रिएटिव इमैजिनेशन'।

वह उतनी ही अच्छी काव्य रचना कर सकेगा कविता के लिए उपज चाहिए नए नए भावों की स्फूर्ति जिस के हृदय में नहीं होती वह कभी सहृदयाह्लादक कविता नहीं कर सकता। महाकवि शेक्सपियर ने लिखा है कि 'जैसे-जैसे कल्पना-शक्ति अज्ञात वस्तुओं के आकारों की रचना करती है, वैसे-वैसे कवि की लेखनी उन्हें शब्दों द्वारा चित्रित कर मूर्तिमान बना देती है और जो वस्तु प्रतीत नहीं होती उसे स्थान और नाम दे डालती है।'

कवि भावमय जगत में विहार करता है। वह सदा स्वप्न की अवस्था में रहता है। जैसे जीव स्वप्न में अनेक प्रकार की रचनाएँ करता है, वैसे कवि भी अपनी कल्पना से लोकोत्तर सृष्टि रचता है। परमात्मा की नियमबद्ध प्रकृति के दृश्यों को अपनी कला से परिवर्तित कर उन से नई सृष्टि रचने में ही कवि अपनी कारीगरी समझता है। कवि के मनोराज्य की कहीं सीमा नहीं—उस की कल्पना की कोई इयत्ता नहीं। इस लिए आचार्य मम्मट ने कवि-भारती की रचना को ईश्वरकृत रचना से भी कुछ विलक्षण बतलाया है।[1] यूनान के तत्वदर्शी प्लेटो का कथन है कि जब तक कवि में ईश्वर की प्रेरणा नहीं होती, जब तक उस का चित्त स्वस्थ दशा से उन्माद की अवस्था में नहीं आता और जब तक उस की कल्पना-शक्ति अमर्याद नहीं होती, तब तक कवि से कविता नहीं की जा सकती।

अपूर्व वस्तु के निर्माण करने की क्षमता से भी बढ कर कवि की प्रतिभा में एक और भी विशिष्ट शक्ति है। इसे हम 'तत्वदर्शिता'[2] कह सकते हैं। 'कवयः क्रान्त-दर्शिनः'—कवि लोग क्रांतदर्शी हुआ करते हैं। उन के अंतर्नेत्र खुल जाया करते हैं। वे अतीन्द्रिय वस्तुओं का सहज ही में साक्षात्कार कर लेते हैं। प्रतिभा की उच्चतम भूमिका में पहुँचने पर कवि के 'दिव्यचक्षु' उन्मीलित हो जाते हैं।[3] ऐसे कवि तत्व-दर्शी होते हैं और उन की प्रज्ञा 'ऋतंभरा'—सत्य से भरपूर—कहलाती है।[4] कवि-

---

[1] नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥ काव्यप्रकाश

[2] 'इनट्यूइटिव इमैजिनेशन'।

[3] दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्। गीता

[4] 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। योग-सूत्र

वर्डस्वर्थ ने ऐसी प्रतिभा को 'दिव्य दृष्टि और दिव्य शक्ति'[1] कह कर वर्णित किया है।

आनंदवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' मे लिखा है—

अपारे काव्य-संसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

अर्थात् काव्यरूपी जो अपार संसार है, उस मे कवि ही सृष्टिकर्ता है; उसे जिस तरह का विश्व पसंद होता है, इस विश्व को उसी प्रकार बदल जाना पड़ता है।

कवि की महिमा को संस्कृत के आलंकारिकों ने भली-भाँति समझ लिया था और उन्हो ने उस की गुण-गरिमा की अच्छी विवेचना की है। आदर्श कवि कैसा होना चाहिए, उस मे कौन से असाधारण गुण हुआ करते है, उस की प्रतिभा की कहाँ तक पहुँच है, इन विषयो की चर्चा उन्हों ने प्रगल्भ पांडित्य से की है। वे सच्चे कवि को अजर और अमर बतलाते है[2]—

जयन्ति ते सुकृतिन. रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम् ॥

उत्तम कवि अमर कीर्ति चाहते है। मृत्यु के पश्चात् उन का कीर्ति-कलेवर बना रहे और लोग उन की कोमल-कांत कृतियों को अपने हृदय का हार बना ले, इस वासना से प्रेरित हो कर जगत के महाकवि अपने स्निग्धगंभीर संगीत की रचना करते है। कालिदास की भाँति इंग्लैंड के महाकवि मिल्टन ने 'कवियश प्रार्थी' हो कर लिखा है— "अपने स्वभाव की उत्कट प्रवृत्ति के योग से परिश्रम और निरंतर अध्ययन कर के मै भविष्य के लिए कुछ ऐसी कृति का निर्माण कदाचित् कर जाऊँगा जिसे लोग नष्ट न होने देगे।" हिंदुओ का अटल विश्वास है कि कवि की कृति और कीर्ति बड़े पुण्यपुंज से अजर, अमर हुआ करती है—

प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती।
भारवि

---

[1] 'दि विज़न ऐंड फैकल्टी डिवाइन'।

[2] उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम्।
आस्त एव निरातंकं कान्तं काव्यमयं वपुः ॥ भामह

भारत के सहृदय विद्वानों ने जैसा कवि का वैसा ही उस की कला का उत्तम आदर्श अपने लक्ष्य में रक्खा था। काव्य क्या वस्तु है, इस के विषय में संस्कृत के अलंकारशास्त्रों में बहुत विचार किया गया है और भिन्न-भिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं। कोई आलंकारिक रस को प्रधान मान कर 'रसात्मक वाक्य' को काव्य कहता है, कोई 'ध्वनि' को तो कोई 'रीति' को काव्य की आत्मा मानता है। दंडी और पंडितराज जगन्नाथ रमणीय अर्थ के प्रतिपादन करने वाले शब्द को ही काव्य कहते हैं।[1] अर्थात् वे काव्य में अर्थ-चमत्कृति को प्रधान और शब्द-चमत्कृति को गौण मानते हैं। भामह, मम्मट[2], विद्यानाथ आदि आलंकारिक शब्द और अर्थ दोनों को काव्य कहते हैं। वामन ने 'विशिष्ट पदरचना' को काव्य बतलाया है।[3] जिन पदों से वाङ्माधुर्य टपकता हो वही काव्य है। इन आलंकारिकों में परस्पर मतभेद होते हुए भी इतना तो निर्विवाद सिद्ध है, कि काव्य में शब्द और अर्थ दोनों ही समानरूप से अपेक्षित हैं। शब्द और अर्थ—यह काव्य का शरीर है, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति उस की आत्मा है। काव्य का पद्यमय ही होना आवश्यक नहीं, वह गद्यमय भी हो सकता है। महाकवि बाण की कादंबरी गद्य में है तथापि उसे काव्य ही कहा जाता है। वास्तव में गद्य-रचना ही कवियों की परीक्षा की सच्ची कसौटी है—'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'। सुबंधु-कृत 'वासवदत्ता' गद्यमय काव्य है जिस के विषय में बाण ने लिखा है कि निःसंदेह 'वासवदत्ता' के कारण कवियों का अभिमान जाता रहा—'कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया'[4]।

संस्कृत में कविता और पद्य को एक ही चीज नहीं माना गया है। पद्य नपा-तुला शब्द-विन्यास मात्र है। कविता में शब्द और अर्थ का चमत्कार होना चाहिए, उस में सहृदय-संवेद्य रस वा ध्वनि होनी चाहिए। कविता और पद्य में वैसा ही भेद है जैसा 'पोयेट्री' और 'वर्स' में है। जिस पद्य के सुनने वा पढ़ने से हमारा चित्त चंचल

[1] रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। रसगंगाधर
इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावलिः। काव्यादर्श
[2] शब्दार्थौ सहितं काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधम्। भामह
तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि। मम्मट
[3] विशिष्टा पदरचना रीतिः—रीतिरात्मा काव्यस्य। वामन
रीयते क्षरत्यस्यां वाङ्मधुधारेति रीतिः॥ कामधेनु
[4] हर्षचरित।

नही होता वह कविता नही तुकबंदी और अनुप्रास कविता के लिए अपरिहार्य नही कभी-कभी कविता को अलंकार की भी जरूरत नही। मम्मट का मत है कि दोषरहित, गुणयुक्त और बहुधा अलकार-सहित शब्द और अर्थ ही काव्य है और वह कभी-कभी अलकार-रहित भी हो सकता है। यदि कोई कवि भावावेश मे कुछ सुदर वर्णन कर रहा है तो उस मे कृत्रिम अलकारो का निवेश करना निष्फल है, यदि उस के हृद्गत सुंदर भाव के व्यक्त करने वाली पद-पंक्ति मे अनुप्रास न हुआ, तो उस मे क्या क्षति हुई ? यदि कविता के बाह्य आभरणो मे कुछ त्रुटि भी रहे, उस से उस के सौदर्य को बट्टा नही लगता। कालिदास ने ठीक ही लिखा है —

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम् ।
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ॥
. . . . . . . . . . . . . . . . . . . .
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥[1]

कविता मे प्रतिभा का प्रकाश होना चाहिए। उस मे अलौकिक आनद देने वाला सामान होना चाहिए। उस मे कुछ हृदयस्पर्शी भावो का समावेश होना चाहिए। अन्यथा कविता मे गुण ही क्या रहा ?

कविता को हृदयगम बनाने के लिए विशिष्ट पद-रचना बडी आवश्यक है। यथोचित पद-विन्यास के बिना कविता वैसी हृदय-हारिणी नही हो सकती। कवि लोग शब्दो की योग्यता और सामर्थ्य को भली-भाँति समझते है। अपने मनोभावो को व्यक्त करने के लिए वे चुन-चुन कर पदो की योजना करते हैं। भामह ने कवि की माली से उपमा दे कर कहा—'जैसे माली सुरभित और सुदर पुष्पो को चुन-चुन कर और उचित स्थान पर लेजा कर एक माला गूँथता है, वैसे ही कवि को सचेत हो कर शब्दो की योजना करनी चाहिए।'[2]

[1] अभिज्ञानशाकुंतलम् ।

[2] एतद्ग्राह्यं सुरभिकुसुमं ग्राम्यमेतन्निधेयम् ।
धत्ते शोभां विरचितमिदं स्थानमस्यैतदस्य ।
मालाकारो रचयति यथा साधु विज्ञाय मालाम् ।
योज्यं काव्येष्ववहितधिया तद्वदेवाभिधानम् ॥ भामह

कवि को वर्ण्य विषय के अनुकूल पदों का संकलन करने में श्रम करना पड़ता है। निरंतर अभ्यास करने वाले कवियों की कृति में शब्द-चमत्कार देख पड़ता है। संस्कृत के आलंकारिक रस के अनुरूप शब्द और अर्थ की योजना को 'पाक' कहते हैं।[1] कविता में शब्द आपस में ऐसे हिलमिल कर बैठ जाते हैं कि मानो उन में बड़ी घनिष्ट मैत्री है। अतएव ऐसे शब्द-विन्यास को 'मैत्री' वा 'शय्या' भी कहते हैं।[2] वे पद परस्पर इतने अनुकूल होते हैं कि दूसरे पर्याय पद से उन में से एक भी नहीं बदला जा सकता। जहाँ कविता की पद-पंक्ति में लेशभर भी हेर-फेर हुआ वहीं कवि का स्वर बेसुरा होजाता है। ऐसा करने से कविता का शब्द-चमत्कार जाता रहता है। कुछ विद्वानों का मत है कि 'शब्द-पाक' उस पद-रचना को कहते हैं जो हमारे श्रवण-पुट में रस-सुधा को उड़ेलती है। परंतु कर्ण-सुखद होना ही कवि की रचना का उत्कृष्ट गुण नहीं है, क्योंकि कानों का सुख तो क्षणिक है। जब-तब कवि के शब्द हमारे कर्ण-रंध्र में प्रविष्ट हो कर अंतरात्मा में न गूँज उठें और हृदय को अभिभूत न करलें तब तक कवि के कला-नैपुण्य में कुछ कमी ही समझी जाती है। कवि की रमणीय शब्दच्छटा क्षण-क्षण में नवीन मालूम हुआ करती है।[3] उस के 'वाच्यार्थ' की अपेक्षा व्यंग्यार्थ ही मनोवेधक हुआ करता है। कवि कीट्स् ने कहा है कि 'कवि के मधुरालाप कानों को प्रियकर होते ही हैं किंतु उन से भी अधिक मनोज्ञ उन की मधुर-ध्वनियाँ होती हैं जो कानों से नहीं सुनी जाया करतीं।'[4] कवि रस के अनुरूप शब्द-योजना किया करते हैं। वे शृंगार, करुण, हास्य और शांत रस के वर्णन में माधुर्य-गुण-युक्त पदों का और अद्भुत, वीर, रौद्र, भयानक और बीभत्स रस में ओज-गुण-युक्त भाषा का प्रयोग करते हैं। 'प्रसाद'-गुण की आवश्यकता सभी रसों में रहती है। प्रसाद-रहित

[1] अनवरतमभ्यस्यतामेव कवीनां वाक्यानि पाकमासादयन्ति।
पाकस्तु रसोचित शब्दार्थनिबन्धनम्। श्रवणरससुधास्यन्दिनी पदव्युत्पत्तिः पाक इत्यन्ये। पदानां परिवृत्ति वैमुख्यं पाक इत्यपरे।

एकावली

[2] या पदानां परान्योन्यमैत्री शय्येति कथ्यते।

प्रतापरुद्रीय, पृ० ६७

[3] क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।

माघ

[4] 'हर्ड मेलोडीज़ आर स्वीट बट् दोज़ अनहर्ड आर स्वीटर'। कीट्स

काव्य का तो काव्य कहना भी न चाहिए। काव्य प्रकाश[1] में लिखा है कि माधुर्य-गुण सहृदय के मन को आनंदित करता है और शृंगाररस में इस गुण से हृदय पिघल जाता है। यह गुण करुण, विप्रलंभ, शृंगार और शांतरस में उत्तरोत्तर अधिक देखने में आता है। ओज-गुण वीररस का मुख्य अंग है। इस गुण के प्रभाव से आत्मा मानो तेज से प्रदीप्त हो कर फैल जाता है। बीभत्स और रौद्ररस में इस गुण की उत्तरोत्तर अधिक आवश्यकता होती है। प्रसाद-गुण सर्वत्र होना चाहिए। जैसे सूखी लकड़ी में आग और स्वच्छ वस्तु में जल तुरत सर्वत्र फैल जाता है, वैसे ही प्रसाद-गुण भी सब रसों में व्याप्त होना चाहिए। जैसा कवि का विषय वैसी ही उस की भाषा-शैली होनी चाहिए। गुण-विशिष्ट रचना का नाम 'रीति' है। जैसे अंग की जुदी-जुदी व्यवस्था से उस में सौंदर्य चमक उठता है वैसे ही उत्तम वर्ण-विन्यास से कविता में उत्कर्ष उत्पन्न होता है।[2]

प्रौढ कवियों की पद-रचना में इतना चमत्कार होता है कि शब्दों ही से उन के भाव टपकने लगते हैं। यदि भवभूति के सदृश किसी कवि के करुण-काव्य को हम सुनें और उस की शब्दध्वनियों से हमें ऐसा अनुभव हो कि पत्थर भी रो रहा है और वज्र का हृदय भी फटा जा रहा है—'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'—तो समझना चाहिए कि कवि अपनी कला में कृतकार्य हुआ है। यदि हरि-स्मरण में मन संलग्न हो और साथ ही शृंगार की विलास-कलाओं के लिए उत्कंठित हो रहा हो तो हमें कवि जयदेव की मधुर, कोमल-कांत पदावली से युक्त सरस्वती का रसास्वादन करना चाहिए।[3] जिस वर्णन में कोई रस विशेष भी न हो उसे भी कवि

---

[1] आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्।
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्॥
दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः।
बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण तु॥
शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः॥

[2] रीतिर्नामांगसंस्थानविशेषवद् गुणहेतुको वर्णविन्यासविशेषः।

विद्याभूषण

[3] यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुर कोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्॥ गीतगोविं

अपने वाग्विभव से चित्रवत् सुचारु और हृदयंगम बना देता है। कभी-कभी कौडी के मोल के शब्दों को वह ऐसे स्थान पर जड़ देता है जहां वे हीरे की तरह चमक उठते हैं।

काव्य में कोरा 'शब्दपाक' ही नहीं किंतु 'अर्थपाक' भी होना चाहिए। जिस में बाहर और भीतर रस स्फुरित हो उसे 'द्राक्षापाक' कहते हैं। जहाँ रस अंतर में बहुत ही गूढ हो उसे 'नारिकेलपाक' कहते हैं। जिस कविता में अर्थगंभीरिमा शब्दों से स्पष्ट झलकती हो उस में द्राक्षा (दाख) की तरह रस का—कवि की भावना का—परिपाक माना जाता है। जिस में कवि के अभीष्ट अर्थ का अन्वेषण करना पड़े ऐसी कविता में नारियल का-सा रस-परिपाक समझा जाता है। वाणी का केवल आडंबर मात्र कविता नहीं। काव्य कोरा कर्णकोलाहल नहीं, किंतु वह 'शब्द ब्रह्मवित्' तथा 'परिणतप्रज्ञ' कवि का वाग्विलास है।[1]

कवि होना सुमहत्पुण्य का फल है। कवि-कर्म अत्यंत दुष्कर है। कवि और काव्य के गुणग्राहक भी कुछ बिरले ही होते हैं। कविता का मर्मज्ञ तो कवि के समान हृदयवाला 'सहृदय' होना चाहिए।[2] कवि की भाँति उस में भी प्रतिभा, व्युत्पत्ति और काव्यों के अनुशीलन द्वारा उद्बोधित संस्कार होने चाहिएँ। भावुक मनुष्य ही कविता का वास्तव में रसास्वादन कर सकता है, अतः आनंदवर्धन का कथन है कि वही कविता है जिस में शब्द और अर्थ सहृदयों के हृदयाह्लादक हों। काव्य के रसास्वादन के लिए मनुष्य में वासना होनी चाहिए।[3] किसी ने सच कहा है कि संगीत का आधा गुण उस की स्वर-माधुरी में और आधा सुनने वाले कानों में और चित्र का आधा सौंदर्य चित्र-पट में और आधा देखने वाली आँखों में रहा करता है।

---

[1] अर्थगम्भीरिमा पाकः स द्विधा हृदयंगमः।
द्राक्षापाको नारिकेलपाकश्च प्रस्फुटान्तरौ॥
द्राक्षापाकः स कथितो बहिरन्तः स्फुरद्रस।
स नारिकेलपाकः स्यादन्तर्गूढरसोदयः॥

प्रतापरुद्रीय, पृ० ६७

[2] सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।

ध्वन्यालोक, ७

[3] सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।

कवि की कमनीय कृति के मर्म को समझने वाले सहृदय कतिपय हुआ करते हैं और वे उच्छृंखल नहीं होते। रसमयी लताओं पर भौंरों के समान वे केवल मुख-चुंबन नहीं करते, किंतु हृदय के सार का रसास्वादन किया करते हैं।

सहृदयाः कविगुम्फनिकासु ये।
कतिपयास्त इमे न विशृंखलाः ॥
रसमयीषु लतास्विव षट्पदाः।
हृदयसारजुषो न मुखस्पृशः ॥
सुभाषितावलि

# राजपूत जाति

[ लेखक—पंडित विश्वेश्वर नाथ रेउ ]

शास्त्रो मे पता चलता है कि पहले आर्य जाति मे किसी प्रकार का वर्ण-विभाग नही था। परन्तु कालांतर में जाति की उन्नति मे आवश्यक खास-खास कामो के लिए खास-खास तरह के पुरुषो की नियुक्ति हो जाने से, उस मे चार[1] वर्णो की उत्पत्ति हुई। 'भागवत'[2] और 'महाभारत'[3] मे भी इस बात की पुष्टि होती है। सभव है हमारे इस कथन मे कुछ लोगो को आधुनिक विचारो का प्रतिबिब प्रतीत हो, परन्तु वास्तव मे बात ऐसी नही है। इस की पुष्टि में हम अपनी तरफ से अधिक न कह कर बुद्धिमान्, विद्वान्, और विद्वानों का आश्रयदाता समझे जाने वाले राजा भोज के (जिस ने वि० स० १०६६ के करीब से वि० सं० ११९० के करीब तक=ई० स० १०१० के करीब से १०५३ के करीब तक मालवे पर राज किया था) मत को उद्धृत कर देते है। उसने अपने 'समरांगण सूत्र-धार'[4] नामक ग्रंथ मे लिखा है—

'ब्रह्मा ने ससार में शाति बनाए रखने के लिए, पृथु को पहला राजा बनाया, और उस ने राज्य-प्रबध के सुभीते, और जाति की उन्नति के लिए चार वर्णो और चार आश्रमो की स्थापना की। उस समय देव-भक्त, शुद्ध आचार-विचार वाले, विद्वान्, और

---

[1] ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्बाहूराजन्यः कृतः उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की ऋचा।

[2] एक एव पुरावेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः।
देवो नारायणो नान्यः एकोग्निर्वर्ण एव च॥

[3] एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर।
कर्मक्रियाविभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम्॥

[4] अध्याय ७, श्लो० १-१७

गुणी पुरुष ब्राह्मण बनाए गए, बहादुर, उत्साही, बलिष्ठ, और रक्षा करने में समर्थ क्षत्रिय हुए, चतुर, धन कमाने की इच्छा वाले, विश्वासी, फुर्तीले और दयावाले वैश्य कहलाए, और इज्जत, धर्म, सच्चाई, और पवित्रता के विचार से शून्य, शूद्र बना दिए गए।'

इस कथन का तात्पर्य केवल इतना ही है कि, पहले-पहल आर्य जाति में चारों वर्णों का विभाग गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार ही हुआ था।[1] जन्म से इस का कोई संबंध नहीं था।

इस विषय को यहीं समाप्त कर अब हम आर्य जाति के क्षत्रिय वर्ण के विषय में विचार करते हैं।

वैदिक और पौराणिक साहित्य को देखने से ज्ञात होता है कि क्षत्रिय वर्ण में भी सूर्यवंश और चंद्रवंश नाम के दो विभाग हो गए थे। सर जार्ज ग्रीयर्सन ने भारतीय आर्यो द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं का अध्ययन कर उन का दो विभिन्न दलों में भारत आना और इसी से दो भिन्न वंशों में विभक्त होना माना है। परन्तु कुछ काल बाद इस वर्ण में अग्निवंश नाम के तीसरे विभाग का उत्पन्न होना भी पाया जाता है।[2] पहले-पहल इस का उल्लेख विक्रम संवत् की ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बने पद्मगुप्त के 'नवसाहसांक-चरित' में मिलता है। उस में लिखा है कि— 'आबू पर्वत पर रहने वाले वशिष्ठ ने विश्वामित्र से अपनी गाय छीन लाने के लिए अग्नि से एक वीर पुरुष उत्पन्न किया। वह वीर पर अर्थात् शत्रु को मार कर वशिष्ठ की गाय को वापिस ले आया, इसी से मुनि ने उस का नाम 'परमार' रक्खा।'

इस से अनुमान होता है कि, विक्रम की नवीं शताब्दी के प्रारंभ में किसी वशिष्ठ-गोत्री ब्राह्मण ने किसी बौद्धमतानुयायी क्षत्रियवंश को, प्रायश्चित्त द्वारा, फिर से ब्राह्मण धर्म में दीक्षित कर अपनी सहायता के लिए तैयार किया होगा। परन्तु पद्मगुप्त

---

[1] चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
(भगवद्गीता अ० ४, श्लो० १३)

[2] वि० सं० ११६६ (ई० स० ११०९) के गोविंदचंद्र के लेख में लिखा है:—
प्रध्वस्ते सूर्यसोमोद्भव विदितमहाक्षत्रवंशद्वयेऽस्मिन्।
...उद्धर्तुं धर्मभारानि प्रथितमिह तथा क्षत्रवंशद्वये च॥
इस से प्रकट होता है कि, उस समय तक भी क्षत्रिय वर्ण में सूर्यवंश और चंद्रवंश नाम के दो ही प्रसिद्ध विभाग माने जाते थे।

के समकालीन हलायुध ने अपनी 'पिंगलसूत्रवृत्ति' मे इस वंश के राजा मुंज को "ब्रह्मक्षत्रकुलीन"[1] लिखा है।

अग्निवंश का स्पष्ट उल्लेख 'पृथ्वीराज रासो' में पाया जाता है। उस में परमार, चालुक्य (सोलंकी), पडिहार (प्रतिहार), और चौहान वंशों का वशिष्ठ की अग्नि मे उत्पन्न होना मान कर उन्हें अग्निवंशी कहा है। इसी के आधार पर डाक्टर आर० भंडारकर[2] आदि देशी, और मिस्टर वी० ए० स्मिथ आदि विदेशी विद्वान् इन वंशो को आर्येतर—विदेशी (खिजर—गुर्जर) जाति की संतान अनुमान करते है, और ब्राह्मणों का प्रायश्चित्त करवा कर, इन्हे क्षत्रिय जाति मे मिला लेना मानते है। परन्तु एक तो 'पृथ्वीराज रासो' में दिया पृथ्वीराज, उस के कुटुंबियों और समकालीन नरेशों का अधिकांश हाल इतिहास से विरुद्ध सिद्ध होता है, दूसरे उस मे मेवाड-नरेश महारावल समरसिंह का वि० सं० १२४९ (ई० स० ११९२) मे पृथ्वीराज की तरफ से लड कर मारा जाना लिखा है। परन्तु समरसिंह वि० स० १३२४ (ई० स० १२६७) के बाद मेवाड की गद्दी पर बैठा था, और वि० स० १३५९ (ई० स० १३०२) मे उस का देहांत हुआ। तीसरा 'रासो' मे भविष्यकथन के तौर पर मेवाड-नरेश का वि० स० १६७७ के बाद दिल्ली विजय करना भी लिखा[3] है। ऐसी हालतों मे उस के लेख पर विश्वास कर लेना अनुचित ही है।

वास्तव मे देखा जाय तो क्षत्रिय वर्ण के ये वंश-विभाग राजवंशो की प्राचीनता और महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए कवियो की कल्पना मात्र है। यदि ऐसा न होता तो भारत के सभी प्रसिद्ध राजाओ के शिलालेखो और ताम्र-पत्रो मे उन के वंश का उल्लेख अवश्य मिलता। इस के अतिरिक्त यदि किसी वंश के नरेशों की प्रशस्तियोंमे उन के वंश

---

[1] कुछ विद्वान् इस विशेषण से इन का पहले वशिष्ठगोत्री ब्राह्मण होना, और बाद में क्षत्रियत्व ग्रहण करना अनुमान करते है।

आजकल परमार वंशवाले अपने को मालव-नरेश विक्रमादित्य का वंशज मानते है।

[2] इंडियन ऐंटिक्वेरी, भा० ४०, पृ० ७-३६

[3] सौरेसे सत्योतरै विक्रमसाक वदीत।
दिल्लीधर मेवातपति लैंहि खग्गबल जीत।
(तीसरा समय, छं० ४४, पृ० २६५)

का उल्लेख मिलता भी है तो उस में बड़ी गड़बड़ पाई जाती है यदि एक स्थान पर एक वंश को सूर्यवंशी लिखा है तो दूसरे स्थान पर उसी को चंद्रवंशी, आदि लिख दिया है। परमार वंश के विषय में पहले लिखा जा चुका है। आगे कुछ अन्य वंशों के संबंध में अवतरण दिए जाते हैं।

चालुक्य (सोलंकी) विक्रमादित्य छठे के वि० सं० ११३३ (ई० स० १०७६) के लेख में चालुक्य (सोलंकी) वंश को चंद्रवंशी लिखा है। परंतु 'विक्रमांकदेवचरित' में उस वंश को ब्रह्मा के चुल्लू में और बिलहारी में मिले हैहय (कलचुरी) युवराजदेव द्वितीय के लेख में द्रोण के चुल्लू से उत्पन्न हुआ माना है।

ग्वालियर में मिली प्रतिहार भोज[1] की प्रशस्ति में प्रतिहारों (पड़िहारों) को सूर्यवंशी लिखा है। परंतु बाउक के वि० स० ८९४ के लेख में उन की उत्पत्ति हरिश्चंद्र नामक ब्राह्मण की क्षत्रिया स्त्री से बतलाई[2] है।

चौहान लुंभा के, आबू से मिले, वि० स० १३७७ (ई० स० १३२०) के, लेख में चौहानों को चंद्रवंशी लिखा है। परंतु वीसलदेव चतुर्थ के लेख में उन को सूर्यवंशी कहा है।

ऐसी हालत में देशी और विदेशी विद्वानों का 'पृथ्वीराजरासो' के आधार पर ही उपर्युक्त वंशों को अग्निवंशी मान कर विदेशी गुर्जरों (खिजरों) की संतान अनुमान करना उचित प्रतीत नहीं होता।

आगे राजपूतों को अनार्य जाति की संतान मानने वाले विद्वानों के दिए प्रमाणों पर विचार किया जाता है—

पूर्व पक्ष—

'हरिवंश पुराण' में हैहय (कलचुरि) वंशियों का यवनों, पारदों और कांबोजों के साथ उल्लेख किया गया है। इस से हैहय क्षत्रिय विदेशी[3] हैं।

उत्तर पक्ष—

---

[1] इस का समय वि० स० ९०० और ९५० (ई० स० ८४३ और ८९३) के बीच माना गया है।

[2] उसी में पहले प्रतिहार वंश का लक्ष्मण से, जो अपने भाई रामचंद्र का प्रतिहार (द्वारपाल) था, उत्पन्न होना ध्वनित किया है।

[3] इंडियन ऐंटिक्वेरी, भाग ४०, पृ० १९

परन्तु ईल्या की प्रशस्तियां में उन्हे चंद्रवंशी लिखा है और पुराणो में भी उन का शुद्ध क्षत्रिय होना सिद्ध होता है। ऐसी हालत में उन का यवनो, पारदो और कांबोजो के साथ उल्लेख होने से ही उन्हे विदेशी मान लेना ठीक नही है। इस के अलावा मनु ने तो यवनो, पारदो और कांबोजो तक को क्षत्रिय माना है। वह लिखते[1] है—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणाऽदर्शनेन च ॥४३॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजाः यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराताः दरदाः खशाः ॥४४॥

अर्थात्—पौड्क, चौड्, द्रविड, काबोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खश नाम की क्षत्रिय जातियाँ धीरे-धीरे धार्मिक कर्मो को छोड़ देने और ब्राह्मणो के संपर्क मे न रहने से शूद्र समझी जाने लगी।

पूर्व पक्ष—

'हर्षचरित' में बाण ने थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन का हूणो के साथ ही गुर्जरो को जीतना लिखा है। इस से गुर्जरो का विदेशी होना और हूणो के साथ भारत में आना सिद्ध होता है।

उत्तर पक्ष—

परतु वास्तव मे बाणभट्ट की लिखी—"हूणहरिणकेसरी, सिंधुराजज्वरो गुर्जर-प्रजागर[2]" इस पंक्ति मे गुर्जर शब्द से गुर्जर देश-निवासियो का तात्पर्य ही झलकता है। ऐसी हालत में इस स्थान पर गुर्जर (खिजर) जाति के विदेशी लोगो की कल्पना करना उचित प्रतीत नहीं होता। इस के अलावा आज तक के प्राप्त इतिहास से भी विदेशी खिजर जाति का भारत में आना सिद्ध नही होता।

पूर्व पक्ष—

राजोर (अलवर राज्य) से मिले प्रतिहार मथनदेव के वि० सं० १०१६ (ई० स० ९६०) के लेख मे मथनदेव को गुर्जर प्रतिहारवंशी लिखा है। इसी प्रकार दक्षिण के

[1] अध्याय १०
[2] उच्छ्वास २, पृ० २४३

राष्ट्रकूटों की प्रशस्तियों में कन्नौज के प्रतिहारों को 'गुर्जरेश्वर' और अरबों की पुस्तकों में 'जुर्ज' लिखा है। इस से सिद्ध होता है कि प्रतिहार क्षत्रिय भी विदेशीय गुर्जरों की सन्तान थे।

उत्तर पक्ष—

परन्तु वास्तव में वहाँ पर प्रतिहारों के गुर्जर जाति के होने का उल्लेख न हो कर उन के गुर्जरात के निवासी या गुजरात के शासक होने का उल्लेख है। उस समय राजपूताने का एक बड़ा भाग 'गुर्जरत्रा'[1] या गुजरात के नाम से प्रसिद्ध था, और उस की राजधानी भीनमाल थी।[2] सम्भव है, इसी से वहाँ के प्रतिहारों के लेखों में, कन्नौज के प्रतिहारों की शाखा से उन की भिन्नता प्रकट करने के लिए ही उन के निवासस्थान का उल्लेख किया गया हो।

कन्नौज के प्रतिहारों ने चावड़ों[3] को हरा कर पहले अपना राज्य भीनमाल में स्थापित किया था। प्रतिहार नागभट प्रथम (नागावलोक) के सामन्त 'भर्तृवड्ढ' के, वि० सं० ८१३ (ई० स० ७५६) के, दानपत्र से उस समय भड़ौच तक के प्रदेश का प्रतिहारों के अधीन होना प्रकट होता है। इस के बाद यहीं से जा कर इन्हों ने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया था। ऐसी हालत में यदि राष्ट्रकूटों की प्रशस्तियों और अरब लेखकों की पुस्तकों में इन्हें 'गुर्जरेश्वर' आदि लिखा है तो इस में आश्चर्य की कौन-सी बात है?

पूर्व पक्ष—

गुर्जर वंशी क्षत्रिय विदेशी खिजर जाति की सन्तान हैं। यह जाति ईसवी सन् की छठी शताब्दी में, यूरोप और एशिया की सीमाओं के सङ्गमस्थान पर रहती थी। कुछ लोग इस जाति का कनिष्क के समय और कुछ हूणों के आक्रमण के समय भारत में आना

---

[1] प्रतिहार भोजदेव का वि० सं० ९०० का ताम्र-पत्र।
(ऐपिग्राफ़िया इंडिका, भा० ५, पृ० २११)

[2] हुएन्त्सग का यात्रा-विवरण।

[3] कुछ विद्वान् चावड़ों को भी गुर्जर वंश का मानते हैं। परन्तु लाटके चालुक्य (सोलंकी) पुलकेशीराज के कलचुरि संवत् ४९० (वि० सं० ७९६, ई० स० ७३९) के ताम्रपत्र में लिखा है:—"सौराष्ट्र चावोटक मौर्यगुर्जरादिराज्ये"। इस से प्रकट होता है कि उस समय गुर्जर और चावड़े (चापोत्कट) दोनों भिन्नवंशी माने जाते थे।
(बांबे गजैटियर, भा० १, खं० १, पृ० १०९)

अनुमान करते हैं। इसी जाति के संबंध से इस के जीते हुए प्रदेश का नाम गुर्जर या गुजरात हुआ[१] था।

उत्तर पक्ष—

परंतु एक तो पहले लिखे अनुसार, आज तक के प्राप्त इतिहास में इस जाति का भारत में आना ही सिद्ध नहीं होता। दूसरा भडोच के गुर्जर-नरेश जयभट तृतीय के, कलचुरी संवत् ४५६ (वि० सं० ७६२=ई० स० ७०५) के ताम्रपत्र[२] में इस वंश को महाराजा कर्ण की संतान लिखा है। तीसरा विक्रम की सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आने वाले चीनी यात्री हुएन्त्संग ने भी गुर्जर देश की राजधानी भीनमाल और वलभी के राजाओं को क्षत्रिय बतलाया है।

इसी प्रकार बडगूजर भी क्षत्रिय हैं, और उन का विवाह-संबंध अब तक उच्चकुल के क्षत्रियों[३] में होता है।

पूर्व पक्ष—

उत्तर-पश्चिमीय भारत से ससेनियन शैली के कुछ सिक्के मिले हैं। उन पर नागरी

---

[१] श्रीयुत सी० वी० वैद्य का अनुमान है कि, जिस प्रकार महाराष्ट्री भाषा को अपनाने के कारण भारत के एक प्रदेश का नाम महाराष्ट्र हो गया, उसी प्रकार गुजराती भाषा के प्रचार के कारण ही दूसरे प्रदेश का नाम गुजरात हुआ होगा। महाराष्ट्री भाषा का वररुचि के समय (अर्थात् ईसवी सन् से पूर्व की शताब्दी में) भी भारत में प्रचलित होना सिद्ध है।

[२] इंडियन ऐंटिक्वेरी, भा० १३, पृ० ७७

[३] यद्यपि प्राचीनकाल में आर्य जाति के तीनों वर्णों अर्थात् ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों में अनुलोम विवाह होते थे, तथापि अंत में इस का निषेध कर दिया गया था। इस की पुष्टि आगे के अवतरणों से होती है। ईसवी सन् से पूर्व की तीसरी शताब्दी में आने वाले ग्रीक लेखक मेगस्थनीज ने लिखा है—'कोई भी पुरुष न तो अपनी जाति से बाहर विवाह ही कर सकता है, और न अपना पेशा ही बदल सकता है।' (मेगस्थनीज का मैक्क्रिंडल-कृत अँगरेजी अनुवाद, पृ० ८५-८६)। ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भारत की यात्रा करने वाले चीनी यात्री हुएन्त्संग ने लिखा है—'प्रत्येक जाति का पुरुष अपनी जाति में ही विवाह कर सकता है।' (हुएन्त्संग का थॉमस वाटर्स-कृत अनुवाद, भा० १, पृ० १६८)।

इस के अलावा यदा-कदा हो जाने वाले अनुलोम विवाहों की संतान माता के वंश की समझी जाने लगी थी। जैसे मारवाड़ के राठोड मूहण की क्षत्रिया स्त्री की संतान मूहणोत क्षत्रिय और वैश्या स्त्री की संतान मूहणोत वैश्य समझी जाती है।

में श्रीवासुदेव वहमन और पहलवी में तकान सपर्द लक्षान लिखा[१] है। कुछ विद्वान् 'वहमन' को 'चाहमान' मान कर इस वासुदेव को चाहमान वंश का भव में पहला ज्ञात नरेश मानते हैं, और सिक्कों में के 'सपादलक्षान' से हिमालय के सिवालक नाम से प्रसिद्ध पहाड़ी प्रदेश का तात्पर्य लेते हैं। उन का अनुमान है कि हूणों के साथ आनेवाले गुर्जर (खिजर) जाति के लोग ही वहाँ जा कर बस गए थे। इस से चाहमानों के गुर्जर होने में कोई संदेह नहीं रहता। ये सिक्के खुसरो द्वितीय (परवेज) के सैंतीसवें राज्य-वर्ष के सिक्कों से मिलते हुए हैं। इस लिए चाहमान वंशी वासुदेव का समय वि० सं० ६८४ (ई० स० ६२७) के करीब होना चाहिए।

उत्तर पक्ष---

परन्तु इस विषय में भी विद्वानों में बड़ा मतभेद है। जनरल कनिंगहाम इन सिक्कों में के वासुदेव को हूणवंश का और मिस्टर रैपसन ससेनियन वंश का अनुमान करते हैं। इसी प्रकार अन्य विद्वान् लेख में के कल्पित 'चाहमान' को 'वहमन' पढ़ते हैं।

इस के अलावा राजशेखर सूरि के बनाए 'प्रबंधकोष'[२] के अंत की वंशावली में चाहमान वासुदेव का समय वि० सं० ६०८ (ई० स० ५५१) लिखा है। इस समय में और उपर्युक्त सिक्कों के आधार पर स्थिर किए समय में ७६ वर्ष का अंतर आता है।

चौहानों के इतिहास से ज्ञात होता है कि इस वासुदेव का सातवाँ वंशज गूवक (प्रथम) था। हर्षनाथ से मिले वि० सं० १०१३ के लेख में उस का, अपनी वीरता के कारण, नागावलोक की सभा में वीर की पदवी प्राप्त करना लिखा है। चौहान भर्तृवृद्ध के वि० सं० ८१३ (ई० स० ७५६) के लेख में भर्तृवृद्ध को नागावलोक का सामंत कहा है। इस से नागावलोक और गूवक का वि० सं० ८१३ के करीब विद्यमान होना सिद्ध होता है। ऐसी हालत में इस समय में से वासुदेव से गूवक तक के आठ राजाओं के लिए २०० वर्ष का समय निकाल देने से वासुदेव के राज्यारंभ का समय 'प्रबंधकोष' में दिए समय के निकट ही आता है।

---

[१] इन में के अन्य प्रकार के सिक्कों पर पहलवी में "सफ वसु तेफ (श्रीवासुदेव) वहमन मुल्तान मल्का" लिखा है।

[२] यह कोष वि० सं० १४०५ (ई० स० १३४९) में बनाया गया था।

फिर, चौहानों का राज्य पहले-पहल सिंध या मुल्तान में न रह कर अहिच्छत्रपुर में रहा था, और वहीं से ये शाकंभरी (सांभर) की तरफ आए थे। चीनी यात्री हुएन्त्सग ने (जो वि० सं ६९७=ई० स० ६४० के .करीब भारत में आया था) अपने यात्रा-विवरण में इस नगर का वर्णन किया है, और उसी के आधार पर जनरल कनिंगहाम ने उस का बरेली से २० मील पश्चिम में आधुनिक रामनगर के पास होना माना है।[१] 'महाभारत' के अनुसार भी यह अहिच्छत्रपुर उत्तर पाञ्चाल देश की राजधानी था। रही 'सपादलक्ष' प्रदेश के हिमालय में होने की बात। परन्तु विद्वान् लोग 'सपादलक्ष' से 'सवा लाख' पहाड़ों के सिलसिले वाले प्रदेश का अर्थ न ले कर सवा लाख गाँवों वाले प्रदेश का तात्पर्य लेते हैं,[२] और चौहानों से शासित सांभर, नागोर और अजमेर का प्रदेश इस समय भी 'सवालख' के नाम से पुकारा जाता है। ऐसी हालत में चाहमानों का गुर्जर वंशी होना, और हिमालय की तरफ से राजपूताने में आना नहीं माना जा सकता।

यही हाल राष्ट्रकूट, गुहिल आदि अन्य क्षत्रिय जातियों का भी है। मिस्टर विंसेंट स्मिथ आदि ने राजपूत जाति का ईसवी सन् की आठवीं या नवीं शताब्दी में एकाएक उत्पन्न होना मान कर उन का विदेशी या आर्येतर होना अनुमान किया है।[३] परंतु उन का यह अनुमान ठीक नहीं है। क्योंकि, ईसवी सन् की पाँचवीं शताब्दी में दक्षिण में राष्ट्रकूटों का राज्य विद्यमान था, और इसी शताब्दी के अंतिम भाग में उस पर सोलंकी जयसिंह ने अधिकार किया था। सोलंकी त्रिलोचनपाल के श० सं० ९७२ (वि० सं०

---

[१] रुहेलखंड के पूर्वी भाग में।

(हुएन्त्सग का थॉमस वाटर्स-कृत अनुवाद, भा० १, पृ० ३३२ और 'ऐनशियेंट जीओग्राफ़ी अव् इंडिया', पृ० ३५९)

[२] 'स्कंदपुराण' में (जिस का रचनाकाल ईसवी सन् की नवीं शताब्दी अनुमान किया जाता है) सांभर, मेवाड़, कर्नाटक आदि प्रदेशों में से प्रत्येक में सपादलक्ष (सवा-सवा लाख) गाँव होना लिखा है।

(कुमारखंड, अध्याय ३९, श्लो० १३९-१४०)

[३] मिस्टर वी० ए० स्मिथ का चंदेलों, राठोड़ों और गाहड़वालों को अनार्य, गोंड, भर, और खरवारों की संतान अनुमान करना भी प्रमाणशून्य ही है। गाहड़वालों के लिए देखो हमारा लिखा 'राष्ट्रकूटों (राठोड़ों) का इतिहास' या 'भारत के प्राचीन राजवंश', भा० ३

चंदेलों के शिलालेखों में उन को चंद्रवंशी लिखा है।

११०७= ई० स० १०५१) के ताम्रपत्र से प्रकट होता है कि राष्ट्रकूटों के दक्षिण में जाने से पहले उन (राष्ट्रकूटों) का राज्य किसी समय कन्नौज में भी रह चुका था,[१] और अशोक के लेखों में के 'रठिक', 'रिस्टिक' आदि नामों को देखने से उन (राष्ट्रकूटों= राठोडों) का उस समय भी विद्यमान होना सिद्ध होता है।

इसी प्रकार मेवाड राज्य के इतिहास में गुहिल वंश के संस्थापक गुहिल (गुहदत्त) का ईसवी सन् की छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में और बापा रावल का ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में मौजूद होना पाया जाता है।

मि० स्मिथ आदि का, राजपूत[२] के नाम से प्रसिद्ध होने के कारण भी, वर्तमान क्षत्रिय वंशों के आर्य-संतान होने में संदेह करना उचित नहीं है। क्योंकि यह राजपूत शब्द राजपुत्र शब्द का ही अपभ्रंश है। जिस प्रकार आजकल राजपूत-नरेशों के छोटे पुत्रों के वंशज कुछ पीढ़ी बाद ठाकुर कहाते हैं और अवध के ताल्लुकेदारों के छोटे पुत्र या उन की संतान अपने नाम के साथ कुँअर शब्द का प्रयोग करती है, उसी प्रकार, संभव है पहले के नरेशों की छोटी संतान साधारण क्षत्रियों से अपनी श्रेष्ठता दिखलाने के लिए अपने को राजपुत्र के नाम से प्रसिद्ध करने लगी हो, और कुछ ही शताब्दियों में अनेक राजवंशों के उदयास्त के कारण ऐसे राजपुत्रों की संख्या बढ़ जाने और उन की दशा में समयानुसार परिवर्तन होते रहने से क्षत्रिय जाति का यही अंश राजपूत के नाम से प्रसिद्ध हो गया हो, तथा साधारण क्षत्रिय-समाज अन्य अनेक उपजातियों के पेशों को अंगीकार कर लेने के कारण उन-उन जातियों में विलीन हो गया हो।[३]

---

[१] कान्यकुब्जे महाराज राष्ट्रकूटस्य कन्यकाम्।
लब्ध्वा सुखाय तस्यां त्वं चौलुक्याप्नुहि संततिम् ॥६॥
(इंडियन ऐंटिक्वेरी, भा० १२, पृ० २०१) में उद्धृत

[२] 'शब्दकल्पद्रुम' नामक कोष में 'पाराशरस्मृति' का यह श्लोकार्द्ध उद्धृत किया गया है :—

वैश्यादम्बष्टकन्यायां राजपुत्रः प्रजायते।

परंतु 'पाराशरस्मृति' की छपी हुई प्रति में इस का पता नहीं चलता। संभव है किसी ने आधुनिक राजपूत जाति को देख कर ही इस श्लोकार्द्ध को उस में जोड़ दिया हो।

[३] राजपूताने की अनेक उपजातियों में मिलने वाली शाखाओं से इस का समर्थन होता है।

कर्नल टाड ने अपने 'राजस्थान के इतिहास' में मुगल बादशाहों के यहाँ एक लाख राठोड सैनिकों का होना लिखा[1] है। संभवत. इन में अधिकांश संख्या मारवाड़ राज्य के संस्थापक राव सीहाजी के वंशज राठोड राजपूतों की ही थी। इस से भी ऊपर लिखे, राजपुत्रों की संख्यावृद्धि वाले, अनुमान की पुष्टि होती है।

ईसवी सन् से पूर्व की छठी शताब्दी में होने वाले पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' के

**गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याजाद्वुञ्**

(४।२।३९)

इस सूत्र में ऐसे राजपुत्रों के समूह के अर्थ में 'वुञ्' प्रत्यय का उल्लेख किया गया है।

विक्रम की दूसरी शताब्दी के कवि अश्वघोष ने भी अपने 'सौंदरानद' नामक महाकाव्य में राजपुत्र शब्द का उपयोग किया है।

**केचिदिक्ष्वाकवो जग्मू राजपुत्रा विवत्सवः**

(सर्ग १, श्लो० १८)

कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' नामक नाटक में लिखा है—

**मया राजपुत्रशतपरिवृतं वसुमित्रं गोप्तारमादिश्य...**

(अंक ५, पृ० १०३)

बाणभट्ट ने भी वि० सं० ६७७ (ई० स० ६२०) के क़रीब लिखे अपने 'हर्ष-चरित' में राजपुत्र शब्द का प्रयोग किया है।[2]

इसी प्रकार 'महाभारत' में भी अनेक स्थानों पर क्षत्रिय के लिए राजपुत्र शब्द का प्रयोग स्पष्ट तौर से मिलता है। जैसे—

**एतेरुक्मरथा नाम राजपुत्रा महारथाः।**
**रथेष्वस्त्रेषु निपुणा नागेषु च विशांपते ॥२०॥**

(द्रोणपर्व, अध्याय ११२)

---

[1] 'ऐनाल्स ऐंड ऐंटिक्विटीज़ अव् राजस्थान', क्रुक-संपादित, पृ० १०५-१०६

[2] (पुष्यभूतिस्तु) अपरेद्युः उत्थाय कतिपयैरेव राजपुत्रैः परिवृतो भैरवाचार्यं द्रष्टुं प्रतस्थे (उच्छ्वास ३, पृ० २४१)

**मक्षचर्यां तत प्राहुस्तत्य सद्धर्मचारिण**

**तथा वश्यस्य राजन्द्र राजपुत्रस्य चच हि ॥**

(शांतिपर्व, अध्याय ६४)

इब्नखुर्दादबा ने हिजरी सन् ३०० (वि० स० ९६९—ई० स० ९१२) के करीब 'किताबुल्-मसालिकुल्-ममालिक' नाम की पुस्तक लिखी थी। उस मे लिखा[१] है—

'हिंदुस्तान मे कुल सात जातियाँ है। १ सब्कुफीआ, २ ब्रह्म, ३ कतरीअ, ४ सूदरिआ, ५ बैसुरा, ६ सडालिआ और ७ लहूड।

सब्कुफीआ—यह जाति सब मे उच्च मानी जाती है, और राजा लोग इसी जाति मे से चुने जाते है।

कतरीअ—इस जाति के लोग शराब के केवल तीन प्याले तक पी सकते है। ब्राह्मण लोग इन की कन्याओ से विवाह कर सकते है। परतु वे अपनी कन्याएं उन्हे नही देते।

इन विवरणो से सिद्ध होता है कि, उस समय क्षत्रिय जाति के दो विभाग थे। एक सब्कुफीआ=सुक्षत्रिय अथवा राजपुत्र, (क्योकि राजा लोग इसी उच्च वश के होते थे), और दूसरा कतरीअ (साधारण) क्षत्रिय। परतु ब्राह्मणो के साथ उन की कन्याओ का विवाह हो सकने के उल्लेख से उन (कतरीओ) का भी शुद्ध क्षत्रिय होना सिद्ध होता है।

यह भी सभव है कि, ये राजपुत्र या उच्च राजवशी क्षत्रिय साधारण शुद्ध क्षत्रियो मे श्रेष्ठ समझे जाने के कारण ही मुसल्मानो के शासनकाल मे खास तौर पर राजपूत के नाम से प्रसिद्ध हो गए हो।

इस के अलावा ईसवी सन् १९०१ की मर्दुमशुमारी के समय राजपूतो के विषय मे अनुसधान करने वाले मनुष्य-शरीर की रचना के विशेषज्ञ सर एच्० रिजले ने भी उन की सीधी नाक, लबे सिर और लबे शरीर की परीक्षा कर उन का आर्य-सतान होना प्रकट किया था।

आगे हम राजपूत जाति के विषय में दूसरे पहलू से विचार करते है।

---

[१] ईलियट्, 'हिस्ट्री अव् इंडिया', भा० १, पृ० १६-१७

उपर्युक्त विद्वानों के            यदि थोड़ी देर के लिए राजपूतों को बाहर से आकर भारत पर आक्रमण करने वाली शक, कुशान और हूणों की सन्तान मान भी लिया जाय तब भी उन के आर्य-वंशी होने में बाधा नहीं पड़ती। क्योंकि रामायण, महाभारत, स्मृति, पुराण और आधुनिक खोज में प्राप्त हुई सामग्री से ज्ञात होता है कि, एक समय भारतीय आर्यों की सन्तान देशविजय करती हुई शकों के निवासस्थान, तिब्बत के उत्तरी भाग, तथा कुशान और हूणों के निवासस्थान मध्य एशिया में जा कर बस गई थी। इसी प्रकार अनेक सूर्य और चन्द्रवंशी नरेशों ने भारत से बाहर अपने उपनिवेश या राज्य स्थापन किए थे। उदाहरण के लिए भरत के पुत्रों के कंधार में राज्य-स्थापन करने, प्रचेता के पुत्रों के भारत के उत्तर में स्थित म्लेच्छ देशों पर शासन करने, और अर्जुन के पाताल (अमेरिका) विजय करने के उल्लेख ही पर्याप्त होंगे। हमारे प्राचीन ग्रंथों में अनेक राजाओं का 'त्रिविष्टप' विजय करना भी लिखा है। आजकल के ऐतिहासिक इसे तिब्बत का ही संस्कृत नाम मानते हैं।

कुछ वर्ष पूर्व डाक्टर स्टीन को चीनी तुर्किस्तान में, रेत में दबे, खरोष्ठी लिपि के अनेक लेख मिले थे। उन में प्रयुक्त हमारी भारतीय प्राकृत भाषा और महानुभाव, महाराज, भट्टारक, वंशमणि आदि आर्य उपाधियों को देखने से वहाँ पर भी आर्यों के उपनिवेश का रहना सिद्ध[1] होता है।

उदाहरण के लिए उन लेखों में लिखी भारतीय प्राकृत और आर्य उपाधियों के कुछ नमूने यहाँ पर दिए जाते हैं—

**प्रियदेवमनुशस्स प्रियदर्शनस प्रियभ्रतु।**
**महनुभवमहरय जिटुघवंशमण देवपुत्रससे॥**

इसी प्रकार जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि टापुओं में मिली हिंदू देवताओं की अनेक मूर्तियों और संस्कृत भाषा के अनेक लेखों को देखने से वहाँ पर भी आर्यों का अधिकार रहना सिद्ध होता है। अमेरिका की पुरानी 'मय' सभ्यता के चिह्न भी वहाँ पर भारतीयों के उपनिवेश या अधिकार रहने का अनुमान कराते हैं।

---

[1] इन्हीं प्रमाणों को देख कर आधुनिक विद्वान् उस प्रदेश को 'सेरिंडिया' के नाम से पुकारते हैं।

चीनी लोग भारतीयों द्वारा अधिकृत रहने के कारण ही चीन और भारत के बीच के प्रदेश को शितू[1] सिंधु का एक भाग कहते थे।[2]

ऐसी हालत में इन शक, कुशान और हूणों को भी उन देशों में जा बसने वाले भारतीय आर्यों की संतान मान लेने में कोई आपत्ति नजर नहीं आती। फिर स्वयं मनु ने भी पहले लिखे अनुसार पौंड्रक, चौड्र, द्रविड, कांबोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खशों का क्षत्रिय होना माना है। हाँ, उन के ब्राह्मण-हीन देशों मे जा बसने और धार्मिक कृत्यों को छोड़ बैठने से उन्हें वृषल की संज्ञा अवश्य दी है। परन्तु ऐसे तो ब्राह्मण धर्मानुयायियों ने द्वेष के कारण भारत के मगध, कलिंग आदि बौद्ध और जैनमत-प्रधान देशों और वहाँ के निवासियों को भी अपवित्र लिख दिया है। ऐसी हालत में पहले तो बिना पूरा प्रमाण मिले राजपूत जाति को शकों आदि की संतान मानना ही अनुचित है। फिर यदि थोड़ी देर के लिए ऐसा मान भी लिया जाय तो ऊपर उद्धृत किए प्रमाणों से उन जातियों का भी भारतीय आर्य या क्षत्रिय होना ही सिद्ध होता है।

आगे कुछ और भी ऐसी बातों का उल्लेख किया जाता है, जिन से हमारे इस कथन की पुष्टि होती है।

शक वंश के राजाओं के सिक्कों पर सूर्य, चंद्र और गंगा के चिह्न बने हैं। उन के सिक्कों और लेखों मे हमारी प्राकृत भाषा का[3] प्रयोग मिलता है। उन के नाम अधिकतर भारतीयों के नामों के समान ही---रुद्रसिंह, स्वामी सत्यसिंह, स्वामी रुद्रसेन आदि पाए जाते हैं।

कुशान वंश के राजाओं के सिक्कों पर शिव और नंदी की, या हवन करते हुए

---

[1] ई० स० से १२३ वर्ष पूर्व हन वु'टी के समय यह प्रदेश चीन राज्य की पश्चिमी सीमा के पास तक फैला हुआ था।

(हुएन्त्संग का थॉमस वाटर्स-कृत अनुवाद, भा० १, पृ० १३३-१३४)

परंतु इस प्रदेश का शितू नाम अशोक से चार-पाँच सौ वर्ष बाद पड़ा था। रोमन लोग इसी को परला हिंद ('फ़र्दर इंडिया' या 'ट्रांस गैंजेटिक इंडिया' कहने लगे थे)।

[2] हुएन्त्संग के यात्रा विवरण से ज्ञात होता है कि ई० स० ६३० के क़रीब कपिश (काफ़िरिस्तान या अफ़ग़ानिस्तान) में क्षत्रिय राजा राज करता था।

(हुएन्त्सग का थॉमस वाटर्स-कृत अनुवाद, भा० १, पृ० १२२-१२३)

[3] अप्रतिहतचक्रस छत्रपस रजबुलस।

राजा की मूर्ति बनी होती है, उन पर प्राकृत भाषा से मिलती हुई भाषा[1] लिखी रहती है उन की उपाधियाँ भी भारतीय नरेशो की उपाधियो के समान ही—महाराज, राजातिराज (या राजाधिराज) ईश्वर, महेश्वर और देवपुत्र मिलती है। उन मे के एक राजा का नाम वासुदेव था। हूणवश के सिक्को पर त्रिशूल और नदी के चिह्न मिलते है, उन पर सस्कृत भाषा[2] लिखी होती है। उन की उपाधियाँ भी भारतीय नरेशो की उपाधियो के समान ही—वृषध्वज और महाराज मिली है। उस वंश के एक राजा का नाम मिहिरकुल था और वह कट्टर शैव था।

हूणवंश का उल्लेख विक्रम की १५वी शताब्दी मे बने, 'कुमारपालचरित' मे क्षत्रियो के ३६ कुलो मे किया गया है, और 'राजतरगिणी' के कर्ता ने भी क्षत्रियो के ३६ कुल माने है।

कर्नल टॉड ने राजपूतो और सीथियनो के रीति-रिवाजो को मिलता हुआ बतला कर राजपूतो को अनार्य, सीथियन या शक मान लिया है। परन्तु यह ठीक नही है। क्योकि ऊपर लिखे अनुसार वे सीथियन भी भारतीय आर्यो की सन्तान ही सिद्ध होते है। ऐसी हालत मे दोनो के रीति और रिवाजो का बहुत कुछ मिलते हुए होना कोई आश्चर्य की बात नही है।

अस्तु, इस लेख को समाप्त करने के पूर्व हम राजपूतो को अनार्य मानने वाले विद्वानो से एक बात पूछना चाहते है, और वह यह है कि, यदि वास्तव मे उन का ही अनुमान ठीक है तो आखिर सुदीर्घ काल से भारत मे राज्य करने वाले वे पुराने क्षत्रिय-वश कहाँ और कैसे लुप्त हो गए?

(१) यदि यह कहा जाय कि उन के बौद्ध या जैनमत ग्रहण कर लेने से उन का वर्ण नष्ट हो गया तो यह बात उचित प्रतीत नही होती; क्योकि वैशाली के लिच्छवि क्षत्रियो के बौद्धधर्म ग्रहण कर लेने और दक्षिण के राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष प्रथम के जैनमत ग्रहण कर लेने पर भी उन के वंशज क्षत्रिय ही बने रहे थे।

(२) यदि यह मान लिया जाय कि विदेशी आक्रमणकारियों ने क्षत्रिय वर्ण को

---

[1] **महरजस रजदिरजस सर्वलोग ईश्वरस महिश्वरस हिमकपिशस।**

[2] **विजितावनिरवनिपति श्रीतोरमाणदेव जयति।**

समूल नष्ट कर दिया तो यह भी संभव प्रतीत नहीं होता; क्योंकि हूण नरेश मिहिरकुल के (वि० सं० ५९९=ई० स० ५४२ में) मरने के बाद से क़रीब पौने पाँच सौ वर्ष (अर्थात् महमूद गजनवी के पंजाब पर अधिकार करने) तक भारतवर्ष बाहरी आक्रमणों से बचा रहा था।[1] और लिच्छवि क्षत्रियों के वि० सं० ८११ (ई० स० ७५४) तक के मिले लेखों[2] में उन का उस समय तक भी विद्यमान होना सिद्ध होता है। ऐसी हालत में 'पाराशर स्मृति' के "कलावाद्यतयोः स्थितिः" इस वचन की दुहाई दे कर राजपूतों को अनार्य मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता।

---

[1] यद्यपि ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी में अरबों ने सिंध विजय किया था, तथापि उन का प्रभाव भारत के अन्य प्रांतों पर नहीं पड़ा था।

[2] इंडियन ऐंटिक्वेरी, भा० ९, पृ० १६३ और १६७

# समालोचना

## कोष

ज्ञानकोष—भाग १ (अ—अफसर)। प्रकाशक, डाक्टर श्रीधर व्यंकटेश केतकर, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, पूना तथा भार्गव-ब्रदर्स, सुलेमानी प्रेस, बनारस सिटी। प्रथम संस्करण, १९३४।

साहित्य की वृद्धि के साथ, हमारी भाषा मे एक अच्छे विश्वकोष या 'इन्साइक्लोपीडिया' की आवश्यकता का अनुभव किया जाना स्वाभाविक है। बँगला और मराठी भाषाओ में ऐसे विश्वकोष उपस्थित हैं। हिंदी भाषा में भी, बँगला विश्वकोष के आधार पर एक विश्वकोष कलकत्ते से प्रकाशित हुआ है। परंतु उक्त विश्वकोष मे अनेक त्रुटियॉ है और अभी एक सुदर सर्वांगीण कोष की आवश्यकता शेष रह जाती है। अतएव हमे इस ज्ञानकोष का स्वागत करना चाहिए। इस कोष के, हिंदी मे संपूर्णतया छप जाने पर, हमारे यहाँ एक ऐसी संपत्ति हो जायगी जिस में मराठी कोष पर किया हुआ परिश्रम हमे सुलभ हो जायगा। इस प्रकार हिंदी भाषा में बँगला तथा मराठी दोनो ही विश्वकोषों से लाभ उठाने का अवसर प्राप्त हो जायगा। पुस्तक के आरभ में महामहोपाध्याय डाक्टर गगानाथ झा ने आशीर्वाद-रूप 'दो शब्द' कहे हैं। पुस्तक मे छः पक्तियों की एक प्रस्तावना है जिस के लेखक डाक्टर केतकर है, परतु आगे चल कर संपादकीय संचालक श्रीयुत विश्वनाथ प्रसाद भार्गव, बी० ए० बताए गए है। कोष के 'संपादक तथा लेखक-मंडल' की सूची में ३३ नाम है, जिन मे अधिकांश अधिकारी सज्जनो के है। हम इस बात को स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि इस उद्योग की सफलता के लिए हम हृदय से इच्छुक है।

एक ऐसे विश्वकोष के संबध मे, जिस में विभिन्न विषयो के प्रामाणिक लेख अपेक्षित हैं, किसी एक व्यक्ति के लिए सम्मति देना कठिन है। परंतु संपादन-कार्य में साधारणतः असावधानी लक्षित होती है। सब से पहले तो प्रूफ-संशोधन के विषय में

ध्यान दिलाना आवश्यक है पुस्तक प्रूफ़ की अशुद्धियों से भरी पड़ी है उदाहरण के लिए पृष्ठ १२८ के दूसरे स्तंभ को ले रहा हूँ। यही पृष्ठ सामने खुल गया है। इस स्तंभ में प्रूफ़ की कम से कम आठ बड़ी भद्दी अशुद्धियां है। 'पदार्थ' चौथी पक्ति मे 'पदर्थ' छप गया है; इसी प्रकार सातवी पक्ति मे 'सुगन्धित' 'सुगर्न्धित'। आगे चल कर 'प्रसन्न' का 'न्न' रांग-फ़ाट मे है। 'आह्लादित' मे 'ल्ह' न होना चाहिए। फिर 'उत्पन्न' के स्थान पर 'उप्तन्न' छपा है। और आगे 'पुरुप' 'पुरूष' करके छपा है। अंत मे 'से तय्यार' 'सेत य्यार' हो गया है। इसी अनुपात से ३१९ पृष्ठ के ग्रंथ में लगभग पॉच हजार अशुद्धियाँ होनी चाहिए। यह अशुद्धियाँ ग्रंथ के मूल्य को बहुत घटाती है तथा घोर आपत्ति-जनक है। ग्रंथ मे विराम-चिन्हो का भी उपयोग त्रुटि-पूर्ण है।

इन पक्तियो का लेखक कुछ और परामर्श देना चाहता है। ग्रंथ मे आए हुए अग्रेजी शब्द कही-कही नागराक्षरों में दिए गए है, जैसे ४२ पृष्ठ पर और बहुत स्थलो पर रोमन अक्षरो मे। पृष्ठ ८३ पर तो पुस्तक-सूची संपूर्णतया रोमन अक्षरों में है। इन पंक्तियों का लेखक स्वय नागराक्षरों का उपयोग पसंद करता है, परंतु संपादक-गण जो पद्धति भी उचित समझें उस का सर्वत्र समान रूप से निर्वाह होना आवश्यक है। नामवाची सज्ञाओ के शुद्ध उच्चारण नागराक्षरों मे प्रदर्शित किए जाने चाहिए। उदाहरण के लिए 'अकबरपूर' के वर्णन में एक परगने का नाम 'मजारा' दिया गया है। वास्तव मे यह मँझौरा है। इसी प्रकार अनुमानतः भौगोलिक नामों में अन्य भ्रांतियाँ भी होगी क्योंकि यह वर्णन अँग्रेज़ी ग्रंथो के आधार पर प्रस्तुत किए गए है। उन को नागराक्षरों मे उतारते समय बड़ी सावधानी की आवश्यकता है।

मुख्य-मुख्य लेखों में लेखकों के नाम दे देने चाहिए, जो नही किया गया है। इसी प्रकार मुख्य-मुख्य लेखो मे आधार-ग्रथों की सूची भी लगा देनी चाहिए, जो कही किया गया है, और कही पर नही। ग्रंथ में दिए हुए चित्रो मे भी कोई क्रम नही जान पडता। चित्रो का चुनाव किसी सिद्धात पर होना चाहिए, स्फुट रूप से नही। पाठ्य 'मैटर' के साथ विषय को समझाने के लिए भी बहुधा चित्रो की आवश्यकता होगी, जो इस ग्रंथ मे नही है। पुस्तक चिकने कागज़ पर छपी है, अतएव इस पर हाफटोन तथा लाइन दोनो ही प्रकार के चित्र दिए जा सकते हैं। इस से विषय को समझने में पाठको को सुविधा होगी। ग्रथ के मुख-पृष्ठ पर ज्ञानकोष के विषय मे

कहा गया है कि यह अखिल विश्व की कला विज्ञान तथा साहित्य का वृहद भंडार है"। ग्रंथ को वास्तव मे इस प्रकार का 'वृहद् भंडार' बनाने के लिए बडा परिश्रम अपेक्षित है। आशा है कि सपादक तथा प्रकाशक इस बात को ध्यान मे रक्खेगे और जहाँ तक संभव होगा आगामी भागो मे त्रुटियों से बचने का प्रयत्न करेगे। यो तो मनुष्यो द्वारा किया हुआ कार्य कब सब प्रकार से पूर्ण हो सकता है।

## उपन्यास

**तितली**—लेखक, श्रीयुत जयशकर 'प्रसाद'। प्रकाशक, भारती-भडार, बनारस। पृष्ठ-सख्या ३८४। मूल्य २।।)

हिंदी के आधुनिक साहित्यिको मे श्री जयशकर 'प्रसाद' जी को एक विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त हैं। यों तो ऐसे अन्य साहित्यिक भी मिलेंगे, जिन्हो ने एक से अधिक क्षेत्रो मे अपनी प्रतिभा दिखाई है, परन्तु यह अद्वितीय स्थान कदाचित् 'प्रसाद' जी को ही प्राप्त है कि कविता, नाटक, आख्यायिका और उपन्यास सभी के लिखने मे वह प्राय समान रूप से प्रसिद्ध हुए है।

'प्रसाद' जी मुख्यतया कवि है, अतएव यह स्वाभाविक ही है कि उन के नाटको, कहानियों और उपन्यासों मे भावुकता का प्राधान्य हो और चरित्र-चित्रण यथार्थवादी न हो कर आदर्शवादी हो जाय। प्रस्तुत पुस्तक में भी चित्रण इसी प्रकार का हुआ है। कोई भी चरित्र नितात दुष्ट-प्रकृति या साधु-प्रकृति का नही हुआ करता। मानव-प्रकृति मे गुरुताएँ भी है और दुर्बलताएँ भी। जिसे हम दुष्ट समझे हुए हैं, उस की अतरात्मा में हम यदि पैठ सके तो हमे कोमल स्थल भी दिखाई देंगे, जिसे हम साधु समझ रहे है, उस का यदि हमे सूक्ष्मतम ज्ञान हो तो कदाचित् उस की त्रुटियों को भी हम देख सके। हमारे उपन्यास-लेखक मानव-प्रकृति-सबधी इस मनोवैज्ञानिक तत्व को कभी-कभी भुला देते है। परिणाम यह होता है कि हमारे श्रेष्ठ से श्रेष्ठ लेखक यथार्थ-वादी नही हो पाते। उन के द्वारा चित्रित चरित्रो मे यदि हम मोटे ढंग से देखे तो आचरण की स्वाभाविकता तो मिलेगी। परंतु इस स्वाभाविकता को यथार्थवादिता का नाम हम न दे सकेंगे। इसी प्रकार यद्यपि 'प्रसाद' जी के इस उपन्यास में स्वाभाविकता का प्रत्यक्ष रूप से प्राय. हनन नहीं हुआ है, परन्तु पाठक यह अनुभव करता है कि

जो ससार रचयिता न प्रस्तुत किया ह वह काल्पनिक ह यथार्थवादी नहीं बुराई वहाँ से आरंभ होती है जब एक पात्र को अच्छा या बुरा स्वीकार कर के चलते है।

उपन्यास का कथानक प्रधानतया देहाती-जीवन से सबंध रखता है। लेखक ने अपनी कल्पना और बुद्धि के अनुसार ग्रामीण समस्यायो के सुलझाने के ढंग निश्चित किए है। जान पड़ता है कि लेखक ने अपने पात्र इस दृष्टि से चुने ह कि उन के द्वारा उस ग्राम-सुधार की स्कीम अग्रसर होती दिखाई जा सके। इस प्रकार उपन्यास प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा प्रदान करने का माध्यम बना दिया गया है। और ऐसी स्थिति मे, स्वभावत. मनोवैज्ञानिक विश्लेषण गौण स्थान ग्रहण कर लेता है।

उपन्यास में आरंभ से ही दो कथानक एक साथ चलते है—एक शैला और इंद्रदेव का, दूसरा तितली और मधुवन का—परन्तु उन दोनो का एक दूसरे के साथ गूँथ दिया जाना किंचित् अस्वाभाविकता का प्रभाव डालता है। इन मे से एक विदेशी आदर्शों से प्रभावित और दूसरा विशुद्ध भारतीय है। जगह-जगह यह बात प्रकट होती है कि लेखक को न तो 'विदेशी' आदर्शों का समुचित ज्ञान है न उन के साथ सहानुभूति। यही कारण है कि लेखक पाश्चात्य सस्कृति के प्रति अकारण छिद्रान्वेषी मनोवृत्ति प्रदर्शित करता है।

यदि हम प्रस्तुत उपन्यास मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से पढ़ेंगे तो हमे हताश होना पड़ेगा। यदि हम इसे इस दृष्टि से देखेगे कि इस के द्वारा शिक्षा दी गई है, तो हम स्वीकार करते है कि वह शिक्षा अवश्य ग्राह्य है। इस उपन्यास मे 'प्रसाद' जी की भाषा उतनी क्लिष्ट और सस्कृत-गर्भित नही है, जितनी कि वह साधारणत लिखते है। यह उपन्यास प्रेमचंद जी के 'सेवा-सदन' की श्रेणी का परंतु बहुत अंशो मे उस से अधिक सफल है।

## आलोचना

**हमारे साहित्य-निर्म्माता**—लेखक, श्रीयुत शांतिप्रिय द्विवेदी। प्रकाशक, ग्रंथ-माला-कार्यालय, बाँकीपुर, पटना। पृष्ठ-संख्या २०८। १९३५। मूल्य १)

श्री शातिप्रिय द्विवेदी हिंदी के सुपरिचित कवि है। इधर कुछ समय से आप आलोचनाएँ भी लिख रहे है। कई सामयिक पत्र-पत्रिकाओ मे, 'छायावादी' कहे जाने

वाले कवियो के संबध में आप के ८ निबध समय-समय पर प्रकाशित हो चुके है। इन्हे हिंदी पाठको ने पसद भी किया है। इस पुस्तक मे उसी प्रकार की सामग्री कुछ अधिक विस्तार के साथ प्रस्तुत की गई है। इस मे १४ ऐसे वर्तमान साहित्य-सेवियों तथा सेविकाओ पर आलोचनात्मक निबंध है, जिन्हो ने लेखक की समझ मे हमारे साहित्य की श्रीवृद्धि मे निश्चित और पर्याप्त सहयोग दिया है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, पडित अयोध्यासिह उपाध्याय, बाबू श्यामसुदरदास, पडित रामचंद्र शुक्ल, मुशी प्रेमचंद, बाबू मैथिलीशरण गुप्त, श्री जयशकर 'प्रसाद', राय कृष्णदास जी, श्री राधिकारमण प्रसाद सिंह, पडित माखनलाल चतुर्वेदी, पडित सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', श्री सुमित्रानदन पंत, श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान और श्रीमती महादेवी वर्मा—इन के सक्षिप्त जीवन-वृत्त तथा रचनाओ के परिचय इस पुस्तक मे दिए गए है। पुस्तक हाई स्कूल तथा कालिजो की प्रारंभिक कक्षाओ के विद्यार्थियो की आवश्यकताओ को ध्यान मे रख कर लिखी गई है, परतु इस से साधारण पाठक भी बहुत कुछ जानकारी प्राप्त कर सकेगे। निबंध रोचक है और वर्णित साहित्यिको का भावुकता-पूर्ण परिचय दिया गया है। परंतु यदि पाठक इन मे गहरे अनुसधान के पाने की आशा करेंगे तो उन की कदाचित् तुष्टि न हो सकेगी।

## चिकित्सा-शास्त्र

**मानसोपचार, शास्त्र एवं पद्धति**—लेखक, डाक्टर गोपाल भास्कर गणपुले और प्रोफेसर नारायण सीताराम फड़के। हिंदीकार, श्रीयुत सिद्धनाथ माधव आगरकर। प्रकाशक, डाक्टर गोपाल भास्कर गणपुले, ६६५, शुक्रवार पेठ, पूना सिटी। मूल्य ४)

पश्चिम मे मनोवैज्ञानिको ने पिछले पचीस वर्षो के भीतर 'साइको-एनेलिसिस' या 'मनोविश्लेषण' विषय पर बड़ा काम किया है, और अपनी खोज के परिणामो द्वारा जनता को व्यावहारिक रूप से लाभ पहुँचाने का प्रयत्न किया है। विशेष कर इन परिणामो का उपयोग रोग-शमन मे सहायता पहुँचाने मे किया गया है। मानसोपचार ('सजेस्टिव थेरापेटिक्स'), मोहनिद्रा ('हिप्नाटिज्म'), और स्वयं-सूचना ('आटो-सजेशन') विषयों पर हम चाहे तो एक छोटा सा पुस्तकालय एकत्र कर सकते है—पश्चिम मे इन विषयो पर इतने ग्रंथ निकल चुके हैं।

इन विषयो का अध्ययन पश्चिम में विशेष कर अमेरिका फ्रास जर्मनी और आस्ट्रिया मे इधर विशेष रूप से हुआ है, परतु यह बात सुविदित है कि मानसोपचार-क्रिया हिंदुस्तान में बहुत प्राचीन काल से उपयोग मे लाई जाती थी। डाक्टर गणपुले की पुस्तक की विशेषता यह है कि उन्हो ने न केवल अपने यहाँ के प्राचीन शास्त्रो का मनन किया है वरन् पश्चिम के मनोवैज्ञानिको की खोजो से भी पूर्णतया लाभ उठाया है। जिस समय यह पुस्तक लगभग चौदह वर्ष हुए मराठी भाषा मे प्रकाशित हुई थी उस समय इस के अन्य प्रतिष्ठित प्रशसको में स्वर्गीय लोकमान्य तिलक भी थे। श्रीयुत आगरकर ने इस पुस्तक का हिंदी अनुवाद करके हिंदी-भाषा-भाषियो का बडा उपकार किया है।

प्रस्तुत पुस्तक साढे छ सौ पृष्ठो का एक बृहत् ग्रथ है। इसे पढनेवाले सहज मे जान लेंगे कि लेखको का अपने विषय का ज्ञान गभीर है। डाक्टर गणपुले का मानसोपचार-सबधी निजी अनुभव लगभग आधी शताब्दी का है। पुस्तक मे शास्त्र एव पद्धति, दोनों ही वर्णित है।

पुस्तक सचित्र है। एक छोटी परंतु उपयोगी, पारिभाषिक शब्दो की सूची पुस्तक के साथ लगी हुई है। उपचार की ऐसी पद्धति का, जिस मे न वैद्यो की आवश्यकता हो न औषधियों की, हिंदुस्तान ऐसे गरीब देश मे स्वागत होना चाहिए।

## जीवन-चरित्र

**मुस्लिम सतों के चरित**—लेखक श्रीयुत श्रीगोपाल नेवटिया। प्रकाशक, हिंदी-मदिर, इलाहाबाद। मूल्य २)

किसी एक धर्म या वर्ग के महापुरुषो की कृतियो का, दूसरे धर्म या वर्ग की जनता के सामने उपस्थित करने का कार्य निस्संदेह एक प्रशसनीय कार्य है। हिंदुस्तान की वर्तमान स्थिति मे, इस प्रकार की पुस्तक विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होनी चाहिए। श्रीयुत श्रीगोपाल नेवटिया हिंदी के सुपरिचित लेखक है, और उन की गद्य-शैली सुदर है। इस पुस्तक मे उन्हो ने फ़ारसी के प्रसिद्ध ग्रंथ 'तजकिरतुल्-औलिया' या 'सतो के चरित्र' का अनुवाद प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक मे इतिहास-प्रसिद्ध मुस्लिम साधुओं और सूफियों के चरित्र एकत्र किए गए है। यदि अनुवादक महोदय

न सीधे फारसी ग्रथ से अनुवाद किया होता तो अच्छा होता इस फारसी ग्रथ के गुजराती तथा बगला भाषाओ म अनुवाद मौजूद थ . अनुवादक न इन गुजराती तथा बँगला अनुवादो की सहायता से हिंदी पुस्तक सकलित की है।

इस पुस्तक मे तीस मुस्लिम सतो के चरित्र दिए गए हैं। पुस्तक का दूसरा भाग प्रकाशित होने को है। 'तज़किरतुल्-औलिया' मे आए हुए शेष चरित्र इस दूसरे भाग मे दिए जायँगे।

---

## हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्० । मूल्य १।)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—लेखक, रायबहादुर महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा । सचित्र । मूल्य ३)

(३) कवि-रहस्य—लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा । मूल्य १।)

(४) अरब और भारत के संबंध—लेखक, मौलाना सैयद सुलैमान साहब नदवी । अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा । मूल्य ४)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० ( लंदन ) । मूल्य ६)

(६) जंतु-जगत—लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी० । सचित्र । मूल्य ६॥)

(७) गोस्वामी तुलसीदास—लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल । सचित्र । मूल्य ३)

(८) सतसई-सप्तक—संग्रहकर्ता, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास । मूल्य ६)

(९) चर्म बनाने के सिद्धांत—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी० । मूल्य ३)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट—संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । मूल्य १॥)

(११) सौर-परिवार—लेखक, डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ्० आर० ए० एस्० । सचित्र । मूल्य १२)

(१२) अयोध्या का इतिहास—लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । सचित्र । मूल्य ३)

(१३) घाघ और भड्डरी—संपादक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी । मूल्य ३)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री—संपादक, ठाकुर रामसिंह एम० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम० ए० । मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम० ए० । सचित्र । मूल्य ३)

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ । मूल्य ३॥) सजिल्द, ३) बिना जिल्द ।

(१७) हिंदी उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा । मूल्य सजिल्द १॥), बिना जिल्द १)

(१८) नातन—लेसिंग के जर्मन नाटक का अनुवाद । अनुवादक—मिर्जा अबुलफ़ज़्ल । मूल्य १।)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा, एम० ए० । मूल्य सजिल्द ४), विना जिल्द ३॥)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना । मूल्य सजिल्द ५॥), बिना जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजगोपाल भटनागर, एम० ए० । मूल्य ४॥) सजिल्द; ४) बिना जिल्द ।

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा ( २ भाग )—लेखक, श्रीयुत जयचंद्र विद्यालंकार । मूल्य प्रत्येक भाग का सजिल्द ५॥), बिना जिल्द ५)

(२३) भारतीय चित्रकला—लेखक, श्रीयुत एन० सी० मेहता, आई० सी० एस० । सचित्र । मूल्य बिना जिल्द ६), सजिल्द ६॥)

## हिंदुस्तानी

### तिमाही पत्रिका

की पहले चार वर्ष की कुछ फ़ाइलें अभी प्राप्त हो सकती हैं । मूल्य पहले वर्ष का ८) तथा अन्य वर्षों का ५) ।

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

सोल एजेंट

इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद

# हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ५ } जुलाई, १९३५ { अंक ३


# हिंदी का गद्य-साहित्य

## ( आरंभ से लेकर भारतेंदु हरिश्चंद्र तक )


[ लेखक—श्रीयुत नरोत्तमदास स्वामी, एम्० ए० ]


हिंदी भाषा का प्राचीन साहित्य मुख्यतया पद्य में लिखा हुआ है। प्राय सभी भाषाओं में पद्यात्मक साहित्य की रचना पहले आरभ होती है और प्रारंभ मे बहुत समय तक उसी का प्राधान्य रहता है। गद्य का प्रयोग बोलचाल में या साधारण अस्थायी साहित्य के लिए होता है। गद्य में लिखित बातो को याद रखने मे सुभीता नही होता, अत वे स्थायी नहीं रह सकती और न उन का विशेष प्रचार हो सकता है। इसी कारण सस्कृत और प्राचीन हिंदी में साधारण विषयो पर भी पद्य मे ही रचनाएँ की गई। गद्य मे जो कुछ साहित्य लिखा भी गया, वह अधिकांश प्रसिद्धि न प्राप्त करने के कारण नष्ट हो गया या कही अंधकार मे छिपा पड़ा है।

हिंदी मे गद्य-साहित्य की रचना को छापेखाने के प्रचार से ही प्रेरणा मिली और उसी के बाद उस की उन्नति हुई। छापेखाने का प्रचार भारतवर्ष में बहुत देरी से हुआ, इसी कारण यहाँ गद्य-साहित्य के अनवच्छिन्न विकास का युग भी देरी से आरंभ होता है।

फिर भी हिंदी का प्राचीन साहित्य गद्य मे शून्य नहीं है। प्राचीन-कालीन गद्य-रचनाओं के नमूने कहीं-कहीं सुरक्षित रह गए है; जिनमें से कुछ प्रकाश में आए हैं, और

बहुत से अधकार में पड़े है[१] इन्हीं के आधार पर गद्य के प्राचीन इतिहास का कुछ सक्षिप्त विवेचन यहाँ पर किया जायगा।

हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखको ने उस के विकास-काल को निम्न-लिखित चार भागो मे बाटा है —

(१) प्राचीन काल, सवत् १००० से १४०० तक

(२) पूर्व-माध्यमिक काल, सवत् १४०० से १७०० तक

(३) उत्तर-माध्यमिक काल, संवत् १७०० से १९०० तक

(४) आधुनिक काल, संवत् १९०० से अब तक

हम भी अपने विवेचन मे इसी काल-विभाग का अनुसरण करेंगे, केवल उत्तर-माध्यमिक काल की सीमा को सवत् १९२५ तक खींच ले आवेंगे। क्योकि आधुनिक काल का आरंभ हरिश्चंद्र के साथ मानना हमे अधिक युक्तिसगत प्रतीत होता है।

## प्राचीन काल

### ( १०००-१४०० )

इस काल मे साहित्यिक क्रिया-शीलता का केंद्र राजस्थान था। राजस्थानी भाषा का साहित्य मे प्राधान्य था। ब्रजभाषा और गुजराती अभी राजस्थानी से अलग नहो हुई थी। इस कारण इस काल की राजस्थानी एक व्यापक साहित्यिक भाषा थी। राजस्थानी मे मुख्यतया तीन प्रकार की रचनाए पाई जाती है—

(१) वीररसात्मक रचनाएं—इन के रचयिता चारण-भाट होते थे। वीररस के उपयुक्त ओजगुण लाने के लिए ये लोग अपनी रचनाओ में ऐसे शब्दो को अपनाते थे, जो सयुक्त या द्वित्त अक्षरो से बने होते थे। आगे चलकर तो शब्दो को ऐसा बनाने के

---

[१] हिंदी का प्राचीन गद्य-साहित्य इतना कम और इतना पोच नहीं है, जितना कि समझा जाता है। प्राचीन गद्य-रचनाओं की खोज की अभी बड़ी भारी आवश्यकता है। उन का प्रकाशन भी नितांत आवश्यक है। राजस्थान, मध्यभारत, मध्यप्रांत, बिहार, पंजाब आदि प्रांतों में तो अभी खोज का काम सम्यक् प्रकार से आरंभ ही नहीं हुआ। जब तक यह नहीं हो जाता तब तक हिंदी गद्य का सच्चा और पूरा इतिहास नहीं लिखा जा सकता।

लिए जान-बूझ कर उन की कपालक्रिया की जाने लगी। इस प्रकार की भाषा आगे चल कर डिंगल कहलाई।

(२) लोक-प्रिय रचनाए—इन के रचयिता ढाढी, ढोली आदि जातियों के लोग होते थे, जिन का व्यवसाय जनता को गा-बजाकर रिझाने का था। ये रचनाए जनता की बोल-चाल की भाषा में की जाती थी।

(३) जैन-धर्म संबंधी—इन के रचयिता जैन-साधु होते थे। इन की भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव विशेष पाया जाता है।

प्रथम दोनो प्रकार की रचनाएँ मुख्यतया मौखिक हो रहती थी, जिस से उन का रूप धीरे-धीरे बदलता जाता था। इस समय उन का तत्कालीन रूप मे प्राप्त होना असंभव-सा है। जैन-लेखकों की रचनाए मुख्य करके लिखित होती थी, और आज भी उन में से बहुत-सी उपलब्ध है। इन में अनेक गद्य मे है। एकाध उदाहरण आगे दिए जाते है।[1]

इस काल के हिंदी-गद्य के उदाहरण प्राय नहीं मिलते, परंतु सच पूछा जाय तो एतत्कालीन साहित्य की अभी पर्याप्त खोज हुई ही नही। साहित्यिक कृतियो के अतिरिक्त इस काल के अनेक शिलालेख भी राजस्थान में स्थान-स्थान पर मिलते है, जिन मे से कई-एक तत्कालीन बोल-चाल की भाषा मे लिखे गए है।

स्वर्गीय मोहनलाल विष्णुलाल पण्डया ने कई पट्टे-परवाने प्रकाशित करवाए थे, जिन्हे वे पृथ्वीराज चौहान के समय के मानते थे। कई अन्यान्य विद्वान् भी उन से सहमत है, और वे इन परवानो की भाषा को हिंदी-गद्य के सर्व-प्रथम उदाहरण मानते है। परतु उन की प्रामाणिकता मे पूरा संदेह है। उन की भाषा ही स्पष्ट कह रही है कि वे उस काल के नही। महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशकर हीराचंद ओझा आदि अनेक इतिहासज्ञ विद्वान् उन्हें जाली समझते है।[2] जाली न भी हों तो भी इस मे कोई सदेह नही कि वे बहुत बाद के है। उन की भाषा और लिपि-पद्धति बहुत अर्वाचीन है।

---

[1] परिशिष्ट में देखो।

[2] नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, नवीन संस्करण, भाग १, में ओझा जी का 'अनंद विक्रम संवत्‌की कल्पना' नामक निबंध।

# पूर्व-माध्यमिक काल

## ( १४००-१७०० )

इस काल मे साहित्य-केंद्र राजस्थान से हटकर ब्रजमडल और काशी जा पहुँचा। राजस्थानी का प्राधान्य नष्ट हो गया और वह सार्वत्रिक साहित्यिक भाषा नही रह गई। उस का स्थान व्रज ने लिया। अवधी भी आगे आई, पर व्रज ने उसे दबा दिया। व्रजभाषा के इस महत्व का कारण उस काल का धार्मिक उत्थान है।

यद्यपि व्रज ने राजस्थानी को उस के पद से हटा दिया, पर गद्य-साहित्य की दृष्टि से राजस्थानी का ही प्राधान्य रहा। व्रज ने गद्य में कुछ भी उन्नति न की। उधर राजस्थानी मे गद्य की नदी-सी उमड़ पडी, जो आधुनिक काल के प्रारभ तक निरतर प्रवाहित रही। पूर्व-माध्यमिक काल से राजस्थान के विभिन्न राज्यो की ख्याते (इतिहास) बराबर लिखी जाने लगी। ऐतिहासिक, अर्धैतिहासिक और काल्पनिक कथा-साहित्य का तो प्रवाह ही बह चला। अभाग्यवश राजकीय परिवर्तनो के कारण तथा अन्यान्य कारणो से यह साहित्य सुरक्षित न रह सका। कुछ बिखर गया, बहुत नष्ट होगया। राज्यो की ख्याते, लिखनेवालो या उस विभाग के अधिकारियो की निजी सपत्ति बनकर विस्मृति के गर्त्त मे जा पडी। परंतु इस काल मे जैन विद्वानो ने जो गद्य-ग्रंथ निर्माण किए उनमें से अधिकाश रक्षित रह गए हैं और उन का परिमाण कम नही है। इन का सुव्यवस्थित अनुसंधान और प्रकाशन नितात आवश्यक है। इस के बिना हिंदी गद्य के विकास का इतिहास अपूर्ण ही रहेगा।

इस काल मे मुसलमान-साम्राज्य के समस्त भारत मे फैल जाने के कारण खड़ीबोली का प्रसार सारे देश मे हो गया और धीरे-धीरे वह राष्ट्रभाषा-सी बन गई। मुसलमानो ने भारत में आने पर खड़ीबोली को ही अपनाया था और आगे चलकर वे उस मे साहित्य-रचना करने लगे। पहले उन की रचनाओ की भाषा शुद्ध होती थी, पर बाद मे अरबी-फारसी शब्दो की भरमार होने लगी और भाव-व्यंजना पर भी फ़ारसी शैली का प्रभाव पड़ने लगा। इस प्रकार खड़ीबोली उर्दू मे परिवर्तित हो गई। उर्दू के विकास का इतिहास हिंदी के विकास से भिन्न है। विभिन्न प्रांतो के पारस्परिक व्यवहार की भाषा खड़ीबोली होने पर भी हिंदू लेखको ने उस ओर ध्यान न दिया। वे राम-कृष्ण की जन्मभूमि की भाषाओ

—ब्रज और अवधी म ही मग्न रहे यदा-कदा खड़ीबोली म लिखन वाले लेखक भी हुए, जिन की रचनाओ का पता चला है, पर उन मे से अधिकांश का सबध किसी न किसी शाही दरबार से था, जैसे गगाभाट और जटमल।

इस काल के गद्य-लेखको और गद्य-रचनाओ का उल्लेख नीचे किया जाता है:—

## ( क ) ब्रजभाषा का गद्य

(१) **गोरखनाथ**—[1]कहते है कि स० १४०७ के लगभग गोरखनाथ हुए, जिन्हो ने पहले पहल ब्रजभाषा में गद्य-रचना की। कुछ पुस्तकें मिलती है, जो गोरखनाथ की लिखी बताई जाती है। परतु गोरखनाथ का समय स० १००० से पूर्व ही है, यह नवीन खोजो से सिद्ध हो चुका है[2], अत. ये गोरखनाथ की कृतियाँ नही हो सकती। सभव है कि ये गोरखनाथ के शिष्यों की लिखी हुई हो और उन के नाम से प्रसिद्ध कर दी गई हो। फिर भी इन रचनाओ की जो हस्त-लिखित प्रतियाँ मिली है वे इतनी पुरानी नही है, अतएव यह सदिग्ध ही है कि ये कृतियाँ इन प्रतियो में अपने मूल-रूप में पाई जाती है।

(२) **विट्ठलनाथ**—ये सुप्रसिद्ध महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुत्र और उत्तराधिकारी थे। अष्टछाप के विधाता यही महाशय थे। इन्हो ने 'शृंगार-रस-मंडन' नामक ग्रंथ ब्रजभाषा के गद्य मे लिखा है। इस ग्रथ की भाषा विशुद्ध ब्रज है।

(३) **गोकुलनाथ**—ये उक्त विट्ठलनाथ के पुत्र थे। इन का समय १६२५ से १६५० के आस-पास है। ब्रजभाषा के गद्य में इन्हो ने तीन ग्रंथ लिखे, जिन में से पहले दो बहुत प्रसिद्ध है—

१—'चौरासी वैष्णवन की वारता';

२—'दो सौ बावन वैष्णवन की वारता', और

३—'वनयात्रा'।

---

[1] मिश्रबंधुविनोद, नवीन संस्करण, भाग १, पृष्ठ २११

[2] नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, नवीन संस्करण, भाग ११, में श्रीपीतांबरदत्त बड़थ्वाल का 'हिंदी कविता में योग-प्रवाह' नामक निबंध तथा गंगा, भाग ३, अंक १ (पुरातत्त्वांक), में श्रीराहुल सांकृत्यायन का 'मंत्रयान, वज्रयान और चौरासी सिद्ध' नामक निबंध।

इन की रचनाएं ब्रजभाषा-गद्य के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। लिखने का उद्देश्य साहित्यिक न होने के कारण भाषा बोल-चाल की, स्वाभाविक और सुबोध है एवं उस का रूप विशुद्ध, व्यवस्थित और परिष्कृत है। उर्दू आदि अन्य भाषाओं के बोलचाल के शब्द उस में स्थान-स्थान पर प्रयुक्त हुए है।

(४) **नंददास**—ये अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि है। इन के 'विज्ञानार्थ-प्रवेशिका' और 'नासिकेत-पुराण भाषा' नामक ब्रजभाषा के दो गद्य-ग्रंथ खोज मे पाये गए है।

(५) **नाभादास**—भक्तमाल वाले प्रसिद्ध कवि। इन्हो ने संवत् १६५७ मे 'अष्टयाम' नाम की पुस्तक लिखी।

(६) **तुलसीदास**—प्रसिद्ध महाकवि। इन का संवत् १६६९ का लिखा हुआ एक पंचनामा सुरक्षित है, जो (ब्रज में नही, किंतु) काशी की ओर की बोल-चाल की भाषा मे लिखा गया है।

(७) **बनारसीदास**—ये जैनमतावलंबी बड़े कवि हुए हैं। इन का लिखा हुआ गद्य भी मिला है।

(८) **भुवनदीपिका**—सं० १६७१ की लिखी हुई एक पुस्तक मिली है।

(९) **वैकुंठमणि शुक्ल**—इन का समय १६७५-१६८४ के लगभग है। ये ओरछा के महाराज जसवंतसिंह के दरबार मे थे। इन्हो ने 'वैशाख-माहात्म्य' और 'अगहन-माहात्म्य' नामक ग्रंथ लिखे। इन की भाषा पर खड़ीबोली का पर्याप्त प्रभाव है।

(१०) **विष्णुपुरी**—इन्हो ने संवत् १६९० मे 'भक्तिरत्नावली' का गद्यानुवाद किया। यह ग्रंथ काफी बड़ा है।

## (ख) खड़ीबोली का गद्य

(१) **गंगाभाट**—ये अकबर के दरबार मे थे। इन की 'चन्दछन्द बरननकी महिमा' नामक पुस्तक प्रसिद्ध है। यह ब्रज-मिश्रित खड़ीबोली मे है। खड़ीबोली के गद्य का सर्व-प्रथम उदाहरण यही माना जाता है।

(२) **जटमल**—कहते है कि जटमल ने संवत् १६८० के लगभग खड़ीबोली के गद्य मे 'गोरा-बादल की बात' नामक पुस्तक लिखी, पर अनुसंधान से ज्ञात हुआ है कि यह कथन ठीक नही। जटमल की उक्त रचना गद्य मे नही किंतु पद्य मे

है।[1] इसी का अनुवाद स० १८८० के लगभग किसी ने गद्य में किया। हिंदी-साहित्य के इतिहासों में जो उदाहरण दिए जाते है, वे जटमल की मूल रचना के नही, किंतु इसी अनुवाद के है।

## ( ग ) राजस्थानी का गद्य[2]

राजस्थानी मे इस काल में बहुत-सी गद्य-रचनाएं हुई, जिन मे से अधिकांश तो असावधानी से नष्ट हो गई। फिर भी जो कुछ बची है, वे तत्कालीन समृद्धि की सूचना देने के लिए पर्याप्त है। अधिकांश रचनाएं 'ख्यातों' या 'बातों' (अर्द्धैतिहासिक और ऐतिहासिक कथाओ) के रूप मे है। उन के लेखकों के नाम नष्ट हो चुके है। कुछ उदाहरण आगे दिए जाते है। इन के अतिरिक्त जैन-लेखको की अनेक रचनाएँ है, जिन की खोज अभी बाकी है। यदि राजस्थान मे लिखित गद्य की पूरी खोज हो जाय तो हिंदी का यह कलक सर्वथा धुल जाय कि उस का प्राचीन साहित्य गद्य से शून्य है। राजस्थान मे गद्य-लेखन की अखड परपरा प्राचीन अपभ्रंशकाल से इस शताब्दि के आरभ तक बराबर जारी रही और यह गद्य अत्यत उच्च कोटि का है, इस में कुछ भी संदेह नही।

# उत्तर-माध्यमिक काल

## ( १७००-१९०० )

इस काल के अधिकाश भाग मे ब्रजभाषा का ही प्राधान्य रहा, पर कोई महत्वपूर्ण गद्य-रचना उस मे नही हुई। अनेक टीकाकार इस काल मे हुए, जिन्हों ने अपनी टीकाएँ ब्रज मे लिखी, पर उन की भाषा बडी ही अव्यवस्थित और बेठिकाने की है। उन की गणना साहित्य मे नही की जा सकती।

---

[1] नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, भाग १४, अंक ४ मे, वर्तमान लेखक का लिखा हुआ 'जटमल की गोरा-बादल की बात, क्या वह गद्य में है', नामक लेख, तथा विशाल-भारत के दिसंबर, १९३३ के अंक में श्री पूर्णचंद्र नाहर का 'कुएँ भाँग' नामक लेख। इस कथा का सुसंपादित संस्करण तय्यार है और वह शीघ्र ही प्रकाशित होगा। सं० १८८१ का गद्यानुवाद भी साथ मे होगा।

[2] राजस्थानी के गद्य-साहित्य के इतिहास पर एक स्वतंत्र निबंध वांछित है इस लिए राजस्थानी के गद्य-लेखको अथवा गद्य-कृतियों का उल्लेख इस निबंध में नहीं किया गया है। कुछ थोड़े-से उदाहरण नमूने के तौर पर परिशिष्ट में दिए गए है।

इस काल मे राजस्थानी अपनी अलग उन्नति करती रही। उस का एतत्कालीन गद्य-साहित्य बहुत विस्तृत है और बहुत-कुछ सुरक्षित भी है। यह साहित्य अधिकाश ऐतिहासिक और कल्पनात्मक कथा-कहानियो वाला है। राजस्थानी लेखको ने व्रजभाषा मे भी बहुत-कुछ लिखा, और कई महत्वपूर्ण ग्रथ व्रज मे या पूर्वी-राजस्थानी-मिश्रित व्रज मे लिखे हुए मिले है, जिन मे सब से अधिक महत्वपूर्ण अबुल-फजल की आईने-अकबरी का अनुवाद है। यह ७०० बडे-बडे पृष्ठों का वृहत् ग्रंथ है और व्रजभाषा की सब से बडी रचना है। इस का गद्य प्रौढ और उच्च कोटि का है।

इस काल के अतिम भाग मे खडीबोली की ओर भी लोगो का ध्यान गया और कई अच्छी रचनाए उस मे हुईं। इन मे पहले महत्वपूर्ण लेखक मुन्शी सदासुखलाल हैं। उन के बाद इंशाअल्ला खा, लल्लूलाल तथा सदल मिश्र हुए। लल्लूलाल और सदल मिश्र ने अग्रेजो के आश्रय मे लिखा। इन्ही के समकालीन राजा राममोहनराय हुए[1] जिन्हो ने खड़ीबोली मे भी रचना की और एक समाचार-पत्र भी निकाला[2]। इसी समय मे जुगलकिशोर शुक्ल ने हिंदी का सब से पहला समाचार-पत्र कलकत्ते से निकाला[3]। ईसाइयो ने भी खडीबोली को धर्म-प्रचार के लिए अपनाया और उन्हों ने अपने धर्म-ग्रथो का अनुवाद उस मे किया। शिक्षा का प्रचार होने से पाठ्य-पुस्तको की आवश्यकता हुई और ईसाई-संस्थाओ ने एक-एक करके बहुत सी पाठ्य-पुस्तके प्रकाशित कीं। यह क्रम इस काल के अत तक बराबर चलता रहा। इस काल के अंतिम वर्षो मे राजा शिवप्रसाद सितारे-हिंद, राजा लक्ष्मणसिंह, स्वामी दयानन्द आदि खड़ीबोली के गद्य-लेखक हुए राजा शिवप्रसाद की कृपा से हिंदी को शिक्षा-विभाग मे स्थान मिला और हिंदी गद्य-लेखन को इस से बड़ा भारी प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार सदासुखलाल से जो गद्य-लेखन-परपरा आरभ हुई वह बराबर चलती गई, आगामी काल मे छापेखाने के विशेष प्रचार से तथा शिक्षा-विभाग मे हिंदी का प्रवेश हो जाने से गद्य की और वेग से उन्नति होने लगी। हिंदू

---

[1] 'विशाल-भारत', भाग १२, संख्या ६, में हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'राजा राममोहनराय की हिंदी' नामक लेख।

[2] 'विशाल-भारत', भाग ७, संख्या २, में पृष्ठ १९२

[3] वही, भाग ७, संख्या २-३-४, में व्रजेंद्रनाथ बनर्जी का 'हिंदी का प्रथम समाचारपत्र' नामक निबंध।

लेखकों का ध्यान अब तक खड़ीबोली की ओर कम था या यों कहिए नहीं था, पर शिक्षा-विभाग में हिंदी के प्रवेश ने तथा अन्यान्य प्रांतों के पारस्परिक व्यवहार की आवश्यकता ने उन को भी खड़ीबोली की ओर खींच लिया। ब्रजभाषा पहले ही गद्य-लेखनोपयोगी नहीं हो सकी थी और राजस्थानी में प्रचुर गद्य होते हुए भी वह केवल राजस्थान और मध्यभारत के कुछ हिस्सों तक ही सीमित थी, इस लिए जब खड़ीबोली गद्य के लिए उठ खड़ी हुई तो उस के ग्रहण करने में कोई संकोच या विरोध नहीं हुआ। धीरे-धीरे वह शिष्ट समाज की बोली हो गई, जिस कारण (और राजस्थानी जनसाधारण की बोली रह गई और धीरे-धीरे गँवारी समझी गई इस लिए) वह राजस्थानी पर भी हावी हो गई और राजस्थानी विद्वानों और लेखकों ने भी खड़ीबोली को बड़े उत्साह के साथ अपना लिया।

[1]हिंदी के इतिहासकारों का मत है कि इस काल में संवत् १८५०-६० के लगभग उपर्युक्त चार लेखकों द्वारा खड़ीबोली में गद्य-लेखन की प्रतिष्ठा तो हुई, पर उस की अखंड परंपरा उस समय से नहीं चली। पर यह कथन ठीक नहीं जान पड़ता। संवत् १८६० के बाद संवत् १९०० तक बराबर गद्य-रचनाएँ होती रही हैं, जिन में से अनुसंधानों द्वारा बहुत-सी धीरे-धीरे प्रकाश में आ रही हैं। अवश्य ही हिंदू कवियों ने इस ओर कम ध्यान दिया, पर यह बात नहीं कि नहीं दिया। हिंदी के प्रारंभिक समाचार-पत्र भी इसी काल में निकले। छापेखाने का विशेष प्रचार न होने से यह परंपरा इस काल में उस वेग से अवश्य ही अग्रसर नहीं हो सकी, जैसी कि आगामी काल में हुई।

इस काल के कुछ महत्त्वपूर्ण गद्य-लेखकों और गद्य-रचनाओं का उल्लेख आगे किया जाता है।

## ( क ) ब्रजभाषा का गद्य

(१) **मनोहरदास निरंजनी**—इन का समय संवत् १७०७ के लगभग है। ये राजस्थान के निवासी थे। इन्हों ने गद्य में कई पुस्तकें लिखी हैं।

---

[1] (१) रामचंद्र शुक्ल, 'हिंदी-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ४९६
(२) कृष्णशंकर शुक्ल, 'आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ १२९

(२) **हेमराज पाडे**—इन का समय सं० १७०९ है मिश्रबंधुओ ने इन्हें गद्य हिंदी के अच्छे लेखक बताया है।

(३) **दामोदरदास दादूपंथी**—ये भी राजस्थान के रहने वाले थे। इन्हो ने संवत् १७१५ के लगभग 'मारकंडेय पुराण भाषा' लिखा।

(४) **भगवान मिश्र मैथिल**—इन का सं० १७६० का लिखा हुआ एक शिलालेख बस्तर राज्य के दँतवारा गाँव में मिला है। इस की भाषा ब्रज नहीं किंतु पूरबी है।

(५) **नासकेतोपाख्यान**—संवत् १७६४ के पूर्व की रचना। लेखक का नाम अज्ञात है। इस की एक प्रति संवत् १७६४ की मिली है।

(६) **सूरति मिश्र**—इन का समय १७६७ के आस-पास है। कई टीकाओ के अतिरिक्त इन्हो ने 'बेताल-पचीसी' ब्रजभाषा के गद्य मे लिखी।

(७) **भोगलपुराण**—संवत् १७६२ के पूर्व की एक रचना, जिस में सृष्टि की उत्पत्ति का हाल है।

(८) **अग्रनारायण दास**—इन्हो ने संवत् १८२९ मे 'भक्तमाल-प्रसंग' की रचना की।

(९) **रामचरणदास**—इन का रचना-काल संवत् १८४४ है।

(१०) **आईने-अकबरी की भाषा वचनिका**—जयपुर-नरेश सवाई प्रतापसिंह जी की आज्ञा से लाला हीरालाल ने संवत् १८५२ में लिखी (२५३ पन्ने)।

(११) **हितोपदेस ग्रंथ ग्वालेरी (ग्वालियर की) भाषा में**—इस का रचनाकाल १८९० से पूर्व का है (७८ पन्ने)।

(१२) **सरदार कवि**—समय संवत् १९०० के आस-पास। इन्हो ने बहुत-सी टीकाएँ लिखी।

इन के अतिरिक्त टीकाकार गद्य-लेखक बहुत से हुए। 'बिहारी-सतसई' पर ही दर्जनो टीकाएँ इस काल मे लिखी गईं, पर उन का गद्य व्यावहारिक नहीं, अतः उन की गणना साहित्य में नहीं हो सकती। इन टीकाओ का नामोल्लेख अनावश्यक है।

विशेष-खोज करने से राजस्थान में इस काल के सैकडो ग्रंथ ब्रजभाषा के गद्य में लिखे हुए मिलेंगे। इन मे से अनेक ग्रंथ बहुत बड़े-बड़े और साहित्यिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। जब तक उन की खोज हो कर उन का विवरण प्रकाशित न हो जाय तब

तक प्राचीन हिंदी गद्य का इतिहास अधूरा ही रहेगा।[1]

## ( ख ) राजस्थानी का गद्य

(१) **मुहणोत नैणसीरी ख्यात**—मुहणोत नैणसी का समय विक्रम की अठारहवी शताब्दी का पूर्वार्ध है। यह ख्यात एक सुप्रसिद्ध बृहत् इतिहास-ग्रंथ है, जिस मे उस समय तक का राजस्थान का इतिहास विस्तार से दिया है। इस की भाषा बडी ही प्रौढ और प्राजल है। राजस्थानी भाषा-शैली के लिए यह अत्यत प्रामाणिक रचना है। इस का हिंदी-अनुवाद नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हुआ है।

(२) **खिड़िया जग्गो**—इन्हो ने राजस्थानी मे 'राव रतन महेसदासोतरी बचनिका' नामक ग्रथ लिखा। 'वचनिका' उस गद्य को कहते है जिस मे तुक मिलाई जाती हो और बीच-बीच मे पद्य भी रहता हो। इस की भाषा भी प्रौढ है। रचनाकाल सं० १७१५ है।

(३) **बाँकीदास**—इन का समय सवत् १८३८ से १८९० तक है। ये जोधपुर के महाराज मानसिह जी के दरबार मे थे। इन की 'आसिया चारण बाँकीदासरी ऐतिहासिक बातॉ' नामक पुस्तक मे ऐतिहासिक कथाओ और कहानियो का बड़ा संग्रह है। भाषा की दृष्टि से यह ग्रथ भी अत्यत महत्त्वपूर्ण है।

(४) **जोधपुर रा राठोडॉ री ख्यात**—अठारहवी शताब्दी के पूर्वार्ध की रचना।

ये चार नाम केवल उदाहरणार्थ दिए गए है।[2] इन की भाँति की सैकडो 'ख्याते' और हजारो 'बाते' राजस्थानी गद्य मे लिखी हुई मिलती है। सब का उल्लेख करना असभव है। जो सज्जन विशेष जानना चाहे, वे डॉक्टर एल्० पी० टैसिटरी साहब के

---

[1] हर्ष की बात है कि इस दिशा में कार्य आरंभ हो गया है। राजस्थान के सुप्रसिद्ध दानवीर सेठ श्रीघनश्यामदास बिड़ला की उदारता से पिलाणी में राजस्थानी भाषा और साहित्य की खोज तथा प्रकाशन का कार्यालय स्थापित हो चुका है और अनेक विद्वानो की देखरेख में उस का कार्य हो रहा है। पिलाणी-राजस्थानी-सीरीज नामक ग्रंथमाला का प्रकाशन भी आरंभ हो गया है।

[2] राजस्थानी गद्य-साहित्य का विवेचन एक स्वतंत्र निबंध में किया जा रहा है जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

बनाए सूचीपत्र देखें [1]

## ( ग ) खड़ीबोली का गद्य

(१) **मंडोवर का वर्णन**—किसी अज्ञात राजस्थानी लेखक द्वारा कोई १५०-२०० वर्ष पूर्व लिखित।

(२) **चकत्ता की पातस्याही की परम्परा**—किसी अज्ञात लेखक द्वारा संवत् १८१० के लगभग लिखित। इस की पृष्ठ-संख्या १०० बताई जाती है।[2]

(३) **कुलबदी साहिजादे री बात**—संवत् १८४७ के पूर्व की एक रचना। इस की भाषा राजस्थानी-मिश्रित खड़ीबोली है।

(४) **मुंशी सदासुखलाल नियाज़** (१८०३-१८८१)—ये दिल्ली के रहने वाले थे। इन्हों ने उर्दू-फारसी में बहुत-सी पुस्तकें लिखीं और हिंदी में श्रीमद्भागवत का स्वतंत्र अनुवाद 'सुखसागर' नाम से किया। इन की भाषा काशी के आस-पास के तत्कालीन शिष्ट-समाज के बोल-चाल की खड़ीबोली है, जैसी उधर के पुराने ढंग के पंडित आदि लोग अब भी बोलते हैं। दिल्ली-निवासी होने पर भी उन की रचनाओं में अरबी-फारसी शब्द नहीं पाए जाते, पर संस्कृत के तत्सम शब्द स्थान-स्थान पर मिलते हैं। पंडिताऊ प्रयोग भी मिलते हैं, जैसे कि प्रयाग और काशी के पंडित बोलते चले आए हैं।

(५) **इंशा अल्ला खाँ**—ये उर्दू के बहुत प्रसिद्ध शायर थे और कई शाही दरबारों में रहे। संवत् १८५५ और १८६० के बीच[3] इन्हों ने हिंदी में 'उदयभान-चरित' या 'रानी केतकी की कहानी' नामक पुस्तक लिखी। इन्हों ने बाहर की बोली (अरबी-फारसी आदि) गँवारी (देहाती बोलियाँ) और भाखापन से रहित विशुद्ध हिंदवी में अपनी कहानी लिखने का प्रयत्न किया। परंतु प्रयत्न करने पर भी कई स्थानों पर फारसी ढंग का वाक्य-विन्यास आ ही गया है। इन की भाषा चटक-मटक वाली, मुहावरेदार और चलती है। उस में उर्दू कवियों की-सी चुलबुलाहट पाई जाती है। लल्लूलाल की

---

[1] 'बार्डिक ऐंड हिस्टारिकल सर्वे अव् राजपूताना', भाग ३, एशियाटिक सोसाइटी अव् बंगाल द्वारा प्रकाशित।

[2] 'सम्मेलन-पत्रिका', नवीन संस्करण, भाग २, अंक १, पृष्ठ ११

[3] अन्य मतानुसार १८५२ से १८५५ के बीच में।

तरह सानुप्रास विराम (वाक्यों के अंत में तुक मिलना) भी कहीं-कहीं पाए जाते हैं।[1]

(६) **लल्लूलाल**––(१८२०-१८८२) ये आगरे के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे। बाद में कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज में नौकर हुए। कालेज के अध्यक्ष जान गिलक्रिस्ट साहब की आज्ञा से इन्हों ने भागवत के दशम स्कंध की कथा को लेकर 'प्रेमसागर' नामक ग्रंथ लिखा। इस प्रेमसागर का मुख्य आधार चतुर्भुजदास कृत दशम-स्कंध का पद्यानुवाद है, जो ब्रज में लिखा गया था। इसी कारण इन की भाषा में ब्रजभाषा का प्रभाव बहुत है और उस में स्थान-स्थान पर कृत्रिमता झलकती है। अरबी-फारसी शब्दों को बचाने का पूरा प्रयत्न किया गया है। जगह-जगह तुकबंदी पाई जाती है। इस प्रकार इन की भाषा कथा-व्यासों की-सी हो गई। वह नित्य के व्यावहारिक प्रयोग के लिए उपयोगी नहीं सिद्ध हुई। इन्हों ने प्रेमसागर के अतिरिक्त और भी कई पुस्तकें लिखीं, जिन में अधिकांश उर्दू में हैं। ब्रजभाषा-गद्य में भी 'राजनीति' नाम से 'हितोपदेश' की कुछ कहानियों का अनुवाद, पद्य के आधार पर लिखा।

(७) **सदल मिश्र**––ये बिहार-निवासी थे। लल्लूलाल की भाँति इन्हों ने भी फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों की प्रेरणा से हिंदी-गद्य में 'चंद्रावती' या 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। इस की और 'प्रेमसागर' की भाषा में बड़ा अंतर है। साफ-सुथरी न होने पर भी इस की भाषा व्यवहारोपयोगी है। उस में उर्दू शब्दों को बचाने का प्रयत्न नहीं किया गया है और मुहावरों का भी प्रयोग हुआ है, जिस से भाषा में जान आ गई है। ब्रज के प्रयोग भी कई स्थानों पर आए हैं और कहीं-कहीं पूरबी की झलक भी मिलती है, जो इन के लिए स्वाभाविक ही थी।

ये चार लेखक आधुनिक खड़ीबोली-गद्य के जन्मदाता समझे जाते हैं। इन में भी मुंशी सदासुखलाल और सदल मिश्र की भाषा आधुनिक भाषा के अधिक निकट है। उस में आधुनिक गद्य का पूर्वाभास मिलता है। लल्लूलाल की भाषा कृत्रिमता-पूर्ण है, क्योंकि वह मुख्यतया पद्य का गद्यानुवाद मात्र है। इन की और इंशाअल्ला खाँ की भाषा

---

[1] इस प्रकार के अत्यानुप्रास वाले गद्य को राजस्थानी में वचनिका कहते हैं। यह लेखन-प्रथा बहुत प्राचीन है। परिशिष्ट में सं० १३३० और १४७८ के उदाहरण देखिए।

काव्यरचना या कहानियो के लेखन के उपयक्त हो सकती ह पर व्यवहारो पयोगी नही

(८) **बाइबिल का अनुवाद**—ईसाइयो ने संवत् १८६६ मे बाइबिल के नए धर्म-नियम (न्यू टेस्टामेंट) का और संवत् १८७५ मे पूरी बाइबिल का अनुवाद प्रकाशित किया। इस अनुवाद मे ठेठ बोल-चाल के हिंदी शब्दो को विशेप रूप से स्थान दिया गया है, पर उर्दू शब्द बचाए गए हैं। उस की भापा पर 'प्रेमसागर' का भी थोडा-बहुत प्रभाव कही-कही पाया जाता है।

इस के बाद ईसाइयो द्वारा पुस्तकें और पुस्तिकाएँ बराबर निकलती रही। शिक्षा-लयो मे पाठ्य-पुस्तको की आवश्यकता होने पर इन्हो ने बहुत-सी ऐसी पुस्तके प्रकाशित करवाई।

(९) **गोरा बादल की बात का गद्यानुवाद**—सवत् १८८१ के कुछ काल पूर्व सभवत किसी अग्रेज अफ़सर की प्रेरणा से जटमल की 'गोरा-बादल री बात' का गद्या-नुवाद तय्यार करवाया गया। इस का लेखक कोई मध्य-भारत या राजस्थान का निवासी था, जिस से इस अनुवाद की भापा मे राजस्थानी का प्रभाव बहुत पाया जाता है। हिंदी के ऐतिहासिकों ने भ्रमवश इसे सत्रहवी शताब्दी की रचना मान रक्खा है। इस की भापा बोल-चाल की है और उस मे उर्दू शब्दो का पर्याप्त प्रयोग हुआ है।

(१०) **राजा राममोहन राय**—ये सुप्रसिद्ध बगीय नेता है। कहते है कि इन्हो ने सवत् १८७२ के लगभग वेदात-सूत्रो का हिंदी-अनुवाद लिख कर प्रकाशित करवाया था। क्षितीश बाबू ने इस ग्रथ की एक प्रति मिर्ज़ापुर में किसी गृहस्थ के यहाँ देखी थी। इन के लिखे हुए हिंदी-गद्य के और भी कई नमूने मिलते है। भाषा पर बगला और राज-स्थानी का प्रभाव पाया जाता है और वह पडिताऊ ढग की है। उस मे तत्सम शब्दो की भरमार है, जिस का कारण विषय की दार्शनिकता है. राजा साहब ने सवत् १८८६ मे 'बगदूत' नाम का एक समाचार-पत्र भी हिंदी मे प्रकाशित करना आरभ किया था।[१]

(११) **जुगलकिशोर शुक्ल**—ये कानपुर-निवासी थे और कलकत्ते में रहते थे। सवत् १८८३ मे इन्हो ने कलकत्ते से 'उदंत-मार्तंड' नाम का समाचार-पत्र निकाला,

---

[१] 'विशालभारत', भाग १२, अंक ६, तथा भाग ७, अंक २, पृष्ठ १९२

जो हिंदी का सर्व-प्रथम समाचार-पत्र है। इस की भाषा पर भी कहीं-कहीं बगला का प्रभाव है। उर्दू और अग्रेजी के प्रचलित बोल-चाल के शब्द उस मे खूब प्रयुक्त हुए है।[1]

(१२) **राजा शिवप्रसाद सितारे-हिंद**—ये हिंदी के बडे भारी प्रेमी थे और इन्ही के उद्योग से हिंदी को सयुक्त प्रात के शिक्षा-विभाग में स्थान मिला। इन्हों ने संवत् १९०२ मे 'बनारस-अखबार' नाम का एक समाचार-पत्र निकाला। उस समय अदालतो आदि की भाषा उर्दू होने के कारण ज्यादातर पढे-लिखे लोग उर्दू-दाँ ही होते थे, इस लिए इस पत्र की भाषा भी बहुत-कुछ उर्दू ही रक्खी गई। सवत् १९१३ मे राजा साहब शिक्षा-विभाग मे इस्पेक्टर के पद पर नियुक्त हुए। सवत् १९११ मे भारत-मंत्री सर चार्ल्स वुड ने अपनी शिक्षा-सबधी जो योजना भारतवर्ष मे भेजी थी उस के अनुसार देशी भाषाओ को भी पाठ्यक्रम मे स्थान दिया गया। उस समय संयुक्त-प्रांत मे अदालती भाषा उर्दू थी इस लिए सरकार ने स्कूलो मे भी उसे ही स्थान दिया। हिंदी की ओर कोई ध्यान नही दिया गया। राजा साहब ने हिंदी के लिए बड़ा भारी प्रयत्न किया और मुसलमानो के घोर विरोध करने पर भी उन्हे सफलता मिली और हिंदी को भी स्कूलों में स्थान मिला। हिंदी को शिक्षा-विभाग मे स्थान मिलने पर पाठ्य-पुस्तको की आवश्यकता हुई। राजा साहब ने स्वय बहुत-सी पाठ्य-पुस्तके लिखी और दूसरो से भी लिखवाई। यदि उस समय शिक्षा-विभाग में हिंदी को स्थान न मिला होता तो उस की इतनी प्रगति होती इस में सदेह है। हिंदी के अदालती भाषा हो जाने पर भी आज अदालतो में उर्दू का ही बोल-बाला है पर राजा साहब की कृपा से शिक्षाविभाग में हिंदी उर्दू से किसी अश मे पीछे नही है। इस प्रकार राजा साहब ने हिंदी का जो उपकार किया उस से वह कभी उऋण नही हो सकती। राजा साहब की रचनाओं की भाषा आरंभ मे बोलचाल की सरल हिंदी होती थी जिस मे प्रति दिन व्यवहार मे आने वाले उर्दू शब्दो का भी प्रयोग होता था। क्या ही अच्छा होता कि अत तक उन की यही शैली स्थिर रहती पर ऐसा नही हुआ। उन की शैली मे उर्दू शब्दो का प्रयोग उत्तरोत्तर बढता ही गया और उन की अतिम रचनाएँ तो इसी कारण हिंदी की अपेक्षा उर्दू के अधिक निकट है। परतु इस मे भी उन का जो उद्देश्य था वह प्रशसनीय ही कहा जायगा। वे चाहते थे कि हिंदी और उर्दू मे अधिक अतर न रहे

---

[1] **'विशालभारत', भाग ७, अंक २–३–४**

(और वह धीरे-धीरे दूर हो जाय ताकि हिंदी के प्रति ो का विरोध न रहे और हिंदी का स्थान उर्दू से कम न रहे। राजा साहब के उत्तरोत्तर बढते हुए उर्दूपन की आलोचना करते समय हमें तात्कालीन परिस्थिति को भली भांति ध्यान में रखना चाहिए।

(१३) **राजा लक्ष्मणसिंह**—इन्हो ने राजा शिवप्रसाद की उर्दू से भरी शैली का विरोध किया और ये विशुद्ध शैली का पक्ष लेकर आगे आए। सवत् १९१८ में उन्हो ने 'प्रजा-हितैषी' नामक एक पत्र निकाला और अगले ही वर्ष 'शकुंतला' का अनुवाद विशुद्ध हिंदी मे प्रकाशित किया जिस में ठेठ शब्दो के साथ-साथ सरल तत्सम शब्दो का भी प्रयोग हुआ है। विदेशी यानी उर्दू शब्दो को बचाने के लिए उन्हो ने विशेष रूप से प्रयत्न किया। सरल होते हुए भी इन की शैली व्यावहारिक नही कही जा सकती। उस मे निबंध लिख जा सकते है पर वह बोलचाल की नही हो सकती। प्रतिदिन काम में आने वाले और लोगो की जबान पर नाचने वाले अरबी-फारसी शब्दो को एक दम निकाल देना भाषा की सचित शक्ति को घटाना है। विनोदात्मक शैली मे तो ऐसे शब्द बडे उपयुक्त और आवश्यक हो पडते है।

(१४) **स्वामी दयानंद**—इन का हिंदी पर बडा भारी ऋण है। मातृभाषा हिंदी न होते हुए भी उन्हो ने अपनी रचनाएँ हिंदी में लिखी और अपने अनुयायियो के लिए उन का पढना आवश्यक कर दिया। यही कारण है कि आज पंजाब जैसे उर्दू के प्रबल गढ मे भी हिंदी का प्रचार है। स्वामी जी की शैली विशुद्ध है, और विषयानुसार सस्कृत शब्द भी प्रयुक्त हुए है। उर्दू शब्द प्राय नही आए है।

(१५) **नवीनचंद्र राय**—यह ब्राह्मसमाजी थे और पजाब मे रहते थे। ये समाज-सुधारक तथा स्त्री-शिक्षा के बडे भारी पक्षपाती थे। उन्हों ने ब्रह्म-समाज के सिद्धातो और सामाजिक विषयो पर बहुत-सी पुस्तके लिखी। कई पत्रिकाएँ भी निकाली जिन मे एक का नाम 'ज्ञान-प्रदीपिका' था। इन के कारण पजाब में हिंदी-प्रचार होने में बडी सहायता मिली। इन की भाषा भी विशुद्ध हिंदी होती थी।

(१६) **श्रद्धाराम फिल्लौरी**—यह भी पंजाब के निवासी थे। ये बडे अच्छे कथा-वाचक और व्याख्याता थे। इन का कहने का ढग बडा हृदयग्राही होता था जिस से इन की कथाओ आदि का जनता पर बडा भारी प्रभाव पडता था। ये बडे स्वतत्र विचारो के मनुष्य थे। इन्हो ने कई-एक धार्मिक पुस्तके बड़ी जोरदार भाषा में लिखी है।

राजा शिवप्रसाद तथा राजा लक्ष्मणसिंह तक आकर हिंदी ने बहुत कुछ स्थिरता और एकरूपता प्राप्त कर ली। अब हिंदी में लिख कर भावों को प्रकट करना सुगम हो चुका था। अनेक विषयों पर लिखा भी जाने लगा। क्षेत्र बिलकुल तय्यार था। इस क्षेत्र में स्थायित्व का बीज बोने वाले की ही आवश्यकता रह गई। इसी समय भारतेंदु हरिश्चंद्र कार्यक्षेत्र में उतरे और उन के हाथों यह कार्य पूर्ण सफलता के साथ संपन्न हुआ। उन्हों ने हिंदी में जीवन डाल कर उसे अपने पैरों पर खड़ी होने के योग्य बना दिया। हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में उन्हों ने युगांतर उपस्थित कर दिया—हिंदी का आधुनिक युग वास्तव में उन्हीं के साथ आरंभ होता है—वही आधुनिक हिंदी के जन्मदाता हैं।

आधुनिक काल के हिंदी-गद्य की आलोचना के पूर्व हम यहाँ पर दो-एक भ्रांतियों का निराकरण कर देना अत्यंत आवश्यक समझते हैं।

## कतिपय भ्रांतियों का निराकरण

(१) कुछ समय तक लोगों में यह धारणा प्रचलित थी और कुछ अंशों तक अब भी है कि खड़ीबोली का जन्म व्रजभाषा से हुआ है। सौभाग्यवश यह भ्रांति अब दूर हो रही है। ऐतिहासिक खोजों ने यह सिद्ध कर दिया है कि खड़ीबोली व्रजभाषा से स्वतन्त्र बोली थी और है। खड़ीबोली भी उतनी ही प्राचीन है, जितनी कि व्रज। खड़ीबोली में लिखी हुई कई रचनाएँ प्राप्त हुई हैं और कई लेखकों के नाम ज्ञात हुए हैं, जिन में अमीर-खुसरो का समय संवत् १३१२ से १३८१ तक है। इस से भी पूर्व विक्रम की नवीं शताब्दी में लिखित 'कुवलयमाला' नामक प्राकृत भाषा की पुस्तक में 'मेरे तेरे आओ' यह मध्य देश की भाषा का नमूना दिया गया है[1] जिस से खड़ीबोली की प्राचीनता सिद्ध होती है। हेमचन्द्र के 'अपभ्रंश-व्याकरण' में आकारांत शब्दों के रूप ख़ास कर नोट किए गए हैं, जो खड़ीबोली की विशेषता है (व्रज और राजस्थानी में ये शब्द ओकारांत हो जाते हैं)।

(२) दूसरी भ्रांति यह फैली हुई है कि आधुनिक हिंदी-गद्य की भाषा उर्दू से

---

[1] अपभ्रंशकाव्यत्रयी (गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज नं० ३७), भूमिका, पृष्ठ ९२, में दिया हुआ अवतरण।

अरबी फारसी शब्दों को निकाल कर बनाई गई है यह कथन सर्वथा निराधार है हम ऊपर देख चुके हैं कि खड़ीबोली बहुत प्राचीन भाषा है। वह आरंभ में दिल्ली-मेरठ के प्रांत की भाषा थी। मुसलमानों ने यहाँ आने पर उसे अपनाया और वे उस में रचनाएँ करने लगे। पहले उन रचनाओं की भाषा बोलचाल की होती थी और ज्यादातर शब्द ठेठ हिंदी के होते थे। बाद मे उन्हों ने उस मे अरबी-फारसी के शब्द भरना प्रारंभ किया, जिस से उर्दू का विकास हुआ। मुसल्मानों के प्रसार के साथ-साथ खड़ीबोली का भी प्रसार हुआ। इस खड़ीबोली में राज्य-शासन से संबंध रखनेवाले अरबी-फारसी के शब्द भी रहे होंगे, जो धीरे-धीरे बोलचाल के शब्द बन गए। धीरे-धीरे खड़ीबोली उत्तरी भारत की राष्ट्रभाषा-सी बन गई और शिष्ट-समुदाय के परस्पर के व्यवहार के प्रयोग में आने लगी। पर यह रूप उर्दू-साहित्य की अरबी-फारसी से लदी हुई भाषा से भिन्न था। उस में केवल बोलचाल के अत्यंत प्रचलित विदेशी शब्द ही रहे होंगे और पढ़े-लिखे पंडितों की बोली में संस्कृत के तत्सम शब्द उसी प्रकार पाए जाते होंगे, जिस प्रकार पढ़े-लिखे मुसल्मानों की बोली मे विदेशी शब्द। साधारण बनिये-व्यापारी आदि की भाषा में दोनों का ही अभाव रहा होगा। यही बोली आगे चलकर हिंदी-गद्य की भाषा हुई।

(३) इसी प्रकार यह कथन भी भ्रांतिपूर्ण है कि खड़ीबोली-गद्य की उत्पत्ति अंग्रेजों के आश्रय में हुई। अंग्रेजों के आश्रय में रह कर लिखने वाले सर्व-प्रथम लेखक सदल मिश्र और लल्लूलाल थे। इन मे सदल मिश्र की रचना का तो प्रचार नहीं हुआ और न उस का विशेष प्रभाव ही पड़ा। लल्लूलाल की भाषा मे आधुनिक गद्य का पूर्वाभास नहीं मिलता। उन की भाषा व्यवहारोपयोगी न थी—वह दैनिक जीवन की बातों के लिए अनुपयोगी सिद्ध हुई। उस का कोई प्रभाव, कुछ काल बाद होने वाले लेखकों की भाषा पर, नहीं दिखाई देता। इस के अतिरिक्त उक्त दोनों लेखकों के पूर्व ही सदासुख-लाल और इंशाअल्ला खाँ खड़ीबोली में रचना कर चुके थे। 'चकत्ता की पातसाही की परंपरा' नामक एक और ग्रंथ लगभग इसी समय स्वतंत्र रूप से लिखा गया था। इस से पहले की रचनाएँ भी मिलती हैं, जिन का उल्लेख ऊपर हो चुका है। अंग्रेजी प्रभाव से रहित सुदूर राजस्थान में 'मंडोर का वर्णन' नामक रचना खड़ीबोली की प्राप्त हुई है। लल्लूलाल के कुछ ही समय बाद राममोहन राय और जुगल किशोर शुक्ल हुए, जिन का अंग्रेजों से कोई संबंध न था और जिन्हों ने स्वतंत्र रूप से समाचार-पत्र निकाले। उन

की भाषा और की भाषा में कोसों का अंतर है इस प्रकार सिद्ध होता है कि न तो खड़ीबोली के निर्माता लल्लूलाल ही थे और न अंग्रेजों के आश्रय में ही उस का निर्माण हुआ।

# आधुनिक काल

## ( १९००— )

आधुनिक काल का आरंभ भारतेंदु हरिश्चंद्र के साथ होता है।

इस काल में गद्य का प्रचार द्रुत वेग से हुआ गद्य-लेखन-शैली अनिश्चितता से निकल कर स्थिरता को प्राप्त हुई। अधिकांश साहित्यिक रचनाएँ पद्य की अपेक्षा गद्य में होने लगी। इस काल में गद्य का इतना प्रसार और प्राधान्य हुआ कि विद्वानों ने इस काल का नाम ही गद्य-युग रख दिया है।

इस काल में खड़ीबोली साहित्य की प्रधान भाषा हो गई। आरंभ के ५०–६० वर्षों तक पद्य में ब्रज अपना प्राधान्य बनाए रही, पर अंत में उसे वहाँ से भी अपदस्थ होना पड़ा। आज कल ब्रज में रचना करने वाले कवि विरले ही मिलते हैं। राजस्थानी साहित्य-रचना भी इसी काल में ह्रासोन्मुख होने लगी। उस में बहुत कम महत्वपूर्ण पुस्तकें, गद्य अथवा पद्य में, लिखी गई। खड़ीबोली का मुख्य प्रचार शिक्षालयों द्वारा हुआ और राजस्थान में शिक्षा संस्थाएँ जब खोली गईं, तो उन में राजस्थानी की जगह खड़ीबोली को स्थान दिया गया। धीरे-धीरे राजस्थानी केवल बोलचाल की भाषा मात्र रह गई और शिक्षित लोग उसे गँवारी बोली समझने लगे। परंतु यह बात नहीं कि साहित्य-रचना में राजस्थान पीछे रहा हो। राजस्थानी की जगह खड़ीबोली में अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों का निर्माण राजस्थान में हुआ। खड़ीबोली ने इस काल में आश्चर्य-जनक उन्नति की। जिसे कुछ ही समय पहले लोग एक गँवारी बोली समझते थे, आज वह समस्त भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा बनने जा रही है। सुदूरवर्ती मद्रास, उत्कल और आसाम जैसे प्रदेशों में उस का प्रवेश हो गया है।

इस काल के पूर्वार्ध में हिंदी-गद्य का पुनरुत्थान बड़े उत्साह के साथ हुआ। एक के बाद दूसरे लेखक बड़े उत्साह के साथ साहित्य-क्षेत्र में उतर पड़े। गद्य-सरिता बड़े वेग से उमड़ चली। जल में मलिनताएँ भी थीं, पर प्रवाह बड़ा तेज था। धीरे-धीरे मैदान में

आने पर वेग हलका हुआ और मलिनताएं भी नीचे बैठती गई पत्र-साहित्य इस जमाने की विशेषता है। अधिकांश साहित्य-सेवी अपने साथ एक एक पत्र भी लाए। जो नहीं लाए वे इन्हीं में से किसी पत्र में लिखने लगे। 'सरस्वती' के निकलने तक पत्र-पत्रिकाओं का बहुत कुछ यही क्रम जारी रहा।

इस काल के उत्तरार्ध में भाषा को व्यवस्थित करने का प्रयत्न हुआ। लेखकों की बढ़ती हुई उच्छृंखलता को करारा धक्का लगा। 'सरस्वती' ने निकल कर अन्यान्य पत्रिकाओं को दबा दिया। उस ने आदर्श लेखन-शैली लेखकों के आगे उपस्थित की। पश्चिमी सभ्यता के संसर्ग और संघर्ष से विषय-विस्तार हुआ और नए-नए विषयों पर रचनाएँ होने लगी। आरंभ में अनुवादों का बाहुल्य हुआ, पर आगे चल कर अच्छे-अच्छे मौलिक लेखक भी उत्पन्न हुए। हिंदी के नवीन साहित्य के निर्माण का आरंभ भी अभी हुआ है। इस काल में नागरी-प्रचारिणी सभा हिंदी की सेवा करने वाली प्रमुख संस्था रही। उस ने प्राचीन साहित्य के उद्धार और नवीन साहित्य के निर्माण में बहुत बड़ा कार्य किया है। आगे चल कर हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का जन्म हुआ, पर परीक्षाओं इत्यादि के द्वारा हिंदी-प्रचार करने के अतिरिक्त वह कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर पाया। हिंदुस्तानी एकेडेमी आधुनिक संस्था है और उस ने कई महत्व-पूर्ण ग्रंथ प्रकाशित किए हैं।

पत्र-साहित्य में संवत् १९७५ तक 'सरस्वती' की ही प्रधानता रही। 'मर्यादा' और 'प्रभा' भी अच्छी निकली। समाचार-पत्रों में 'भारत-मित्र' और 'प्रताप' का खूब प्रचार था। नवीन युग में 'विशाल भारत', 'सरस्वती', 'विश्वमित्र', 'हंस', 'माधुरी', 'सुधा', 'गंगा', 'वीणा' आदि अच्छी पत्रिकाएँ निकल रही हैं। 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' और 'हिंदुस्तानी', खोज-संबंधी पत्रिकाएँ हैं। 'आज', 'प्रताप', 'अर्जुन', 'नवयुग', 'विश्वमित्र', 'भारत', 'राष्ट्रबंधु' आदि प्रमुख समाचार-पत्र हैं। 'त्यागभूमि' और पाक्षिक 'जागरण' नामक दो उच्चकोटि की पत्र-पत्रिकाएँ बहुत अच्छी निकली, पर चल न सकी।

इस उत्तरार्ध भाग में हिंदी में संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता दिनोंदिन बढ़ती ही गई और विदेशी शब्दों का प्रयोग विरल हो चला है। अनावश्यक संस्कृत शब्दों की भरमार से हिंदी के ठेठ शब्दों का भंडार धीरे-धीरे लुप्त होता जा रहा है। शैली की दृष्टि से उत्तम मुहावरेदार भाषा लिखने वाले लेखक अभी बहुत कम हैं। मुहावरा

भाषा का प्राण है इस लिए हिंदी को सजीव बनाने के लिए ठेठ शब्दों और मुहावरों का प्रयोग नितांत वांछनीय है।

हिंदी-गद्य-विकास के इस आधुनिक काल को तीन उपविभागों में बाँटा जा सकता है —

(१) हरिश्चंद्र युग—संवत् १९२५ से १९५५ तक
(२) द्विवेदी युग—संवत् १९५५ से १९७५ तक
(३) नवीन युग—संवत् १९७५ से अब तक

## हरिश्चंद्र युग

### ( १९२५-१९५५ )

भारतेंदु हरिश्चंद्र आधुनिक हिंदी-गद्य के वास्तविक जन्मदाता हैं। उन के कार्य-क्षेत्र में आते ही हिंदी-गद्य की समुन्नति का युग प्रारंभ हुआ। साहित्य और भाषा दोनों पर उन का गहरा प्रभाव पड़ा। हिंदी-गद्य में अभी तक छोटी-मोटी साधारण विशेषतः पाठशालोपयोगी पुस्तकों की ही रचना विशेष करके हुई थी। परंतु भारतेंदु ने साहित्य के विविध अंगों की ओर ध्यान देकर सभी से संबंध रखने वाली रचनाएं कीं। सब से बड़ा काम तो उन्हों ने यह किया कि हिंदी-साहित्य को नवीन मार्ग पर ला खड़ा किया और उसे वे शिक्षित जनता के साहचर्य में ले आए। नई शिक्षा के प्रभाव से लोगों की विचारधारा बदल चली थी। उन के मन में देशहित, समाजहित आदि की नई उमंगें उत्पन्न हो रही थीं। काल की गति के साथ-साथ उन के भाव और विचार तो बहुत आगे बढ़ गए थे, पर साहित्य पीछे ही पड़ा था। वह अभी अपने पुराने ही रास्ते पर था और उस में वही पुराने ढंग की शृंगार, भक्ति आदि की कविताएं ही होती चली आ रही थीं। कभी-कभी कोई शिक्षा-संबंधी पुस्तक भी निकल जाती थी 'पर देश-काल के अनुकूल साहित्य-निर्माण का कोई विस्तृत प्रयत्न अभी तक नहीं हुआ था।' भारतेंदु ने हिंदी साहित्य को नए-नए विषयों की ओर प्रवृत्त किया।

गद्य की भाषा को परिमार्जित कर के उन्हों ने उसे एक, बहुत ही चलता हुआ, मधुर और स्वच्छ रूप दिया। भाषा का निखरा रूप भारतेंदु के साथ ही प्रकट हुआ। उन की

भाषा में न तो लल्लूलाल का 6 न सदल मिश्र का पूरबी-पन और न मुंशी सदासुख का पंडिताऊपन। इसी प्रकार वे न राजा शिवप्रसाद की भाँति उर्दूपन के पक्षपाती थे और न राजा लक्ष्मणसिंह की भाँति विशुद्धपन के। इन सब 'पनों' से उन की भाषा बची हुई है। उन्हों ने देख लिया कि शिवप्रसाद की भाषा जनता की भाषा से बहुत दूर है और इसी प्रकार लक्ष्मणसिंह की भाषा व्यावहारिकता से परे। प्रति दिन प्रचलित और लोगों की जबान पर नाचने वाले अरबी-फारसी शब्दों को एकदम छोड़ देना भाषा की सञ्चित शक्ति को घटाना है। हास्य और व्यंग्यात्मक शैली में ऐसे शब्द कितने उपयोगी होते हैं, इन्हीं कारणों से उन्हों ने मध्यम मार्ग का अवलंबन किया। उन की भाषा में संस्कृत के शब्द प्रयुक्त हुए हैं, पर यथासंभव व्यावहारिक और तद्भव रूप में। इसी तरह बोलचाल के अरबी-फारसी शब्द भी उन्हों ने बचाए नहीं, यद्यपि उन का प्रयोग तत्सम रूप में नहीं हुआ है। संस्कृत शब्दों के होते हुए भी उन की भाषा सुबोध है और अरबी-फारसी शब्दों के होते हुए भी वह उर्दू नहीं जान पड़ती।

भारतेंदु जी की भाषा व्यवस्थित है। उस में ऐसे वाक्य नहीं मिलते जिन के विभिन्न उपवाक्य या वाक्यांश बराबर जुड़े हुए न हों। इस के लिए उन्हों ने समुच्चय-बोधक अव्ययों का उपयुक्त व्यवहार किया है। विराम-चिन्हों का उपयोग भी पहले की अपेक्षा अधिक सुचारु हुआ है।

भारतेंदु ने लेखन-शैली में हास्य और व्यंग का पुट दिया, जो आगे चलकर भारतेंदु-काल के समस्त लेखकों की एक मुख्य विशेषता हो गई। मुहावरों, कहावतों, लोकोक्तियों आदि के समुचित प्रयोग से उन की शैली निखर उठी है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म सुप्रसिद्ध सेठ अमीचंद के घराने में संवत् १९०७ में काशी में हुआ। उन के पिता गोपालदास थे, जो स्वयं हिंदी के अच्छे लेखक थे। उन का 'जरासंध-बध' काव्य और 'नहुष-नाटक' बहुत प्रसिद्ध है। हरिश्चंद्र छोटी अवस्था से ही प्रखर बुद्धिवाले और प्रतिभाशाली थे। पाँच ही वर्ष की उम्र में उन्हों ने एक दोहा बना कर अपने पिता को सुनाया था। माता-पिताका सुख वे अधिक न भोग सके। उन की शिक्षा भी भली-भाँति न हो पाई। वे अत्यंत स्वतन्त्र प्रकृति के पुरुष थे। विचारों के उदार थे। अपव्ययी भी बहुत थे, जिस से अंतिम दिनों में कष्ट भी उठाना पड़ा।

संवत् १९२५ में भारतेंदु ने 'विद्यासुंदर' नामक एक बंगला नाटक का अनुवाद

किया उस के बाद उन की साहित्य-सेवा बराबर जारी रही उसी वर्ष कवि-वचन सुधा' नामक पत्रिका निकाली, जिसे वे कोई साढे सात वर्ष तक निकालते रहे। पहले इस मे कविताए छपती थी, पर बाद मे गद्य-लेख भी छपने लगे।

सवत् १९३० मे उन्हो ने 'हरिश्चंद्र मेगजीन' नाम की दूसरी पत्रिका निकाली, जिस का नाम बाद मे हरिश्चद्र-चंद्रिका' हो गया। हिंदी-गद्य का परिष्कृत रूप सब से पहले इसी पत्रिका मे प्रकट हुआ। उन के प्रोत्साहन से बहुत से लोग हिंदी मे लिखने लगे और हिंदी-लेखको का एक खासा मडल तैयार होगया। सवत् १९३१ मे भारतेदु ने 'बाल-बोधिनी' नामक पत्रिका स्त्री-शिक्षा के प्रचार के वास्ते निकाली, पर वह अधिक दिन नही चली।

सवत् १९३० मे भारतेदु ने अपना सब से पहला मौलिक नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक प्रहसन लिखा। इस के बाद उन्हो ने और भी कई नाटक बनाए, जिन मे 'सत्य-हरिश्चद्र', 'चद्रावली', 'भारत-दुर्दशा', 'नीलदेवी', 'अधेरनगरी' आदि उल्लेखनीय है। अनुवादित नाटको मे 'पाखड-विडबन', 'कर्पूरमजरी', और 'मुद्राराक्षस' बहुत प्रसिद्ध है। नाटकों के अतिरिक्त इतिहास-संबधी पुस्तकें भी उन्हो ने लिखी।

गद्य की भाति पद्य मे भी उन्हो ने युग-परिवर्तन किया। प्राचीन ढग की रसपूर्ण कविता लिखने के साथ ही साथ आधुनिक भावो से पूर्ण कविता भी रची। प्राचीन और नवीन का बडा ही सुदर सामजस्य भारतेंदु की कला में पाया जाता है।

भारतेदु जी बडे भारी सुधारक और देशप्रेमी थे। उन का देश-प्रेम उन की रचनाओं मे सर्वत्र पाया जाता है और वही उन की रचनाओं का व्यापक भाव है।

जैसा कि ऊपर कह आए है, भारतेदु जी के प्रोत्साहन से अनेक लोग हिंदी में लिखने लगे और हिंदी लेखको का एक खासा मंडल तैयार होगया। एक-एक कर के नवीन लेखक कार्यक्षेत्र मे उतर पड़े और हिंदी गद्य द्रुत वेग से आगे की ओर बढ़ चला। इन नवीन लेखकों का उत्साह अपूर्व था। अधिकांश ज़िन्दादिल थे। उन की भाषा में हास्य विनोद की अच्छी बहार रहती थी। अधिकांश लेखक अपने साथ एक-एक पत्र-पत्रिका भी लाए। जो नही लाए वे दूसरो के पत्रो मे लिखने लगे। विषय विविधता बढ़ी, पर अधिकाश लोगो ने निबंध ही लिखे। अनुवादों, विशेषत· बंगला के उपन्यासो के अनुवादो, का भी आरभ हुआ।

# परिशिष्ट

## प्राचीन हिंदी गद्य के उदाहरण

### (क) राजस्थानी गद्य

#### संवत् १३३०

...अढार पापस्थान त्रिविधिहि मनि-वचनि-काइ करणि-करावणि अनुमति परिहरहु। अतीतु निंदउ, वर्तमानु सवरहु, अनागत पारखउ। पञ्चपरमेष्ठि नमस्कारु जिनशासनि-सारु चतुर्दश-पूर्व-समुद्धारु सम्पादित-सकलकल्याणसम्भारु विहितदुरिता-पहारु क्षुद्रोपद्रवपर्वतवज्र-प्रहारु लीलादलितससारु मु तुम्हि अनुसरहु।

#### संवत् १३३६

. स्वर केला १४। समान केता १०। सवर्ण १०। ह्रस्व ५। दीर्घ ५। लिंगु ३। पुल्लिंगु, स्त्रीलिंगु, नपुसकल्गिु। भलउ पुल्लिंगु, भली स्त्रीलिंगु, भलु नपुसकल्गिु।

#### संवत् १३५८

(१) पहिलउँ त्रिकालु अतीत अनागत वर्तमान बहत्तरि तीर्थंकर सर्वपाप-क्षयकर हउँ नमस्कारउँ।.. ....तउ पहिलई सौधर्मि देवलोकि बत्रीसलाख, बीजइ ईसामि देवलोकि अट्ठावीस लाख .. .सातमइ शुक्रदेवलोकि च्यालीस सहस्र, आठमइ सहस्रारि देवलोकि छ सहस .. इग्यारइ आरणि देवलोकि बारमइ अच्युतदेवलोकि बिहू दउढु दउढु सउ, अनइ हेठिले त्रिहू ग्रैवेयके इग्यारोत्तर सउ माहिले सत्तोत्तर सउ उपइले एकु सउ. . .एवंकारइ स्वर्गलोकि चउरासी लाख सत्ताणबइ सहस त्रेवीस आगला जिन भुवन वाँदउँ।

(२) माहरउ नमस्कारु आचार्य हुऊ। किसा जि आचार्य ? पञ्चविधु आचारु जि परिपालइ ति आचार्य भणियइ। तीह आचार्य माहरउ नमस्कारु हुउ। ईणि ससारि

दधि चदन दूर्वादिक मगलीक भणियइ । तीह मगलीक सव ही माँहि प्रथमु मगलु एहु । ईणि कारणि शुभ-कार्य आदि पहिलउँ मुमरेवउँ जिव ति कार्य एह-तणइ प्रभावइ वृद्धि-मन्ता हुयइ ।

## संवत् १३६९

मृषावादि मृषोपदेश दीधउ, कूडउ लेख लिखिउ, कूडी साखि थापण मोसउ, कुणहइ-सउँ रॉडि भेडि कल्हु विढाविढि जु कोइ अतिचार मृषावादि वृति भव सगळाइ याहि हुउ त्रिविधि त्रिविधि मिच्छामि दुक्कडे ।[1]

तीर्थजात्रा रथजात्रा कीधी, पुस्तक लिखाव्यॉ, तप नीपम देववन्दन वॉदणॉइँ सज्याइ अनेराइ धर्मानुष्ठान-तणइ विखइ जु ऊजमु कीधउ सु अह्मारउ सफलु हुओ ।

## संवत् १४११

(१) ईही जि जबूद्वीप माहि भरतक्षेत्र माहि मगध नामि जनपदु छइ । तिहॉ विजयवती नामि नगरी । तिहॉ नरवर्म नामि राजा, रतिसुदरी नामि पट्टमहादेवी हुँती । हरिदत्त नामि पुत्तु हूँतउ । मतिसागरादिक, अनेकि महामात्य हुँता । अनेरइ दिवसि राजेद्र आगइ सभा माहि धर्मविचार विखइ आलापु नीपनउ ।

(२) एतकइ प्रस्तावि चोरु एकु चोरी करी तिहॉ आविउ । केडइ वाहर पुण आवी । चोरु स्मशान वन गहन माहि पइठउ । बाहर बाहिरि वेढु करि रही । चोरि महे-सरदत्तु चडतउ ऊतरतउ देखी करी बोलाविउ तउँ ज विद्या साधइ छइ स मूँहरइ आपि, एह माहरउ धनु तउँ लइ ।

## संवत् १४५०

जु करइ, सुइ, दिइ, पठइ, हुइ—इत्यादि वोलिवइ उक्ति माहि क्रिया करवइ जु मूलिगउ हुइ सु कर्ता । तिहॉ प्रथमा हुइ । चन्द्र ऊगइ—ऊगइ इसी क्रिया । कउण ऊगइ? चन्द्र । जु ऊगइ सु कर्त्ता तिहॉ प्रथमा । ज दीजइ त कर्म । तिहॉ द्वितीया ।

## संवत् १४५७ के लगभग

(१) दृढ प्रहार पल्लीपति धाडि सहित एकि गामि पडिओ । एक ब्राह्मण-नई घरि

---

[1] यह वाक्यांश प्राकृत भाषा का है ।

क्षीरनु भोजन ब्राह्मणी अनइ बालक पाहावता हूना ऊीघउ . तेतलइँ ब्राह्मण स्नान करिवा गिओ हूँतओ, ते आविओ। तीणइ रीस लगइँ भोगळ लेइ केतलाइ चोर विणासिया।

(२) पछइ राजाइ काळसूरीउ ग्यातकी बोल्गविउ। तेह-हइँ कहिउँ भावइ तेतलउ द्रव्य मागि पणि जीवहिंसा परही मूँकि। काळ सूरिउ पछइ राजाइ ते अंधकूप माहि घाती अहोरात्र राखिउ।

## संवत् १४७८

(१) तीह माहि वखाणीयइ मरहट्ठ देश। जीणइ देसि ग्राम, अत्यन्त अभिराम।[1] भला नगर, जिहाँन मागीयइ कर। दुर्ग, जिस्याँ हुइ स्वर्ग। धान्य, न नीपजइ सामान्य। आगर, सोना-रूपा-तणा सागर। जेह देस माहि नदी वहइ, लोक सुखइँ निर्वहइ। इसिव देश, पुण्य तणउ निवेश, गरुअउ प्रदेश।

(२) साँभळउ ए वात, ए आगळि दीसइ पद्मपुरनगर महा-विख्यात। तिहाँ छइ राजा समरकेतु, अति सचेतु, वयरी प्रति साक्षात् केतु। जेतळइ तेउ ए वात जाणिसिइ, तेतळइ ताहरा अहंकार-तणउ अन्त आणिसिइ। एह कारणि चोर आपि निर्दोष थाउ, पछे तुम्हइ भावइ तिहाँ जाउ।

(३) रत्नमञ्जरी कुमारि प्रतिहारि-तणाँ इस्याँ वचन साँभळी अगि रोमाञ्च धरती, नेउर-तणा झमझमकार करती, हर्षभर वहती, राजा-ढूकडी पुहती। लाज ठेली, कण्ठकन्दळि वरमाळ मेल्ही। तत्काळ जयजयारव ऊछळिया, लोक कलकळया। विद्याधर पुष्प-वृष्टि करइँ, भट्ट जय-जय-शब्द उच्चरइँ।

## संवत् १५००

राजसिंह कुमार रत्नवती सहित नाना प्रकार भोगसुख भोगवइ छइ। घणउ काळ हूओ। एक बार पिताइँ मृगाकराजाइँ प्रतीहार हाथि लेख मोकळीनइ कहाविउँ---वच्छ अमे वृद्ध हूआ। राज्य छाडी दीक्षा लेवानी[2] उत्कण्ठा करूँ छउँ।

---

[1] इस प्रकार के अंत्यानुप्रास वाले गद्य को राजस्थानी में वचनिका कहते हैं। इंशाअल्ला खाँ, लल्लूलाल आदि ने भी ऐसा गद्य लिखने का प्रयत्न किया है। यह प्रथा बहुत प्राचीन है (सं० १३३० का अवतरण देखो)।

[2] नी = की। प्राचीन राजस्थानी का यह विभक्ति-चिन्ह आधुनिक गुजराती में चला आया है।

घणा काळ लगइ ताहरा दर्शननी उत्कण्ठा छइ तु वहिल आँहीं आविज पछइ राजसिंह कुमार चालिउ । अनुक्रमिं पुहतउ । पिताहरहँ प्रणाम कीधउ । सब कुटुम्ब परिवार हर्षिया ।

## संवत् १४७० के लगभग

(१) महाराजा जी बिसकमाजी बोलाया। विसकमाजी आया। हुकम थारा। विसनपुरी रुद्रपुरी ब्रह्मपुरी विचै अचळपुरी बसावउ।

(२) विसनपुरी का विसनलोक आया। रुद्रपुरी का रुद्रलोक आया। ब्रह्मपुरी का ब्रह्मलोक आया। इन्द्रपुरी का इन्द्रलोक आया।

—अचलदास खीचीरी वचनिका

## संवत् १६०० के लगभग

(१) राजि श्री सीहौजी कनवज-हुँती आइ खेड रहीयौ। पछै श्री द्वारका जीगी जातनुं हालीयौ। मु विचाळै पाटण मूळराज सोलङ्कीरी रजवार सु लाखौ फुलाणीउजाड घणा कीया। मु तेरै लीयै सीहे जीनुं राखै। पछै सीहेजी कहौ जु[1] जात करिनै घिरतो आइस। पछै घिरता आया ताहरा लाखौ फुलाणी मारीयौ। पछै सीहैजी नुं मूलराज पर-नाइनै खेड मेल्हीया।

(२) पछै जोधोजी राम कहो[2] सु टीकाइत नीबो हुतो सु पेहली राँम कहो हुतो। पछै राउ वीको कोडमदेसर हुँतौ सु रा वेरसल भीमोत वीकेजीनु कहाडीया जु राउ जोधै राम कहौ छै जे विगर गढमै चढीया तु आयो तो टीको तोनु हुसी। पछै राउ वीको कोडमदेसर-हुनी हालियो सु पेडै माहै आवन्त अँमल करनै सुती। सु मोबडैरा आयो। पछै सातळनुं टीको दीन्हौ। तितरै राउ वीको ही आयो। पछै गढ घेरीयो।

## संवत् १६२५ के लगभग

(१) मोहिल अजीत नै राणौ वछौ दयाँरौ राजथाँन लाडणुं नै छापर हुतौ नै द्रुणपुर मोहिल कान्हौ वसतौ। पछै महाराइ श्री जोधै जी सगळा नुं मारिनै मोहिलाँरी धरती लेनै राजि श्रीवीदेजीनुं राखीयौ।

---

[1] जु, जो—पुरानी हिंदी में 'कि' के स्थान पर प्रयुक्त होते थे।
[2] राम कहो = राम कह्यो = स्वर्ग सिधारे।

२ जोधपुर तुरकाणी छ चन्द सेणजी राम कहो ताहरा टीको दीनो। पछै किलरेहेके दिहाडै उगरसेन कहो जु मो कन्हा चाकरी कराऊँ की नहीं।

## संवत् १६५० के लगभग

राउ जोधो गया जी जाग पधारीया। अनगरी पारवती नीसरीया। तरां राजा करन कनवज रो धणी राठौड तिणसूँ जोगोजी मिलिया। तरै राजा करन पातिसाही उमराव थौ। तिण पातिसाहिजीनुं गुदरायो राउ जोधौ मारवाडिरौ धणि छै, वडो राजा छै, गुजारातिरै मुँहडै इणारो मुलक छै।

## संवत् १६६० के लगभग

तिणि बेळा दातार झूझार राजा रतन मूँछा करि वानि बोलै। नरुआर तोलै। आगै लडका कुरखेत महाभारत हूआ। देव-दाणव लडि मूआ। च्यारि जुग कथा रही। वेदव्यास वालमीक कही। सु तीसरौ महाभारत आगम कहता उजेणि खेत। अगनि सोर गाजमी। पवन वाजमी। गजबन्ध क्षत्रबन्ध गजराज गडसी। हिंदू असुराइण लडसी।

—राव रतन महसेदासोतरी वचनिका

## संवत् १६८० के लगभग

जहाँगीर पातिसा, नूरमहल इतमाददोलारी बेटी असपखाँरी बहन, तिणसूँ साहजादै थकाँ यारी हुती लै पछै पातसा हुवौ तरै उणरौ मोटी मारिनै उणनूँ लै मौहलामाँ घाली। पातसाही उणनूँ सूँपी।

## संवत् १७०० के पूर्व

पछै बेढ हुई। उमराव जैतसीजीरा भागा। आप काम आया। साथ माहै दूजौ ही लोक काम आयौ सु रिणमाँ जैतो-कूँपौ आया जद कहौ—साँखलौ नाठौ दीसै छै, देखाँ करडा जाव कहे थौ। कही कहो—साँखलौ तौ मौहलाँमें खेत पडौ छै। अै ऊपर आया। देखै तो साँखलौ गिरणै छै। तद पूछो—साँखला, गिरणै सु घाव दौंहरा लागा। तद इयै कहौ—जी घाव न दूखै छै पण छोटे माणसे मोटो राव मारीयौ तै गिरणूँ छुँ। तद कहौ—म्हारौ बेटौ साँखलौ उणतरै ही ज बोलै, इणरै मुहम धूडघातौ। सु धूड घाती। सा वणी कहौ—धरती तौ साँखलौ दाडा मैं लै रहौ।

## संवत् १७२० के लगभग

(१) तठै पाबूजी गायाँ पाय नै छोडी छै। इतरै स्नेह दीठी। कहो रै कठा आ खेह केरी? तद चाँदै कही—राज खीची आयौ। अर पहलड़ी लडाई माँहै चाँदै खीचीनूँ तरवार वाही हन्ती तद पाबूजी तरवार आपड लीवी, कही—मारो मताँ, बाँई रण्ड हुसी। तद चाँदै कही—राज, आप तरवार आपड़ी, बुरी कीवी। पण पाबूजी मारण दीया नही। तठै फौज आई। तद चाँदै कही—राज, जो मारीयो हुवै हात तो पाप कटियौ हुत, हरॉमखोर आयो। तठै पाबूजी तो वुहा नै लडाई कीवी। वडो रीठ वाजियौ। तेमूँ पाबूजी तो काँम आया।

—मुहणोत नैणसीरी ख्यात

(२) राजा राइस्यंग कल्यांणमल्लोत वडौ महाराजा हुवौ वीकानेर जूनौगढ़, पञ्जाब सुधी वरती हुती। नागौर हुतौ, पहल तुरकाणै जोधपुरि पातिसाह अकबर दियौ थौ। वडौ दातार राजा हुऔ। चारणाँरै मसाणै हाथी वाधा।

## संवत् १८०० और १८४५ के बीच में

चातक, दादर, मोर तीनूँ ही मेघरा मित्र है जिणाँमै मयर अत उत्तम है। मेघ चातकरै फायदो करै, दादुररै अत फायदो करै, मोररै क्यूँही फायदो करै नही।

## संवत् १८६० के लगभग

जिण खिसामै दराजी रहै सो खिसौ इतिहास कहावै। जिण खिसामै कम दराजी सो वात कहावै। इतिहासरौ अवयव प्रसग कहावै। जिण वात मै एक प्रसग ही चमत्कारीक होय तिका वात दासतान कहावै।

## संवत् १९२० के लगभग

संवत् १८८५ वैसाख वद ५ श्री म्हाराज रतनसिहजी तखत विराजिया करण-म्होल मै। सु पहलाँ तो गाँव सेखसररै गोदारै तिलक कियो श्री हजूररै। वा पीछै म्हाजनरा ठाकराँ वैरीसाळजी सेरसिंघोत हजूर रै तिलक कियो। पीछै रावत सर रा ठाकराँ न्हारसिहजी तिलक कियो।

खरीतौ १ दिलीरै रजीडण्ट कवलबूरक साहव बहादर रौ आयौ। श्री दरबार साम्हाँ जैमै इस्यौ लिख्यौ के धोकळसिहजी जोधपुर रै इलाके मै फिसाद करै है।

## (ख) व्रजभाषा गद्य

### संवत् १४०७

(१) श्री गुरु परमानन्द तिनको दण्डवत् है। है कैसे परमानन्द आनन्द-स्वरूप है सरीर जिन्हिको, जिन्हिके नित्य गाये ते सरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है। ... स्वामी तुम्ह तो सत्गुरु अम्ह तौ सिष, सबद एक पूछिबा, दया करि कहिबा, मनि न करिबा रोस।[१]

(२) सो वह पुरुष सम्पूर्ण तीर्थ स्नान करि चुको, अरु सम्पूर्ण पृथ्वी ब्राह्मननिको दै चुको, अरु सहस्र जग्य करि चुको, अरु देवता सर्व पूजि चुको, अरु पितरनि को सन्तुष्ट करि चुको, स्वर्गलोक प्राप्त करि चुको, जा मनुष्य को मन छनमात्र ब्रह्म के विचार बैठो।[१]

### बिट्ठलनाथ ( १५७२-१६४२ )

प्रथम की सखी कहतु है। जो गोपीजन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबि कै इनके मन्द हास्यने जीते हैं। अमृत समूह ताकरि निकुञ्ज विषै शृंगार-रस श्रेष्ठ रसना कीनो सो पूर्ण होत भई।

### गोस्वामी गोकुलनाथ

ता पाछे कृष्णदास राजा टोडरमल सो बिदा होयके श्रीनाथजी-द्वारको चले। सो मथुरा आये। तब मार्ग में अवधूतदास मिले। तब कृष्णदाससो अवधूतदास ने कही जो[२] कृष्णदासजी, ढील कहा करि राखी है, बगालीनको काढौ, श्री नाथजी की ऐसी इच्छा है, श्रीनाथजीकों अपनो वैभव फैलावनो है। तब कृष्णदास नै कह्यो जो श्री गुसाईं जी की आज्ञा लेके आयो हौं, अब जाय कें बगालीन कों काढत हौं। सो वे बगाली सब रुद्रकुण्ड ऊपर रहते। सो उहाँ उनकी झोपडी हुती। सो कृष्णदास ने जराय दीनी। तब सोर भयौ।

—चौरासी वैष्णवन की वारता

---

[१] ये रचनाएँ गोरखनाथ की कही गई हैं, पर उन की नहीं है। इन का समय भी १४०७ ठीक नहीं जान पड़ता।

[२] जो = कि। कि का प्रयोग बहुत समय बाद होने लगा था। संभव है, वह फ़ारसी से लिया गया हो। यद्यपि कई विद्वानों की राय इस के प्रतिकूल है। वे इस की उत्पत्ति 'किम' से मानते हैं।

## नाभादास ( संवत् १६६० के लगभग )

तब श्री महाराज कुमार प्रथम वशिष्ट महाराजके चरन छुइ प्रनाम करत भये। फिर ऊपर वृद्ध-समाज तिनको प्रनाम करत भये। फिर श्री राजाधिराजजूको जोहारि करिकै श्री महेन्द्रनाथ दसरथजूके निकट बैठते भये।

## गोस्वामी तुलसीदास ( संवत् १६६६ )

सवत् १६६९ समये कुआर सुदि तेरसी बार . .शुभ दीने लिखितं पत्र अनन्द राम तथा कन्हुई के असदीभाग पुर्वक आग कै आग्य दुनहु जने माँगा जे आग्य मै शे प्रमान माना दुनहु जने दिदीत तफसील् अशु टोडरमल्लु के माह जो विभाग पटु होत रा—[1]

—पञ्चनामा

## बनारसीदास ( १६७० )

सम्यग् दृष्टि कहा ? सो सुनो। ससय, विमोह, विभ्रम—ए तीन भाव जामैं नाही सो सम्यग्-दृष्टि। ससय, विमोह, विभ्रम कहा ? ताको स्वरूप दृष्टान्त करि दिखाइयतु है। सो सुनो।

## भुवनदीपिका ( संवत् १६७१ )

जउ अस्त्री-पुत्र-तणी[2] पृछा करइ। आठमइ-नवमइ-स्थानि एकलो सुक्र होइ तउ प्रताप स्वभाव रमतउ कहिवउ।[3]

## वैकुण्ठमणि शुक्ल ( १६७५-१६८४ )

सब देवतन की कृपा तै वैकुण्ठमनि सुकुल श्री महारानी श्री रानी चन्द्रावती के धरम पढ़िबे के अरथ यह जयरूप ग्रन्थ बैसाख-महातम भाखा करत भये। एक समय नारदजू ब्रह्माकी सभासे उठिके सुमेर पर्वत को गये।

## दामोदर दास ( संवत् १७१५ )

अथ बन्दन। गुरदेवकुँ नमसकार। गोबिन्दजीकूँ नमसकार। सरब परकारकै

---

[1] इस की भाषा ब्रज नहीं, पर बोलचाल की अवधी है।
[2] तणी = की (राजस्थानी प्रत्यय)
[3] इस उदाहरण की भाषा राजस्थानी भी कही जा सकती है।

सिष साष रिषमुनिजन सरवहीकू अहो तुम सब साष अमी बुधि देहु जा बुधि करि या ग्रन्थ की नारगनिक माला अरथ रचना करियय।

—मार्कण्डेयपुराण भाषा

## भोगलपुराण ( संवत् १७६२ के पूर्व )

सुमेर परबत कै दक्षिणै भाग जंबू अैसी नाम अेक वृक्षहै। अरु अेक लाख जोजन जबूवृक्षका विस्तार है। तिम वृक्ष का फल हसती समान है। से फल पड़त प्रमॉग पाँणीका प्रवाह चलत है। सो प्रवाह मानसरोवर जात है। फुन तिस फलका रसकी नदी वहिती है।

—संवत् १७६२ की प्रति से

## नासिकेतोपाख्यान ( संवत् १७६४ के पूर्व )

हे ऋषीश्वरो और सुनो मैं देख्यो है सो कहुँ। कालै वर्ण महादुखको रूप जमकिकर देखे। सर्प वीछू रीछ व्याघ्र सिह बडे बडे गृद्ध देखे। पथ मैं पापकर्मीको जमदूत चलाइ कै मुदगर अरु लोहके दंड कर मार देत है। आगै और जीवन कौ त्रास देते देखे है। सु मेरौ रोम-रोम खरो होत है।

## सूरति मिश्र ( संवत् १७६७ )

सीस फूल सुहाग अरु बेदा भाग—ये दोउ आये। पॉवडे सोहे सोने के कुसुम—तिन पर पैर धरि आये है।

## भोगलपुराण ( संवत् १७७४ से पूर्व )

आकासते वायु (उ) त्पन्ना। वायु ते तेज उत्पन्ना। तेज तै ब्रह्माण्ड उत्पन्ना। ब्रह्माण्ड तै पाणी उत्पन्ना। पाणी तै अण्ड उत्पन्ना। अण्ड फूट कुटका भयै। ते जल मध्ये विष्णु रहै हे।

## प्रेमनारायणदास ( संवत १८२६ )

तब श्रीकृष्ण अघोरबंसी बजाई। ब्रज-गोपिकानि सुनी। राधिका ललिता विशाखादि गोपी आई। रासमण्डल रच्यो। रागरग नृत्यगान आलाप आलिंगन सम्भासन भयो।

## रामचरणदास ( संवत् १८४४ )

पुनि राम-नाम कैसो है? हेतु कृसानु भानु हिम करको। जहाँ एक शब्द मे दुइ

अथ होइ, तीन चार पाँच छै सात इत्यादिक अथ होइ आसय लिहे एक सब्द मे ताको श्लेषाकार कही, पुनि ध्वन्यात्मक काव्य कही। यह चोपाई मे अनेक हेतु अनेक ध्वनि अनेक आसय हैं। निज मति-अनुसार एक-दुइ मे भी कहता हों।[1]

## लाला हीरालाल ( १८५२ )

अब शेख अबुलफजल ग्रन्थ को करना प्रभु कों निमस्कार करि कै अकबर बादस्याह की तारीफ लिखने कों कसत करै है, अरु कहै है--याकी बडाई अर चेष्टा अर चिमत्कार कहाँ तक लिखूं। कही जात नाही। तातै याके पराकरम अर भाँति-भाँति के दसतूर वा मनसूबा दुनिया मै प्रगट भये ताको सखेप लिखत हो। प्रथम तो बादस्याह के नॉम-सग्याको अरथ लिखियत है। बाद फारसी भाषा मैं नित रहै ताको कहते है।[2]

—आईन-अकबरी भाषानुवाद

## हितोपदेस ग्रंथ ( संवत् १८६० के पूर्व )

प्रथमही श्री महादेवजू के प्रशाद तै सकल काँम की सिध होय। कैसे है श्री महादेवजू। जिनके सीस चन्द्रमा. . .

## सरदार कवि ( संवत १६०२ )

बन्सीबट के निकट आज मैने नेक स्यामको मुख हेरो। नट नागर के पटपै तबते मेरो मन लटको है।

## ( ग ) खड़ीबोली गद्य

## गंगाभट ( संवत् १६२७ )

(१) सिधिश्री १०८ श्री श्री पातसाहिजी श्री दलपतजी अकबरसाहजी आम-खासमे तखत ऊपर विराजमान हो रहे और आम-खास भरने लगा है जिसमे तमाम उमराव आय आय कुरनिश बजाय जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाय करे अपनी अपनी मिसल से, जिनकी बैठक नही रेसम के रस्से में रेसम की लूमें पकड पकड़ के खड़े ताजीम मे रहे।

---

[1] 'कहत हौं' होना चाहिए।

[2] इस अंश की भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव स्पष्ट जान पड़ता है।

२) इतना सुन के पातिसाहि जी श्री अकबर साहजी आद सेर सोना नरहरदास चारन को दिया। इन के डेढ सेर सोना हो गया । रास वञ्चना पूरन भया। आमखास बरखास हुआ ।

—चन्द छन्द बरनन की महिमा

## मंडोवर का वर्णन ( १८४० के पूर्व )

अवल[1] मे यहाँ माण्डव्य रिसी का आश्रम था। इस सबब से इस जगे का नाम माण्डव्यासृम हुवा । इस लफज विगड कर मण्डोवर हुवा है ।

## लुकमान हकीम की अपणै बेटैकूँ नसीहत ( संवत् १८४५ के पूर्व )

पुछ्या—वस्त किस पास माँगियै। कह्या—देणै खुस्याल रहै . . . . . .

## कुतबदी साहिजादेरी वात ( संवत् १८४७ के पूर्व )

पीरोजसाह पातस्याह दिली। पातस्याही करै। तिसके ज राव तिखरसिंघ, गलतसभा, मुलतान। तिसके दरियासाह बेटा। दुसरा महमदसाह बेटा।

## मुन्शी सदासुखलाल ( १८५० से १८६० के बीच )

(१) यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नही। जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढते हैं कि तात्पर्य उस का सतवृत्ति है वह प्राप्त हो और उस से निज स्वरूप में लय हूजिये।

(२) धन्य कहिये राजा दधीच को कि नारायण की आग्या अपने सीस पर चढ़ाई। जो महाराज की आग्या और दधीच के हाड़ का वज्र न होता तो ग्यारह जनम ताई वृत्रासुर से युद्ध मे सरवर और प्रबल न होता और न जय पावता।

## ईशाअल्ला खाँ ( १८५२–५५ )

(१) एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान मे चढी कि कोई कहानी ऐसी कहिये कि जिस मे हिंदवी छुट और किसी बोली की पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उस के बीच न हो। अपने

---

[1] अवल में = अव्वल में, पहले।

मिलने वालो में से एक कोई बड पढ लिखे पुराने धुराने डॉग बूढ़े घाग यह खटराग लाये। सिर हिला कर, मुँह थुथाकर, नाक भौं चढाकर, आँखे फिराकर कहने लगे—यह बात होते दिखाई नही देती, हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो, बस जैसे भले लोग अच्छे-से-अच्छे आपस मे बोलते-चालते है ज्यो-का-त्यों वही सब डौल रहे और छाँह किसी की न हो, यह होने का नहीं।

(२) एक डबरे पर बैठ के दोनो की मुठभेड हुई। गले लग के ऐसी रोइयाँ[1] जो पहाडो में कूक-सी पड गई। दोनो जनियाँ एक अच्छी-सी छाँव को ताड कर आ बैठियाँ अपनी अपनी दोहराने लगी।[2]

(३) अच्छापना घाटो का—कोई क्या कह सके, जितने घाट दोनो राज की नदियो से थे पक्के चाँदी के थक्के-से होकर लोगो को हक्का-बक्का कर रहे थे। जितनी ठब की नावे थी सोनहरी रुपहरी, सजी-सजाई कसी-कसाई, सौ-सौ लचके खातियाँ,[3] आतियाँ, जातियाँ, ठहरातियाँ, फिरतियाँ थी।

(४) ना जी, यह तो हम से न हो सकेगा जो महाराज जगतपरकास और महारानी कामलता का हम जानबूझ कर घर उजाड़े और उन की जो इकलौती लाड़ली बेटी है उस को भगा ले जावे और जहाँ-तहाँ उसे भटकावें और बनासपत्ती खिलावें और अपने घोडे को हिलावे। जब तुम्हारे और उस के माँ-बाप मे लडाई हो रही थी और उन्ने उस मालिन के हाथ तुम्हे लिख भेजा था जो मुझे अपने पास बुला लो, महाराजो को आपस मे लड़ने दो, जो होनी हो सो हो, हम तुम मिल के किसी देस को निकल चले—उस दिन न समझीं। तब तो वह ताव भाव दिखाया।

## लल्लूलाल ( १८६० )

(१) इतनी कथा कह शुकदेव जी राजा परीक्षित से कहने लगे कि राजा, जब पृथ्वी पर अति अधर्म होने लगा तब दुख पाय घबराय गाय का रूप बन राँभती देवलोक में गई और इद्र की सभा मे जा सिर झुकाय उस ने अपनी सब पीर कही कि महा-

---

[1] रोइयाँ = रोई। बैठियाँ = बैठी।
[2] लगियाँ रूप भी प्रयुक्त हुआ।
[3] खातियाँ = खातीं या खाती हुईं।

राज संसार में असुर अति पाप करने लगे तिन के डर से धर्म तो उठ गया और मुझे आज्ञा हो तो नरपुर छोड़ रसातल को जाऊँ।

(२) मणि का प्रकाश दूर से देख यदुवंशी खड़े हो श्रीकृष्णचंद्रजी से कहने लगे कि महाराज, तुम्हारे दर्शन की अभिलाषा किये सूर्य चला आता है। तुम को ब्रह्मा, रुद्र, इंद्रादि सब देवता ध्यावते हैं, और आठ पहर ध्यान धर तुम्हारा यश गावते हैं। तुम ही आदि पुरुष अविनासी, तुम्हें नित सेवती है कमला भई दासी।

## सदल मिश्र ( १८६० )

(१) इतनी कथा सुनाय फिर नासिकेत मुनि कहने लगे कि उस की आज्ञा से सब दूत एक-किसी को इहाँ से ले गये वो[1] उन के आगे खड़ा कर दिया। उस का जो पुण्य-पाप का विचार होते मैंने देखा सो अब कहता हूँ। तुम सावधान हो सुनो।

(२) जो नर चोरी आदि नाना भाँति के कुकर्म में आपतो दिन-रात लगे रहते हैं, तिस पर भी औरों को दूखते हैं, वो एक अक्षर भी जिस से पढ़ते हैं विसे गुरु के बराबर नहीं मानते हैं, सो तब तक महा नरक को देखते हैं कि जब तक यह संसार बना रहता है।

## बाइबिल का अनुवाद ( संवत् १८६६ के लगभग )

तब यीशु योहन से बपतिस्मा लेने को उस पास गालील से यर्दन के तीर पर आया। परंतु योहन यह कह के उसे बर्जने लगा कि मुझे आप के हाथ से बपतिस्मा लेना अवश्य है और क्या आप मेरे पास आते हैं। यीशु ने उस को उत्तर दिया कि अब ऐसा होने दे, क्यों कि इसी रीति से सब धर्म को पूरा करना चाहिए। यीशु बपतिस्मा ले के तुरत जल के ऊपर आया और देखो उस के लिए स्वर्ग खुल गया और उस ने ईश्वर के आत्मा को कपोत की नाईं उतरते और अपने ऊपर आते देखा। और देखो यह आकाशवाणी हुई कि यह मेरा प्रिय पुत्र है जिस से मैं अति प्रसन्न हूँ।

## इश्तहार ( संवत १८६७ )

सब कोई को खबर दिया जाता है कि शहर कलकत्ता का उत्तर डिवीजन का शामिल मोकाम अमड़ा तल्ला गोबिन-चाँद-धर लेन में इगारह नंबर का जमीन—उओ

---

[1] वो = और, व।

जमीन का नाप पांच काठा उस का कुच कमी होय और बेसी होय उओ जमीन आर सुरती बागान के रहने वाला उस का मालिक बाबू हरिनारायन चक्रवर्ती उस को बेचने माँगता है[1]।

**बँगला के किसी समाचार पत्र में**

## राजा राममोहनराय (१८७३)

जो सब ब्राह्मण सांग वेद अध्ययन नही करते सो सब व्रात्य है अर्थात् अब्राह्मण हैं, यह प्रमाण करणे की इच्छा कर के ब्राह्मण-धर्मपरायण श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री जी ने जो पत्र सांग-वेदाध्ययन हीन अनेक इस देश के ब्राह्मणों के समीप पठाया है, उस में देखा जो[2] उन्हो ने लिखा है—वेदाध्ययन-हीन मनुष्यो को स्वर्ग और मोक्ष होने शक्ता नही।

## गोरा-बादल की बात का गद्यानुवाद ( १८८० के लगभग )

गोरे की आवरत[3] आयेसा वचन सुन कर आप ने खावद की पगडी हाथ में ले कर वाहा सती हुइ सो सीवपुर मे जा के वाहा दोनो भेले हुवे। गोरा-बादल की कथा गुरु के व सरस्वती के मेहरवानगी से पुरन हुइ, तीस वास्ते गुरु कु व सरस्वती कु नमस्कार करता हुं। ये कथा सोल से आसी के साल मे फागुन सुदी पुनम के रोज बनाइ। ये कथा में दो रस हे, वीरारस व सीनगार रस, सो कथा।

धरमसी नाव कायेत[4] तीन का बेटा जटमल नाव कवेसर ने ये कथा सबल गाव में पुरण करी।

## जुगलकिसोर सुकुल ( १८८३ )

(१) एक यशी वकील वकालत का काम करते करते वुड्ढा हो कर अपने दामाद को वह काम सौंप के आप सुचित हुआ। दामाद कई दिन काम कर के एक दिन आया ओ प्रसन्न हो कर बोला, हे महाराज, आप ने जो फलाने का पुराना ओ संगीन

---

[1] इस अवतरण पर बँगला का प्रभाव स्पष्ट है।

[2] जो = कि।

[3] आवरत = औरत, पत्नी। आयेसा = ऐसा।

[4] कायेत = कायस्थ। नाहर ओसवाल वैश्य होते हैं, अनुवादक ने भ्रमवश कायस्थ लिख दिया है।

मोकद्दमा हम सौंपा था सो आज फमठा हुआ यह सुन कर वकील पछता कर के बोला तुमने सत्यानाश किया। उस मोकद्दमे में से हमारे बाप बढे थे तिस पीछे हमारे बाप मरती समय हमे हाथ उठा के दे गये ओ हमने भी उस को बना रक्खा ओ अब तक भली-भॉत अपना दिन काटा ओ वही मोकद्दमा तुम को सौप कर समझा था कि तुम भी अपने बेटे पोते परोतो तक पलोगे पर तुम थोड़े-से दिनो मे उसे खो बैठे।

(२) १९ नवम्बर को अवधबिहारी बादशाह के आवने की तोपे छूटी उस दिन तीसरे पहर को ष्टर्लिंग साहिब ओ हेल साहिब ओ मेजर फिडल ओ रेबिनशा साहिब लार्ड साहिब की ओर से अवधबिहारी की छावनी मे जा कर के बडे साहिब का सलाम कहा ओर भोर होके लार्ड साहिब के साथ हाजिरी करने का नेवता किया। फिर अवध-बिहारी बादशाह के जाने के लिए कानपुर के तले गगा मे नावो की पुलबदी हुई आर बादशाह बडे ठाट से गगा पार हो गवरनर जेनरेल बहादुर के सन्निध गये।

## बुद्धिप्रकाश ( संवत् १६०६ )

इस पश्चिमीय देश मे बहुतो को प्रकट है कि बगाले की रीति के अनुसार उस देश के लोग आसन्न-मृत्यु रोगी को गगा-तट पर ले जाते है और यह नही करते कि उस रोगी के अच्छे होने के लिए उपाय करने मे काम करे और उसे यत्न से रक्षा मे रक्खे वरन् उस के विपरीत रोगी को जल के तट पर ले जाकर पानी मे गोते देते है और 'हरी बोल—हरी बोल' कह कर उस का जीव लेते है।

## राजा शिवप्रसाद

(१) देख कर लोग उस पाठशाला के किते के मकानो की खूबियाँ अकसर बयान करते है और उस के बनने के खर्च की तजवीज करते हैं कि जमा से जियादा लगा होगा और हर तरह से लायक तारीफ के हैं, सो सब दानाई साहब-ममदूह की है, खर्च से दूना लगावट में वह माल्म होता है। (१९०२ वि० के लगभग)

(२) वह कौन सा मनुष्य है जिस ने महाप्रतापी महाराज भोज का नाम न सुना हो। उस की महिमा और कीर्त्ति तो सारे जगत मे व्याप रही है। बड़े-बडे महिपाल उस का नाम सुनते ही काँप उठते है और बडे-बडे भूपति उस के पाँव पर अपना सिर नवाते।. . . उस के दान ने राजा कर्ण को लोगो के जी से भुलाया और उस के न्याय ने विक्रम को भी लजाया।

(३) वेद मे लिखा है कि मनुजी ने जो कुछ कहा उसे जीव के लिए औषधि समझना, और बृहस्पति लिखते है कि धर्म-शास्त्राचार्यो में मनुजी सब से प्रधान और अति मान्य है, क्यो कि उन्हो ने अपने धर्मशास्त्र मे संपूर्ण वेदो का तात्पर्य लिखा है।

(४) हम लोगो को, जहाँ तक बन पड़े, चुनने मे उन शब्दो को लेना चाहिए कि जो आम फहम व ख़ास पसंद हो, अर्थात् जिन को ज़ियादह आदमी समझ सकते है और जो यहाँ के पढ़े-लिखे आलिम-फाज़िल, पंडित-विद्वान्, की बोलचाल मे छोड़े नही गये है, और जहाँ तक बन पडे हम लोगो को हर्गिज गैर-मुल्क के शब्द काम मे न लाने चाहिए।

(५) इस मे अरबी, फारसी, संस्कृत, और अब कहना चाहिए—अंग्रेजी के भी शब्द कंधे से कंधा भिडा कर यानी दोश-ब-दोश चमक दमक और रौनक पावे, न इस बेनर्तीबी से कि जैसा अब गड़बड मच रहा है, बल्कि एक सल्तनत के मानिंद कि जिसकी हदे कायम हो गई हों और जिस का इंतिज़ाम मुन्तज़िम की अक्लमंदी की गवाही देता है।[१]

## राजा लक्ष्मणसिंह

(१) हमारे मत मे हिन्दी और उर्दू दो न्यारी-न्यारी बोली है। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानो और पारसी पढे हुए हिन्दुओ की बोल चाल है।

(२) उसी दिन एक मृगछौना, जिस को मैंने पुत्र की भाँति पाला था, आ गया। आप ने बडे प्यार से कहा कि—आ बच्चे, पहले तू ही पानी पी ले। उस ने तुम्हे बिदेसी जान तुम्हारे हाथ से जल न पिया, मेरे हाथ से पी लिया। तब तुम ने हँस कर कहा कि सब कोई अपने ही संघाती को पत्याता है, तुम दोनों एक ही बन के बासी हो और एक-से मनोहर हो। (१९१९ वि०)

## स्वामी दयानंद

(१) इस के स्थान मे ऐसा समझना चाहिए कि जीवितो की श्रद्धा मे सेवा कर के नित्य तृप्त करते रहना यह पुत्रादिका परम धर्म है और जो जो मर गये हो उन का नही

---

[१] हिंदी भाषा में विदेशी शब्दों को नीचे बिंदी दे कर शुद्ध विदेशी रूप मे लिखने का प्रारंभ राजा साहब ने ही किया।

करना क्यो कि न तो कोई मनुष्य मरे हुए जीव के पास किसी पदार्थ को पहुँचा सकता और न मरा हुआ जीव पुत्रादि से दिये पदार्थों को ग्रहण कर सकता है। (१९३५ वि०)

(२) मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता तो जैसे आजकल के स्वमत की स्तुति, मडन और प्रचार करते और दूसरे मत की निदा, हानि, और बद करने मे तत्पर होते वैसे मै भी होता परन्तु ऐसी बातें मनुष्यपन से बाहर हैं क्यों कि जैसे पशु बलवान हो कर निर्बलों को दुःख देते और मार भी डालते है। जब मनुष्य-शरीर पाके वैसा ही कर्म करते है तो वे मनुष्य स्वभावयुक्त नही किंतु पशुवत् है। और जो बलवान् हो कर निर्बलो की रक्षा करता है वही मनुष्य कहाता है और स्वार्थ-वश हो कर परहानि मात्र करता है वह जानों पशुओं का भी बडा भाई है। (१९३९ वि०)

# वेद और उन का रचना-काल

[ लेखक—पंडित गणेशप्रसाद द्विवेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी० ]

अधिकांश विद्वानो के मत मे वेद भारतवर्ष के ही नही समग्र संसार के प्राचीनतम साहित्य कहे जा सकते है। इस विषय में यद्यपि मतभेद का अंत नहीं है पर इतना निर्विवाद है कि ईसा की उत्पत्ति के लगभग १५०० वर्ष पहले वेदो की रचना पूरी हो चुकी थी। इस लेख मे हम केवल वेदो का साधारण परिचय देंगे और उन के रचना-काल पर प्रकाश डालेंगे।

साधारण रीति से समूचे वैदिक साहित्य को चार श्रेणियों मे विभक्त किया जा सकता है:—(१) छंद, (२) मंत्र; (३) ब्राह्मण, और (४) आरण्यक तथा उपनिषद्। कुछ विद्वान 'छंद' और 'मंत्र' दोनों अलग न मान कर उन को 'संहिता' के अंतर्गत ही मानते हैं। इस प्रकार स्थूल रूप मे 'संहिता', 'ब्राह्मण' और 'सूत्र'—इन तीन भागो मे समग्र वैदिक साहित्य विभक्त होता है।

'वेद' शब्द 'विद्' (जानना) धातु से बना है और इस प्रकार इस का शब्दार्थ 'ज्ञात' होता है। जब कि वेद मनुष्य-जाति-मात्र के अत्यंत प्राचीन साहित्यिक स्तंभ सिद्ध हो चुके है, तब एक प्रकार से प्रत्येक शिक्षित मनुष्य का उन से न्यूनाधिक परिमाण मे परिचित होना कर्तव्य हो जाता है। वेदो का दूसरा नाम 'श्रुति' है। भारतवासी अधिकतर वेद को 'अपौरुषेय' मानते है। हमारे प्राचीन शास्त्रकारो का मत है कि वेद की रचना का ऋषियो को, अपनी विद्या बुद्धि से नहीं, स्वतः समाधि अवस्था मे भान हुआ, वेद नित्य है, वह अनादि-काल से उपस्थित है, और रहेंगे। भिन्न-भिन्न मन्वन्तरो में ज्ञानी ऋषिगण अपने तपोबल से उन की जानकारी प्राप्त कर लेते है और इसी से वेद 'श्रुति' के नाम से प्रसिद्ध है।

मुख्य वेद तीन हैं—ऋक्, यजु और साम। इन्ही को वेदत्रयी कहते है। चौथा अथर्ववेद है। इन चारों के संबध मे विशेष कुछ कहने के पहले यह स्मरण रखना आव-

श्यक है कि कुरान बाइबल या त्रिपिटक आदि की भाँति वेद कुछ व्यक्ति विशेष द्वारा रचित धर्म-ग्रंथ का नाम नहीं है। इन का रचना-काल शताब्दियों में व्याप्त है और सहस्रों वर्ष तक मौखिक रूप में ऋषि-गण अपनी वंशपरंपरा को इसे कंठस्थ कराते आए है और एक दीर्घ काल के बाद इन का अंतिम संकलन प्रथम बार कदाचित् वेदव्यास ने स्वयं अपने शिष्यों की सहायता से किया। 'भागवत' में तो व्यास को वेदों का निर्माता ही कह डाला गया है। कहा है कि महर्षि वेदव्यास ने चतुर्विध याज्ञिक कृत्य को लक्ष्य कर यज्ञ-संतान के लिए वेद की चारों संहिताओं का संकलन किया।[1] फिर कहा है कि उन्हों ने अपने चार शिष्यों को अलग अलग चारों वेदों का विशेषज्ञ बनाया। पैल मुनि ऋग्वेद के ज्ञाता हुए, कवि जैमिनि साम के, वैशम्पायन यजु के और दारुण सुमंत मुनि अथर्व[2] के। इन चारों ऋषियों ने, समय पर अपने उत्तराधिकारियों को वेद का ज्ञान कराया, और फिर परंपरा रूप में वेद की शिक्षा इसी प्रकार भावी ऋषि-संतानों को सहस्रों वर्ष तक मिलती गई।

वेदों का साहित्यिक दृष्टि से एक दूसरा वर्गीकरण भी है और वह विशेष महत्त्व-पूर्ण भी है। प्रत्येक वेद में तीन प्रकार की साहित्यिक रचनाएँ सम्मिलित हैं।

(१) संहिता, या मंत्रों, ऋचाओं, छंदों या गीतों आदि का संग्रह।

(२) ब्राह्मण। ये विस्तृत गद्यात्मक लेखों के रूप में हैं जिन में आध्यात्मिक विषयों तथा भिन्न-भिन्न यज्ञों के संपादन आदि के नियमों की विशद व्याख्या की गई है।

(३) आरण्यक और उपनिषद्। ये कुछ तो ब्राह्मणों के ही अंतर्गत हैं और कुछ स्वतंत्र ग्रंथों के रूप में हैं। इन में अरण्यवासी ऋषियों के मनन और चिन्तन का फल है जो उन्हों ने आत्मा, परमात्मा, जीव, प्राणी, आकाश तथा पृथिवी आदि तत्वों के संबंध में किए हैं। इन्हीं में संस्कृत के सब दर्शनों के सिद्धांत विद्यमान हैं।

---

[1] चातुर्होत्रं कर्मशुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम्
व्यदधाद्यज्ञ संतत्यै वेदमेकं चतुर्विधम्।

भागवत, स्कंध १, अध्याय ४

[2] तत्रर्ग्वेद धरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः
वैशंपायन एवैको निष्णातो यजुषामुत
अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः॥

भागवत, स्कंध १, अध्याय ४

अब नीचे चारो वेदो की सहिताओ का सक्षिप्त परिचय दिया जाता है

## ऋग्वेद-सहिता

प्रत्येक वेद की संहिता तथा उस के ब्राह्मण, और आरण्यक या उपनिषद् अलग-अलग हैं। इन में सब से प्राचीन और महत्त्वपूर्ण अश संहिताएँ ही है और विशेषत ऋग्वेद-सहिता तो निर्विवाद रूप मे वेदों का प्राचीनतम भाग है। बाद के वैदिक तथा वेदेतर पौराणिक आदि साहित्य के अवलोकन से स्पष्ट है कि किसी समय ऋग्वेद-सहिता के कई सकलन या शाखाएँ प्रचलित थीं और भिन्न-भिन्न ऋषि-वश उस के आचार्य थे पर इस समय उस की एक ही शाखा ससार को प्राप्य है और वह है शाकल शाखा। ये शाखाएँ क्यो और कैसे लुप्त हुई यह जरा आगे चल कर कहेगे। इस के पहले ऋग्वेद-सहिता की रूपरेखा का कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेना होगा।

ऋग्वेद-सहिता मे दस मंडल, ८५ अनुवाक्, १०१७ सूक्त तथा १०५८० ऋचाएँ है। ऋचाओ की सख्या के संबध मे मतभेद भी है। ग्यारह और सूक्तो को जो 'वालखिल्य' सूक्त के नाम मे प्रसिद्ध है—मुख्य सूक्तो में सयुक्त कर देने पर इन की सख्या १०२८ होती है।

ऋग्वेद के सब सूक्तो का आविर्भाव किसी एक समय या किसी एक ऋषि द्वारा नही हुआ। प्रथम और दशम मडल के सूक्तों को मिला कर देखने से भाषा, भाव, शैली तथा उपास्य देवता के ध्यान आदि मे महान अतर प्रतीत होता है। प्रथम और अंतिम मडल के बीच मे एक दीर्घकाल तो अवश्य ही व्यतीत हुआ होगा, पर ठीक कितने सौ वर्ष लगे होगे इस का सही अनुमान करने का कोई उपाय नही है। विशेषज्ञो की धारणाओ मे भी बहुत मतभेद है। लोकमान्य तिलक की ज्योतिषीय गणना के अनुसार ऋग्वेद के आदिम सूक्तो तथा ऋग्वेद-ब्राह्मण के रचना-काल के बीच का समय लगभग २००० वर्ष रहा होगा। पाश्चात्य विद्वानो मे केवल जेकोबी इस मत से प्राय सहमत है। दूसरा मत, कम से कम समय का, मैक्समूलर का है। उन का विश्वास है कि सब से प्राचीन मंत्रो और ब्राह्मणों की रचना का अवांतर काल अंतत २०० वर्ष होना चाहिए। इन का विश्वास भाषा, व्याकरण तथा छंद आदि संबंधी परिवर्तनों के आधार पर स्थित है तथा तिलक की आधार-भित्ति ज्योतिष है। अभी तक कोई भी मत एक स्वर से ग्राह्य नही हो

सका है और कदाचित् भविष्य में कभी होगा भी नही पर साधारण पाठक को ऐसे स्थलो पर अगत्या दोनों दूरतम मतो के बीच के एक मध्यम मत को मान कर काम चलाने पर विवश होना पड़ता है। जब कि यह स्पष्ट है कि सूक्तो की रचना समाप्त होने पर भी ब्राह्मणों की रचना सभव हुई होगी तब प्रथम सूक्त और प्रथम ब्राह्मण की रचना का अवातर काल कम से कम हमे ५०० वर्ष मानना पडेगा। आधुनिक वैज्ञानिक रीति से वेदो के सबध मे काम करने वाले अधिकांश विद्वान इस समय इसी धारणा को मान कर चल रहे है।

ऋग्वेदमंत्रो के प्रणेता या द्रष्टा ऋषियो के संबंध मे स्पष्ट उल्लेख कही नही मिलता, तब भी प्रथम, नवम तथा दशम के सिवाय प्रत्येक मडल भिन्न-भिन्न ऋषियो के नाम से प्रसिद्ध है। प्रथम और दशम मडल तो कई ऋषियों के नामों से प्रसिद्ध है। यह गड़बडी केवल प्रथम और दशम मडल मे ही है। अन्य आठों मडलों के ऋषियो के नाम निर्भ्रांत है, और वह क्रम से यह है---(२) गृत्समद, (३) विश्वामित्र, (४) गौतम, (५) अत्रि, (६) भारद्वाज, (७) वशिष्ठ और (८) कण्व। प्रथम मडल के रचयिता के संबंध मे जहाँ कई ऋषियो के नाम लिए जाते है वहाँ शतार्चिन् का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इन नामों का पता हमे महर्षि कात्यायन की सर्वानुक्रमणी से मिलता है। अनुक्रमणियों में प्रथम, दशम और नवम मडल के ऋषियों के सबंध मे जहाँ कई ऋषियों के नाम गिनाए गए है वहाँ स्त्रियो के नाम भी इस सबध मे लिए गए है, यह मार्के की बात है। अब प्रश्न यह उठता है कि वास्तव मे इन नामो और वेद-मत्रो मे क्या संबध है। क्या ये इन के प्रणेता या द्रष्टा है या इन मत्रो के प्रथम उच्चारक या गायक है? पाश्चात्य विद्वान इन नामो को कोई महत्त्व नही देते। उन की धारणा है कि किंवदती या दतकथा के रूप में यह नाम मत्रो के साथ जोड दिए गए है। वेदमंत्रो के वास्तविक प्रणेताओ के नाम अज्ञेय है। हो सकता है कि उक्त नामधारी ऋषियों और उन के बाद उन के वशधरो ने किसी विशेष सूक्तों का गायन या उच्चारण अपना लिया हो और आगे चल कर वे सूक्त उन्ही के नाम से प्रसिद्ध हो गए हैं। अधिकतर पाश्चात्य विद्वान इस विषय मे निर्भ्रांत है कि इन नामो से कोई विशेष प्रयोजन नही सिद्ध होता, क्योकि उन के अनुसार यह बहुत पहले ही सिद्ध हो चुका है कि जो किंवदतियाँ हमे यह नाम बतलाती है वही आगे चल कर मत्रो के कथन से ही मेल नही

खाती [1] और इस तथ्य को सिद्ध करने का श्रेय प्रसिद्ध वैदिक विद्वान ओल्डनबर्ग को प्राप्त है। जो हो, पर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि जो सूक्त इन के नाम से प्रसिद्ध है वह इन की वंशपरंपरा की संपत्ति से हो गए है और पाश्चात्य विद्वानो मे भी कोई-कोई तो इन सूक्तों के आविर्भावक इन्ही को मानते है। मैकडोनल स्पष्ट शब्दों में इन को वेदमंत्रो के रचयिता कहते हैं।

अब रही इन के संग्रह, संकलन या संपादन की बात। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है 'भागवत' मे कृष्णद्वैपायन को वेद का रचयिता माना गया है, पर वास्तव मे इन्हे हम वेदो का प्रथम संकलनकर्ता कह सकते है और उन के इस महान कार्य के महत्त्व को देखते हुए पुराणकारो ने यदि उन्हे वेदों का रचयिता ही मान लिया हो तो कोई उन्हे अधिक दोष नही देगा। 'महाभारत' मे भी महर्षि कृष्णद्वैपायन को वेदो का रचयिता या प्रणेता कहा गया है। 'वेदव्यास'[2] वह इसी लिए कहे गए कि उन्हो ने वेदो का विभाग किया।[3] जो हो इतना कहने मे कोई विशेष असंगति कदाचित् न होगी कि वेदव्यास ने ही सब से पहले अपने शिष्यो की सहायता से वेदमंत्रों को एकत्र किया। उन के बाद भी वेद का संकलन या संपादन पतंजलि और शौनक के काल तक होता आया है।

अब जब यह स्पष्ट है कि व्यास से ले कर पतंजलि और शौनक आदि के समय तक वेदो का संकलन होता गया तब यह भी मानना पड़ेगा कि ऐसी स्थिति मे सूक्तो के पाठ में अनेक प्रकार के परिवर्तन होना अनिवार्य हो उठा होगा। और यह हुआ भी। पर ज्ञानी ऋषिगण इस विपत्ति के लिए मानो तैयार बैठे थे। उन्हो ने भविष्य मे सदा-सर्वदा के लिए पाठों की शुद्धता स्थायी रखने के लिए ऐसे उपाय निकाले जिन्हे देख कर आज भी विद्वत्समुदाय चकित है। वेद के मौलिक पाठ को सदा शुद्ध रखने और कभी भी उस मे किसी प्रकार के प्रक्षिप्तांश घुसने की आशंका को सदा के लिए निर्मूल कर देने के लिए उन्हो ने संहिता की दो पाठ प्रणालियाँ प्रचलित की। पहली तो

**संहिता-पाठ**

---

[1] विंटरनीज, हिस्ट्री अव् इंडियन लिटरेचर', पृष्ठ ५८
[2] मेकडानल 'हिस्ट्री अव् संस्कृत लिटरेचर', पृष्ठ ४१
[3] वेदान् विव्यास यस्मात् स वेदव्यास इतीरतः।
तपसा ब्रह्मचर्येण व्यस्य वेदान् महामतिः॥

साधारण पाठ-प्रणाली है जिस में 'अग्निमीळे पुरोहितम्' का पाठ ज्यों का त्यों "अग्निमीळे पुरोहितम्" यही रहता है। इस को 'निर्भुज'-संहिता कहते हैं। दूसरी पाठ-प्रणाली जिस में मूल का पाठ विकृत रूप से होता है उसे 'प्रतृण'-संहिता कहते हैं। इस में कई प्रकार के पाठ हैं, जैसे—पद-पाठ, क्रम-पाठ, जटा-पाठ तथा घन-पाठ। पद-पाठ वह है जिस में प्रत्येक पद अलग-अलग और कुछ विराम के साथ उच्चरित होता है, जैसे—'अग्निम्, ईळे, पुरःहितम्, यज्ञस्य, देवम्, ऋत्विजम्' इत्यादि। क्रम-पाठ में आगे आने वाला प्रत्येक पद थोड़े विराम के बाद फिर से पढ़ा जाता है, और तब उस के बाद अगला पद उच्चरित होता है और यही क्रम बराबर चलता रहता है, जैसे—'अग्निम् ईळे, ईळे पुरोहित, पुरोहितम् यज्ञस्य, यज्ञस्य देव, देव ऋत्विजम्'। जटा-पाठ अपने अगले और पिछले दोनों पदों की क्रम से पुनरावृत्ति करता हुआ चलता है, जैसे—'अग्निम् इले, ईळे अग्निम् अग्निम् ईळे, ईळे पुरोहित, पुरोहित ईळे, ईळे पुरोहित' इत्यादि। इस से भी जटिल घन-पाठ है। वह यों चलता है—'अग्निम् ईळे ईळे अग्निम् अग्निम् ईळे पुरोहित ईळे अग्निम् अग्निम् ईळे पुरोहित ईळे पुरोहित, पुरोहित ईळे ईळे पुरोहित' इत्यादि। यह केवल उदाहरण के लिए इन पाठों की जटिलता का आभास मात्र कराया गया। इन की वास्तविक जटिलता का पता तो किसी साम-गायक के मुख से सुनने पर ही चल सकता है। इस प्रकार जहाँ प्रत्येक पद एक-एक दो-दो बार घुमा-फिरा, उलट-पलट कर पढ़ने की प्रणालियाँ प्रचलित हैं, पदों की ऐसी मोर्चाबंदी है, वहाँ कभी कोई चोर घुस सकता है?

**शाखाएँ**

पाठों के संबंध में इतनी चौकसी रखने पर भी वेद के एक से अधिक पाठ प्रचलित हुए। पर वह भी एक अभिनव रीति से। जिस वंश में जिस पाठ-प्रणाली का चलन हुआ उस में तो फिर दूसरा कोई कुछ प्रक्षिप्त नहीं कर सका, क्योंकि यह नितांत असंभव था। पर किसी दूसरी वंशपरंपरा को, किसी अन्य पाठ-प्रणाली को अपनाकर तदनुसार संहिता-पाठ करने और अपने वंशजों को वैसा ही कंठस्थ करा देने से कौन रोक सकता था? और हुआ भी ऐसा ही। इस के फल-स्वरूप प्रत्येक संहिता की बहुसंख्यक शाखाएँ प्रचलित हुईं। जिस ऋषि ने जिस नवीन प्रणाली के अनुसार संहितापाठ का प्रचार किया वह उस की (उस ऋषि की) "शाखा" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी प्रकार चारों संहिताओं की अनेक शाखाएँ प्रचलित

हुई। पर अब उन के केवल नाममात्र शेष रह गए हैं। और न जाने कितने के तो नाम भी लुप्त हो गए होगे। इन शाखाओं की संख्या का पता चरणव्यूह से चलता है। दोनो मे मतभेद भी है। शौनक के अनुसार ऋग्वेद की ५, यजु की ८६, साम की १००० तथा अथर्व की ९ शाखाएँ प्रचलित थी। परंतु पतंजलि ऋक् की २१ और यजु की १०० शाखाएँ बताते हैं। इन के अनुसार सर्ववेदो की शाखाओं की संख्या (२१+१००+१०००+९) ११३० हुई। स्मरण रहे कि वेदो के इतने संस्करण (रिसेंशन) किसी काल मे प्रचलित थे और लोगो ने सहस्रो वर्ष तक उन्हें कंठाग्र रक्खा था। विस्तार मे यह साहित्य कितना प्रकांड रहा होगा, इस का अनुमान करने का भी साहस नही होता।

अब ऋग्वेद की केवल एक शाखा प्रचलित है, और वह है शाकल्य, अर्थात् शाकल मुनि की शाखा। चरणव्यूह मे ऋग्वेद की जो पाँच शाखाएं बताई गई हैं उन के नाम ये हैं—शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शाङ्खायन, और माण्डूकायन। इन मे प्रधान तो शाकल शाखा है ही, पर अन्यत्र बाष्कल और आश्वलायन आदि चारो ऋषियो को शाकल का शिष्य माना गया है। वास्तव मे बात यही तक नही है। सिद्धांत यह है कि जितनी शाखाएँ होगी उतनी ही संहिताएँ, उतने ही उन के ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् और उतने ही सूत्र होगे। साहित्य के इस विस्तार का कुछ ठिकाना है? परंतु अब ऐसा नही रहा। किसी शाखा-विशेष की अपनी संहिता है तो ब्राह्मण दूसरी शाखा का। किसी के अपने सूत्र हैं तो आरण्यक या उपनिषदे अन्य मिला ली गई हैं।

'ऋक्' या 'ऋचा' शब्द का अर्थ होता है प्रशंसात्मक पद्य। ऋग्वेद में मुख्यत अग्नि, इन्द्र तथा वायु आदि प्राकृतिक देवताओ की प्रशंसा मे कहे हुए मौलिक पद्यो का समावेश है। केवल दशम मंडल मे अंशत ऐहलौकिक विषयो मे संबंध रखने वाले कुछ पद्य हैं। शेष मंडलो के सूक्त इंद्र आदि प्राकृतिक देवताओ को लक्ष्य कर कहे गए हैं। इन मे उन के महान् और अलौकिक कार्यो की प्रशंसा की गई है और उन से वरदान के रूप मे गोधन, संतति, वैभव, युद्ध मे विजय, तथा दीर्घायु आदि की याचना की गई है। ये पद्य यज्ञ-काल मे घृत और सोमरस की आहुति के साथ-साथ पढे जाते थे। इन पद्यो की कविता, छंद, भाषा, तथा व्याकरण आदि के संबंध में यहाँ पर केवल इतना ही कहेगे कि सभ्यता के उस पुराकाल मे जब कि

**ऋग्वेद का विषय**

संसार में पठन-पाठन का युग कदाचित ही सम्यक उपस्थित हुआ हो ऋग्वेद के मंत्रों में विचारों तथा भावों की वह सुंदरता और स्वच्छता तथा भाषा और छंद पर वह अधिकार देखने में आता है जो सहस्रों वर्ष बाद भी अन्यत्र दुर्लभ रहा।

ऋग्वेद के मंत्रों की कविता का सौंदर्य सब जगह वैसा नहीं है। खास कर जहाँ यज्ञों की चर्चा अधिक है, या जब अग्नि और सोम की प्रशंसा में छंदरचना हुई है, कविता का सौंदर्य वैसा नहीं हो पाया है। ऋग्वेद की कविता के सुंदर होने का एक यह भी कारण है कि इस में अधिकतर इंद्र, सोम आदि प्राकृतिक देवताओं की ही प्रशंसा की गई है, और इस लिए कि ये सब देवता प्रकृति देवी के ही अंग हैं, और उन की प्रशंसा में कुछ कहने के लिए मनोरम प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन अनिवार्य हो जाता है। ऐसी अवस्था में प्रकृति से संबंध रखने वाली सहज सुंदर कल्पनाएँ स्वतः उन ऋषियों के मस्तिष्क से उठती थीं, और वे जैसा सोचते थे सरलता से ठीक वैसा ही लिख देने की क्षमता रखते थे। यही कारण है कि ऋग्वेद की कविता में अभिनव शिशु का सहज सुंदर भाव और विचारों का वह भोलापन आगे चल कर दुर्लभ हो गया।

ऋग्वेद के अधिकतर छंद देवताओं की प्रशंसा में कहे गए हैं इस लिए उन का विषय भी मुख्यतः पुराकालीन देवताओं से ही संबंध रखता है। भावों में आदिम-कालीन मनुष्य की विचारधारा का ही प्राधान्य है। इन देवताओं में सब से अधिक प्रशंसा की गई है इंद्र, अग्नि, वायु, सूर्य और उषा की। नवें मंडल में सोम और सोमरस की प्रशंसा में ही सब कुछ कहा गया है। ऋग्वेद में सोम का एक अपूर्व महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह एक लता होती थी जिस के रस में नशा होता था और इसे आर्यगण दूध में मिला कर पीते थे, विशेष कर यज्ञ आदि उत्सवों के अवसर पर। यह देवताओं का पेय समझा जाता था और उन का विश्वास था कि यज्ञ में इस की आहुति से उन की परम तृप्ति होती है, और यज्ञ-कर्ता को सब लौकिक सुख जैसे गोधन और युद्ध में विजय आदि प्राप्त होते हैं।

## अन्य वेद

अन्य वेदों के विषय से अवगत होने के पहले यज्ञों के पुरोहितों का कर्तव्य जान लेना आवश्यक है। वेदों के अधिकतर मंत्रों का संबंध यज्ञों से है। केवल ऋग्वेद में ही बहुत से ऐसे मंत्र हैं जिन का संबंध वास्तविक यज्ञ-कर्म से नहीं है। यज्ञ के समय ऋग्वेद मंत्रों का उच्चारण करने वाला

**यज्ञ के पुरोहित**

पुरोहित 'होता' कहलाता था परंतु ऋग्वेद के सभी मंत्र 'होता' के काम के लिए ही नहीं होते थे। बात यह है कि ऋग्वेदसंहिता के बहुत से सूक्त उस पुरा-काल के हैं, जब यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण का प्रभाव आर्यावर्त में नहीं के बराबर था। हाँ, जब ऋग्वेदसंहिता का संकलन या संग्रह पूरा हुआ, तब देश अवश्य ही ऋत्विज पुरोहितों के प्रभाव के अंदर आ गया था, और उस समय तक आर्यों के धार्मिक अनुष्ठान में यज्ञों का एकाधिपत्य हो चुका था।[1] इसी लिए उस समय यज्ञ कार्य के भिन्न-भिन्न अंगों के भिन्न-भिन्न श्रेणी के पुरोहितों द्वारा संपादित कराने की व्यवस्था की गई। सभी एक ही वर्ग के पुरोहित द्वारा कराना ठीक नहीं समझा गया। यज्ञ में सब से उच्चस्तर का कार्य 'होता' का था, जो कि यज्ञ के समय भिन्न-भिन्न आहूत देवताओं की प्रशंसा में ऋग्वेद के मंत्रों का उच्चारण करता था।

**होता**

'अध्वर्यु' उस श्रेणी के पुरोहितों को कहते थे जिन के ऊपर यज्ञ के स्थूल विधान का भार सौंपा जाता था। इन का वास्तविक क्षेत्र यज्ञ का कर्म-कांड था और इन के कार्य-कलाप से संबद्ध मंत्रों का संग्रह यजुर्वेद में है।

**अध्वर्यु**

यज्ञ के समय सोमवेद के छंदों के गायक पुरोहित 'उद्गाता' कहलाए। इस प्रकार गाए जाने वाले छंदों के संग्रह का नाम ही सामवेद है।

**उद्गातृ**

अथर्ववेद के मंत्रों के उच्चारक पुरोहित 'ब्राह्मण' कहलाए। परंतु आपस्तंब मुनि ने अपने 'परिभाषा-सूत्र' में कहा है कि ब्राह्मण का संबंध सभी वेदों से है।[2]

**ब्राह्मण**

यह तो हम देख ही चुके हैं कि यजुर्वेद के मंत्र अध्वर्यु श्रेणी के पुरोहितों के काम के लिए हैं। अब यहाँ पर कुछ विस्तार से अध्वर्यु कृत्य समझ लेने से यजुर्वेद का विषय

---

[1] मैक्समूलर, 'ए हिस्ट्री अव् एंशेंट संस्कृत लिटरेचर, पृ० २४७

[2] स त्रिभिर्वेदै विधीयते।३। ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदैः।४। ऋग्वेदेन होता करोति।१६। सामवेदेनोद्गाता।१७। यजुर्वेदेनाध्वर्युः।१८। सर्वैर्ब्रह्मा।१९।

समझने में बहुत सुविधा हो जायगी अध्वर्युओं का काम होता था यज्ञशाला की भूमि की नापजोख, वेदी का निर्माण, यज्ञ-संबंधी कलसों की रचना तथा स्थापना, काष्ठ तथा जलादिक का आनयन, हवन-सामग्री का संग्रह, यज्ञकुंड में अग्नि, दान तथा बलिपशु का आहरण, और उस का वध आदि। मैक्स-मूलर का निर्णय इन अध्वर्युओं के संबंध में यह है, कि ये सब से निम्न श्रेणी के पुरोहित होते थे और इन का कृत्य बुद्धि से अधिक शारीरिक श्रम से संबंध रखता था।[1] इन का कार्य अन्य पुरोहितों द्वारा अपेक्षाकृत निम्नश्रेणी का समझा जाता था और यही कारण था ब्राह्मणेतर भी अध्वर्युकार्य के लिए सम्मिलित किए जा सकते थे। बलि-पशु को मारने वाला पुरोहित नहीं होता था और ब्राह्मण होना भी उस के लिए आवश्यक नहीं था। अध्वर्युओं को उतने मंत्र भी नहीं कंठस्थ रखने पड़ते थे जितने अन्य ऋत्विजों को। और इन को प्राय यज्ञ-काल में मंत्रों के शुद्ध उच्चारण में कठिनाई होती थी। इस लिए ऋषियों ने इन को यज्ञकर्म के समय उच्चस्वर से मंत्रोच्चारण में भी रिहाई देदी, इस भय से कि कहीं अशुद्ध पाठ श्रवण-गोचर होने से यज्ञ अपूर्ण न हो जाय। पर छोटे से ले कर बड़े तक यज्ञ-संबंधी प्रत्येक कृत्य का एक मंत्र होता था, और ऋत्विज चाहे अध्वर्यु हो या और कोई, उस कृत्य के संपादन के समय वह मंत्र पढ़ना अनिवार्य था। इस समस्या को हल करने के लिए ऋषियों ने यह नियम निकाला कि अल्पज्ञ अध्वर्यु अपने कर्म के समय धीरे-धीरे अपना मंत्र पढ़ ले, जिस से कि और किसी को उन का पाठ श्रवणगोचर न हो। उच्च स्वर से वह उसी समय बोल सकता था जब उसे कार्यवश किसी दूसरी श्रेणी के पुरोहित से बोलना पड़ता था।

**यजुर्वेद**

अध्वर्यु श्रेणी के पुरोहितों के काम में आने वाले सब मंत्रों का आगे चलकर एकत्र संकलन हुआ और इसी संग्रह का नाम हुआ यजुर्वेद। यजुर्वेद के दो विभाग हैं। एक कृष्ण-यजुर्वेद या तैत्तिरीय-संहिता के नाम से प्रसिद्ध है, और दूसरा शुक्ल-यजुर्वेद या वाजसनेयी-संहिता कहलाता है। दोनों संहि-ताओं के विषय तो प्राय: समान हैं पर कुछ बातों में दोनों में पार्थक्य भी है। प्रधान भेद यह है कि तैत्तिरीय-संहिता में होता और होता के कृत्य को विशेष महत्त्व दिया गया है।

**तैत्तिरीय-संहिता**

तैत्तिरीय-संहिता के प्रकाशकर्त्ता हिंदू शास्त्रकारों के अनुसार याज्ञवल्क्य मुनि थे। यहाँ पर

[1] मैक्समूलर, पृ० २४९

यह जान लेना आवश्यक है कि तैत्तिरीय-सहिता वास्तव में यजुर्वेद की एक शाखा है, और जैसे ऋग्वेद की सब शाखाओ में अब केवल शाकली शाखा रह गई है, उसी प्रकार यजुर्वेद की भी किसी समय अनेक शाखाएँ प्रचलित थी जिन मे बहुतों के तो अब नाम भी लुप्त हो गए पर कृष्ण-यजुर्वेद की पूरी एक मात्र तैत्तिरीय-सहिता रह गई है । इस की और शाखाएँ मिलती है पर वे अपूर्ण है । वह है कठी और मैत्रायणी शाखा । इन दोनो सहिताओ मे केवल मत्र-भाग मिलता है ब्राह्मण-भाग नही । तैत्तिरीय-संहिता मे, जैसा कि नियम है, मत्र और ब्राह्मण दोनो अलग-अलग है किंतु उक्त सहिताओं मे ऐसा नहीं है । इन मे प्रारभ मे कुछ मंत्र कह कर उसी प्रपाठक मे ब्राह्मण भी कह डाला गया है । फिर किसी-किसी काड मे कहीं दोनो भाग एकत्र वर्णित हैं और कही अलग ।

तैत्तिरीय-सहिता का विभाग कांड, प्रपाठक और अनुवाक्, इन नामो से किया गया है । इस मे सात कांड और इस के ब्राह्मण मे ३ काड या अष्टक हैं । सहिता मे ४४ प्रपाठक और ६५१ अनुवाक् है । ब्राह्मण में २५ प्रपाठक और ३०८ अनुवाक् हैं ।

मैत्रायणी और कठ-संहिता में थोड़ा ही अंतर है । प्रसिद्ध वेदज्ञ श्रोडर ने मैत्रा-यणी शाखा को प्रकाशित कराया है, पर पूरा नही । जितना अश उन्हो ने प्रकाशित कराया है उस मे ४ काड और ५४ प्रपाठक है । इस का जो आरण्यक भाग है उस मे १२ प्रपाठक है ।

यजुर्वेद के आकार-प्रकार को समझने में इस कारण और कठिनता होती है कि ऋग्वेद की कात्यायनीय सर्वानुक्रमणी की भाँति इस का कोई विवरण-ग्रंथ नही प्राप्त है । इसी से यजुर्वेद के अनुवाको के ऋषियो के नाम भी अज्ञेय हो रहे है । केवल काडो के ऋषियो की पूजा का कही-कहीं वर्णन है ।

यजुर्वेद का दूसरा विभाग वाजसनेयी-सहिता के नाम से प्रसिद्ध है । इस की दो शाखाएँ है---माध्यन्दिनी और कण्व, पर अधिक प्रचलित माध्यन्दिनी शाखा है । इस संहिता मे प्रथम से लेकर अठारह अध्याय तक मौलिक मत्र है, शेष कृष्ण-यजुर्वेद और कुछ ऋग्वेद के भी है । इस के प्रथम भाष्यकार उव्वट और द्वितीय महीधर के अनुसार इस मे ३०३ अनुवाक् है । इस मे अध्याय ४० और १९७५ (मतांतर से १९७६) काडिकाएँ या मत्र है । महीधर-भाष्य और कात्यायन की अनुक्रमणी से विदित होता है कि २५-३५ अध्याय 'खिल' ऋषियो के नाम से कहे हुए भी इस में है । इस संहिता का ब्राह्मण शतपथ है । माध्यन्दिनी

**वाजसनेयी-संहिता**

शाखा में पितृपिंड यज्ञ को छोड़ कर शेष नौ काडों तक संहिता के अनुसार ही ब्राह्मणों का भी रूप है। शतपथ ब्राह्मण में सात कांड हैं और इस के प्रथम १० अध्यायों में कृष्ण-यजुर्वेद की बहुत सी बातों की पुनरुक्ति है। १०—१८ अध्याय तक यज्ञ की वेदी-रचना का विस्तृत वर्णन है। १९—२१ तक सोम तथा सोमरस प्रस्तुत करने का विवरण है, फिर २०—२५ तक में अश्वमेध का वर्णन है। शेष अध्यायों में विविध विषय हैं। पुरुषमेध यज्ञ का भी वर्णन इस संहिता में है। यह मार्के की बात है कि ऋग्वेद-संहिता में पुरुष-मेध यज्ञ का उल्लेख कहीं नहीं है। प्रसिद्ध 'पुरुषसूक्त' में ही नरमेध का विवरण आता है। उसी अध्याय में बलि देने योग्य १८४ प्रकार के मनुष्यों का वर्णन है।

मैकडानल आदि पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि सामवेद के मंत्र ऋग्वेद से ही लिए गए हैं। परन्तु यदि ऐसा है तो उसे दूसरा वेद कहने की क्या आवश्यकता ? बात असल में यह है कि गायन ही साम की विशेषता है। मंत्र तो उस में ऋग्वेद के अवश्य है, पर उन के कुछ विशेष नियमों के साथ उच्चारण और गायन को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है कि साम की एक स्वतंत्र सत्ता स्वीकार कर उस की अलग संहिता और शाखाएँ निकली और फिर उस के पृथक् ब्राह्मण और आरण्यक आदि भी बने। शाखाएँ सामवेद की सब से अधिक कही जाती है। प्राचीन आचार्यों के अनुसार सामवेद की एक सहस्र शाखाएँ प्रचलित थी। परंतु इस समय इस की तीन शाखाएँ जीवित हैं—(१) कौथुमी, (२) जैमिनीया, और (३) राणायनीया। इन में मुख्य कौथुमी शाखा है और इस के गायक ब्राह्मण गुजरात में अब भी बहुत हैं, पर दिन-प्रतिदिन उन की संख्या घटती जा रही है। काशी में भी इस शाखा के साम-गायक गुजराती ब्राह्मण बहुत से हैं, पर आधुनिक युग में प्रोत्साहन के अभाव और जीविका के संघर्ष से इन की संतति अब दूसरे व्यवसाय अपना रही है। महाराष्ट्र में राणायनीया शाखा के कुछ गायक वर्तमान कहे जाते हैं पर यह संख्या में बहुत थोड़े है। इस से भी छोटी संख्या है जैमिनीया शाखा के गायकों की। इस के इने-गिने गायक मदरास और कर्णाटक प्रांत के कुछ द्रविड ब्राह्मण है। कहा जाता है कि द्रविडों में न्यूनाधिक संख्या में तीनों ही शाखा के गायक पाए जाते हैं। इन में से जैमिनीया शाखा को हालेड के प्रसिद्ध वैदिक विद्वान डबल्यू कैलेंड ने संपादित कर प्रकाशित कराया है।

**सामवेद-संहिता**

इन म से कौथुमी शाखा के ग्रथ हैं—सहिता ताण्डय-ब्राह्मण षडविशब्राह्मण तथा सामविधान ब्राह्मण, छान्दोग्य-उपनिषद्; मशक-कल्पसूत्र, कात्यायन-श्रौतसूत्र तथा गोभिलगृह्यसूत्र। इस सहिता के ब्राह्मण कई प्रसिद्ध है पर प्रचलित उक्त तीन ही है, और इन सब मे मुख्य है ताण्डय-ब्राह्मण।

कौथुमी शाखा की सहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषद राणायनीय शाखा वालो को भी मान्य है, केवल श्रौत तथा गृह्यसूत्र इस के अपने अलग है, और वह है द्राह्यायण-श्रौतसूत्र तथा खदिर-गृह्यसूत्र।

जैमिनीया शाखा के ग्रथ है—जैमिनि-सहिता, जैमिनि-ब्राह्मण, केनोपनिषद्, जैमिनि-उपनिषद्-ब्राह्मण, जैमिनि-श्रौतसूत्र तथा जैमिनि-गृह्यसूत्र।

सामवेद मे कुल २१ अध्याय, ६ आर्चिक, ८९ साम, और १८९३ (मतांतर से १८२४) मत्र है।

यज्ञ मे देवताओ की उपासना मे रत ब्राह्मण-गण जिन ऋचाओ को वैदिक नियमानुसार गाया करते थे उन को साम कहते है। परतु साम किस प्रकार गाया जाता था इस की भी ठीक जानकारी प्राप्त करना इस समय असंभव हो गया है। सामवेद के कुछ सूक्तो से इस परम महत्त्वपूर्ण विषय पर कुछ क्षीण आलोक-मात्र पड़ता है, पर स्पष्ट कुछ जानना असंभव हो गया है। सौभाग्य से जो कुछ थोड़े से सामगायक देश मे विद्यमान भी है वह सिर्फ़ गा सकते है। परपरा से उन के यहाँ सामगान होता आया है। जैसा बाप ने गाया वैसा बेटे ने, पर उस गायन के सिद्धात क्या है, नियम क्या हैं, स्वर, श्रुतियाँ, तथा लय, मात्रा आदि जो वह लोग लगाते है, वह कहाँ, क्यों, और किस हिसाब से, यह वह लोग नही बता सकते। वर्तमान सगीत मे जिन सात स्वरो का प्रयोग होता है वह उस समय थे या नहीं यह नही कहा जा सकता। 'छादोग्योपनिषद्' मे यह कथन मिलता है कि अङ्गिरस ने देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण को वेदांत-दर्शन की शिक्षा देते समय सामवेद का गायनतत्व भी बतलाया था। और वर्तमान समय मे सगीत की जो चार मुख्य गायन-पद्धतियाँ प्रचलित है उन मे से एक के आचार्य श्रीकृष्ण भी है। परतु उस वर्तमान सगीत-पद्धति और प्राचीन सामगान का तुलनात्मक सबध खोज निकालने का कोई उपाय नही है। परंतु 'महाभारत' और 'हरिवश' से इस बात का पता चलता है कि कृष्ण ने एक नई

सामगान

शिक्षापद्धति का आविष्कार किया था जिस का नाम छालिक्य पड़ा और जिसे यादवो ने खूब अपनाया। शतपथ-ब्राह्मण और 'छांदोग्योपनिषद्' इत्यादि मे कुछ फुटकर बातो का पता चलता है। 'नासामयज्ञो भवति' (बिना साम के यज्ञ नही होता), 'नवा हिंकृत्य साम गीयते' (बिना हिंकार के सामगान नही होता), इत्यादि। 'छांदोग्योपनिषद्' से ज्ञात होता है कि एक साधारण सामगीत पाच अशो मे विभक्त था—हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ प्रतिहार, और निधान। इन मे 'हिंकार' तो स्पष्टत: प्रथम स्वर का उच्चारण जान पडता है। गवैये जैसे पहले कुछ देर तक आ . कार के तब गायन प्रारभ करते है उसी प्रकार सामगान के आरभ में हिंकार की प्रथा रही होगी। यह तो हम 'छांदोग्योपनिषद्' से जानते है कि सामगायी प्रारभ मे कुछ देर तक स्थिर भाव से 'ॐ' का उच्चारण करते थे, जैसे आधुनिक उस्ताद पहले स्वर क़ायम करते है। 'हिंकार' के अतिरिक्त 'उद्गीथ' आदि अन्य चार प्रश्नो की तुलना क्रम से वर्तमान ध्रुपदगायक के चार अग—स्थायी, अंतरा, सचारी, तथा आभोग से, किसी प्रकार की जा सकती है। कोई-कोई वर्तमान सगीतशास्त्र के विद्वान 'निधान' से 'तान' का मतलब निकालते है। 'म्यूजिक अव् हिंदोस्तान' नामक सगीत-ग्रथ के रचयिता स्ट्रैंगवे साहब की भी यही राय है[१]। आप की धारणा है कि वर्तमान हिंदू सगीतपद्धति मे प्रचलित राग-रागिनियो मे सामगान नही होता था। और सब बातो को देखते हुए यह धारणा ठीक भी जान पडती है। प्रचलित राग-रागिनियो की उपज ईसा के जन्म के बहुत दिन बाद हुई है, यह निश्चय है।

सामगान दो मुख्य अवसरो पर हुआ करता था। एक तो यज्ञ मे देवताओ के आराधन, विशेषत. सोम की उपासना और सोमरस के तैयार करते समय, और दूसरा चद्रलोक मे निवास करने वाले पूर्वजो की पूजा करते समय। भीष्म पितामह के शव-दाह के अवसर पर सामगान का उल्लेख 'महाभारत' मे मिलता है।

इस सामगायन के सबंध मे कुछ विस्तार से जानने के लिए—ऋक्-प्रातिशाख्य, वृहद्देवता, तैत्तिरीय-ब्राह्मण, सामविधान-ब्राह्मण, पुष्य-सूत्र, सामतत्र, तथा नारद-शिक्षा आदि ग्रथ देखने चाहिएँ।

अथर्ववेद का अधिकाश ऐंद्रजालिक, रोग तथा शत्रुनाश आदि से सबध रखने वाले

---

[१] पृ० २४६

मत्रो से व्याप्त है इस के आदि सग्रहकर्ता व्यास नहीं कहे गए ह इस के

अथर्ववेदसंहिता

में प्रथम स्थान पिप्पलाद मुनि का कहा जाता। इन्हो ने उपर्युक्त प्रकार के जादू-टोना आदि से सबध रखने वाले प्राचीनतम मत्रो का संग्रह कर के उन के साथ कुछ ऋग्वेद के मंत्रो को भी मिला दिया और इस प्रकार यह चौथी सहिता तैयार की। इस में के बहुत से ऐद्रजालिक मंत्र तो ऋग्वेद के मत्रो से भी पुराने कहे जाते हे और ऐसा होना स्वाभाविक भी है। क्योकि वे मंत्र आर्यो के आर्यावर्त मे पदार्पण करने से बहुत पहले से इस देश के आदिम-निवासियो में प्रचलित रहे होगे, उन मंत्रो का विषय ही इस बात की गवाही देता है। अथर्ववेद का पूर्वनाम 'अथर्वाङ्गिरस' था। अङ्गिरस प्राग्वैदिक काल से ही घोर ऐन्द्रजालिक के रूप में ज्ञात थे। इस से यह स्पष्ट है कि अथर्ववेद के कुछ मत्र ऋग्वेद मे भी पुराने है। अथर्ववेद मे इस वेद का नाम एक जगह अथर्वाङ्गिरस कहा गया है, फिर उसी मे आगे चल कर अथर्व और अङ्गिरस दो अलग-अलग ग्रथ माने गए है। यथा-संभव ये दोनो ही दो पृथक् ऐद्रजालिक अथवा तांत्रिक थे। एक पाश्चात्य विद्वान का कथन है कि अथर्वण मत्र उच्च विचार के और लोकोपकारार्थ है। पर अङ्गिरस मत्र मारण, उच्चाटन, आदि अहित के लिए ही है। इसी से ऋग्वेद काल मे अङ्गिरस घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे यहाँ तक कि 'अथर्वाङ्गिरस' नाम मे से 'अङ्गिरस' हटा दिया गया और केवल 'अथर्व' ही के नाम से यह वेद प्रसिद्ध किया गया।

परतु अथर्वण को विदेशी बताया जाता है। पाश्चात्य विद्वान इस सबध मे अधिक एकमत है। वे अथर्वण को मध्य-एशिया का निवासी मानते है। इस का एक कारण तो यह कहते है कि 'जेद आवेस्ता' मे 'अथर्वण' शब्द का अर्थ पुजारी किया गया है और इन दिनों ईरान में इंद्रजाल का प्रचार भी बहुत अधिक था। दूसरा कारण 'महाभारत' का वह उल्लेख हो सकता है जिस मे—भृगु, अङ्गिरस, कश्यप और वशिष्ठ यही चार ब्राह्मणों के आदि-परिवार कहे गए है और जिस मे अथर्वण का नाम नही है। इस वेद की एक प्रतिशाखा और दो अनुक्रमणियाँ है। गोपथ इस का ब्राह्मण तथा कौशिक और वैतान इस के गृह्य और श्रौत सूत्र है। इस की ९ शाखाएँ प्रसिद्ध है, और उन मे से इस समय प्राप्य दो ही शाखाएँ है—पैप्पलाद और शौनकीय। इस की सहिता में कुल २० काड, प्राय ७३० सूक्त और लगभग ६००० मत्र है, जिन मे से प्राय १२०० मत्र ऋग्वेद

संहिता में विशेष कर दसवें पहले और आठवें मंडल में पाए जाते हैं। बीसवें कांड के तो प्राय. सभी मंत्र ऋग्वेद में मिलते हैं। अथर्ववेद के उपनिषदों की संख्या प्राय २०० बताई जाती है जिन में से अधिकांश अप्राप्य हैं। प्रश्न, मुण्डक, और माण्डूक्य, ये तीन उपनिषद् इस के बहुत प्रसिद्ध हैं।

अथर्ववेद के संबंध में कुछ दो प्रकार की परस्पर-विरोधिनी धारणाएं विद्वानों में भी प्रचलित हैं। एक तरफ़ तो मुख्य वेदों में अथर्ववेद का स्थान भी नहीं है। 'वेदत्रयी' से अलग है ही। दूसरी ओर सब से पुराना 'ज्येष्ठ वेद' यही कहा जाता है। दोनों ही ओर के प्रमाण प्राय समान-रूप से ही प्रबल हैं। यहाँ पर इस विषय पर अधिक कुछ कहने का स्थान नहीं है। इस के लिए एक स्वतंत्र लेख की आवश्यकता है। अब वेदों के समय के बारे में अति-संक्षेप में कुछ बातें कहनी हैं।

## ऋग्वेद का काल-निर्णय

वैदिक साहित्य इतना विस्तृत, इतना महान, और साथ ही इतना जटिल और सर्वतोमुखी है कि समष्टि रूप से थोड़े से स्थान में सब का परिचय देने का प्रयास जरा दुस्साहस का काम है। जो हो, किंचित् परिचय ऊपर दिया गया है। वेदों के रचना-काल के संबंध में दो बातें यहाँ कहनी हैं।

यद्यपि यह सब जानते हैं कि वेदों की रचना-काल का प्रश्न संसार के कुछ उन प्रश्नों में से है, जिन का कोर-किनारा करने की आशा मनुष्य-जाति प्राय त्याग चुकी है, पर तो भी और नहीं तो उस प्रश्न की जटिलता और दुरूहता का ही इतिहास जानने के लिए एक बार शिक्षित समुदाय के सम्मुख विद्वत्समुदाय द्वारा इस प्रश्न के संबंध में अब तक की हुई जाँच-पड़ताल का सारांश रखता हूँ।

आरंभ में ही यह कह देना होगा कि हिंदू शास्त्रकार वेद को सदा से 'नित्य' तथा 'अपौरुषेय' मानते हैं। वेदों के अपौरुषेय होने के संबंध में मीमांसकों और नैयायिकों में थोड़ा मतभेद है। मीमांसा के अनुसार वेद अनादि काल से ईश्वर की भाँति ऐसे ही हैं और रहेंगे। दूसरे शब्दों में उन के अनुसार 'अपौरुषेय' का अर्थ 'किसी पुरुष या व्यक्ति का बनाया नहीं' है। परंतु न्याय का मत यह है कि 'अपौरुषेय' से तात्पर्य यह है कि वेद प्राणिमात्र का बनाया तो नहीं है किंतु

**हिंदू शास्त्रकारों का मत**

ईश्वर का बनाया हुआ है परंतु आज-कल के वैज्ञानिक युग म इन उपर्युक्त दलीलों पर दूसरा शब्द कहना समय नष्ट करना होगा, केवल उन का उल्लेख मात्र कर दिया गया।

अब वैज्ञानिक रीति से काल-निर्णय करने वालो का भी यह निर्णय हो गया है कि यह हम ठीक कभी भी नही जान सकेंगे कि वेद कब रचे गए, पर इतना हम कह सकेंगे कि अमुक काल के पहले वेद की रचना हो चुकी थी। इस विषय में क्या पाश्चात्य और क्या प्राच्य, ससार के सभी साहित्य-मर्मज्ञ सहमत है कि वेदो से पहले के रचे हुए किसी अन्य साहित्य का रेकर्ड इस समय नही है। अब भाषा-विज्ञान, इतिहास तथा साहित्य के आभ्यतरिक प्रमाणो से यह जानने की किसी प्रकार सफल चेष्टा की गई है कि ठीक किस समय से पहले वेद मौजूद थे।

**आधुनिक मत**

मैक्समूलर बुद्ध भगवान की तिथि से चलते है। उन का कहना है कि बुद्ध का समय निश्चित है और वह समय ईसा से ५५७ वर्ष पूर्व है और चूंकि बुद्ध के उपदेशो की आधार-भित्ति उपनिषदों के गभीर सिद्धात है इस लिए वेदो के अतिम समय के संबध मे हम को सदेह न होना चाहिए। बौद्धधर्म के बाद वैदिक साहित्य समूचा—मत्रो से ले कर उपनिषदों तक—निर्मित हो चुका था, यह निश्चय है। अब स्वयं वैदिक साहित्य के शरीर को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सब से पहले मत्र बने होंगे, उन के बाद, ब्राह्मण और तब सूत्र और उपनिषद् आदि। क्योकि सूत्रो मे ब्राह्मणो और मत्रों दोनो ही की चर्चा है, ब्राह्मणो में केवल मत्रो की और मत्रो मे किसी की नही। यहाँ तक पहुँच कर मैक्समूलर अनुमान करते है कि वैदिक साहित्य के इन तीनों अगो मे से प्रत्येक के निर्माण मे अततः दो-दो सौ वर्ष लगे होंगे। इस हिसाब से सूत्रों का रचना-काल ईसा के ६०० वर्ष पहले से लेकर ८०० वर्ष पहले तक, ब्राह्मण-काल ८००–१००० खी० पू० तक, और सहिताओ का समय १०००–१२०० खी० पू० तक इन्हो ने अनुमान किया। उन्हो ने साथ ही यह भी कह दिया है कि यह (१२०० खी० पू०) वेदो के उद्भव की अतिम तिथि भी हो सकती है। वह स्वयं किसी निर्भ्रांत निश्चय पर नही पहुँच सके। पर अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों ने यह तिथि कुछ निश्चित रूप से ही स्वीकार कर ली।

**मैक्समूलर**

अब दूसरा मत देखिए। स्वर्गीय लोकमान्य बालगगाधर तिलक ने ज्योतिष के सिद्धांतों के आधार पर वेदों के समय का अनुसंधान किया। ब्राह्मणो में यह उल्लेख मिलता

३ कि उन दिनो नक्षत्रो की गणना 'कृत्तिका' नक्षत्र से आरम्भ होती थी और २७ नक्षत्रों में यही आदि नक्षत्र गिना जाता था। और यह भी उल्लेख मिलता है कि उन दिनों कृत्तिका नक्षत्र मे ही रात-दिन बराबर होते थे। आज-कल रात और दिन बराबर होते है २१ मार्च और २३ सितबर को, जब कि नक्षत्र अश्विनी मे रहता है। खगोल और ज्योतिष के सिद्धांतो के अनुसार यह परिवर्तन आज से ४५०० वर्ष पहले (अर्थात् ईसा से २५०० वर्ष पहले) होना चाहिए और तदनुसार ब्राह्मणो की रचना २५०० खी० पू० मानी गई।

तिलक और जैकाबी

अब संहिता के आभ्यतरिक प्रमाणो से पता चलता है कि उस समय नक्षत्रों की गणना मृगशिरा नक्षत्र से होती थी और रात-दिन बराबर भी उसी नक्षत्र में होते थे। पूर्ववत् गणना के सिद्धातों ने बताया कि यह स्थिति आज से ६५०० वर्ष पहले रही होगी। तिलक महोदय इस मे २०० वर्ष का समय और जोड कर वेदो का प्राचीन और उत्पत्ति-काल ८५००—६५०० खी० पू० के बीच मे स्थिर करते है। प्रो० जैकाबी ने भी स्वतत्र रूप से इसी प्रकार की गणना के आधार पर वेदो के समय पर एक पुस्तक लिखी, और उन के तथा तिलक के निर्णय भी लगभग समान ही हुए। पर पाश्चात्य विद्वानो ने इन मतो का घोर विरोध किया। जैकाबी गृह्य-सूत्र के विवाह-प्रकरण के 'ध्रुव इव स्थिरा भव' वाले मंत्र को अपने प्रमाणो की नीव बनाते है। उन का कहना है कि इस मंत्र से यह स्पष्ट है कि उस समय ध्रुव अधिक चमकीला और स्थिर था, पर अब वैसा नही है। सौर-जगत के सिद्धातो के अनुशीलन से वह इस निर्णय पर पहुँचे कि गृह्यसूत्र की तिथि ईसा से २७०० वर्ष पहले हुई होगी। रचना-क्रम मे लगने वाले समय का अनुमान कर उन्हों ने सूत्रकाल मे २००० वर्ष और जोड़ कर संहिता-काल का समय ४७०० खी० पू० निश्चय किया।

इन मतो का घोर विरोध हो ही रहा था कि इधर एक और भारतीय विद्वान इन से भी गहरे पहुँचे। अविनाशचंद्र दास ने 'रिग्वेदिक इंडिया' (ऋग्वेद-कालीन भारत) और 'रिग्वेदिक कल्चर' (ऋग्वेद-कालीन संस्कृति) नाम की दो पुस्तकें लिखी। उन्हो ने भूगर्भ-विद्या के आधार पर वेदो की रचना-काल का अनुसधान किया। बहुत से ऐसे मंत्र उन्हो ने उद्धृत किए जिन से यह स्पष्ट है कि वेदों के प्रणेता आर्यावर्त के जिस भूभाग पंजाब, काश्मीर, अफगानिस्तान

अविनाशचंद्र दास

आदि मे रहते थे उस के चारो ओर का प्रांत जो अब राजपूताना, युक्तप्रांत, बंगाल, बिहार, आदि कहलाता है, उस समय जलमय था। उन्हो ने यह सिद्ध किया है कि वर्तमान भारत की भाँति उस समय देश के सब ओर नही बल्कि केवल एक ओर समुद्र था और वह समुद्र-मय प्रांत वही पूर्वोक्त प्रांत राजपूताना आदि थे। ज्यो-ज्यों समुद्र हटता गया त्यो-त्यो आर्यगण आगे बढते गए। उन का निर्णय है कि भूगर्भ-विद्या के अनुसार इतना बडा परि-वर्तन ईसा से १६००० वर्ष पहले से लेकर २५००० वर्ष पहले तक हुआ होगा और उसी काल मे वेदमंत्रो की रचना हुई होगी। अपने मत की पुष्टि मे उन्हो ने पाश्चात्य विद्वानो के ही प्रमाण अधिक दिए है, पर तब से पाश्चात्यो ने इस प्रश्न पर कुछ चुप्पी सी साध ली है। क्योंकि यह स्पष्ट है कि दिन पर दिन वेदो की तिथि पीछे ही हटती जा रही है, और बडे वैज्ञानिक विद्वान ऐसा सोच रहे है कि हिंदू शास्त्रकारो के इस कथन मे, कि वेद अनादि है, अवश्य कुछ तथ्य है।

अभी इधर थोड़े दिन हुए एक जर्मन अन्वेषक ह्यूगो विन्कलर को एशिया माइ-नर मे एक शिलालेख मिला है जिस में वहाँ की दो जातियां---मितानी और हित्तैती---की संधि का वर्णन है और जिस मे चार वैदिक देवताओ---इंद्र, मित्र, वरुण और नासत्य---का उल्लेख है। विज्ञान ने इस शिला लेख को ईसा से १४०० वर्ष पहले का सिद्ध किया। और इस से यह निर्णय हुआ कि इस समय से शताब्दियो पहले एशिया माइनर ऐसे सुदूर-स्थित देशो तक वैदिक धर्म का गहरा और स्थायी प्रभाव पड चुका था। इस प्रकार निश्चित रूप से वेदो का समय ईसा के १४०० वर्ष पहले से शताब्दियों दूर चला जाता है। परंतु कुछ प्रमुख विद्वान इस प्रमाण को भी कोई विशेष महत्व नही देते। उन का कहना है कि इस प्रकार के ऐतिहासिक प्रमाणो की---जैसे कि एशिया माइनर के शिला-लेख मे वैदिक देवताओ का उल्लेख तथा इस के बल पर वैदिक-काल से इंडोईरानियन अथवा इंडोयूरोपियन काल को संलग्न करना---आधार-भित्ति स्वयं इतनी अनिश्चित है कि उन से परस्पर-विरोधी निष्कर्ष निकाले गए है। इस के संबंध में ओल्डेन्बर्ग साहब का कहना है कि उक्त शिला-लेख मे वर्णित देवता भारतीय आर्यो के न हो कर किसी पाश्चात्य आर्य उपजाति के होगे। उन का विश्वास है कि किसी अतीत काल में सब आर्य जातियां और उपजातियाँ एक ही रही होंगी और उसी समय से इन देवताओं के नाम

**ह्यूगो विन्कलर**

**ओल्डेन्बर्ग**

इन म प्रचलित रह होगे, और उस के बहुत दिनो बाद आर्यों का जो दल भारत की ओर आया उस ने वेदो की रचना की। उन का विचार है कि उस शिलालेख मे देवताओं का उल्लेख वेदो को अधिक प्राचीनता देने का कारण नही हो सकता। परन्तु इस मत के विरुद्ध जैकाबी, कूनो, हिलेब्राट और विटरनीज आदि विद्वान उक्त देवताओं को वैदिक ही

कुनो और हिलेब्रांट आदि

मानते है। परन्तु ऐसा मानते हुए भी केवल इसी बल पर वेदों को अधिक प्राचीनता ये भी नही देते। ये कहते है कि जैसे पश्चिम मे बहुत से आर्यों की टोलियाँ भारत आई, वैसे ही यहा से कुछ टोलियाँ लौट कर युद्ध या विवाहादि सबधो के कारण पश्चिम भी अवश्य ही गई होगी। और साथ ही इस के यह भी एक ध्यान देने की बात है कि ऋग्वेद-काल तक आर्यों का निवास भारत के पश्चिम मे ही अधिकतर था। इस सबंध मे हिलेब्रांट ऋग्वेद के अष्टम मडल के आभ्यतरिक प्रमाणों पर अधिक निर्भर करते है।

यदि यह सिद्ध हो जाय कि ईसा के ३००० वर्ष पहले तक भारतीय आर्य आदिम भारतीय यूरोपियन जातियो से अलग नही हुए थे तो वेदो का रचना-काल बहुत नीचे

हर्टेल

उतर आता है और हर्टेल आदि कुछ विद्वान जो वेदो को बहुत हाल की रचना सिद्ध करने पर तुले हुए है, इस मत को स्वयंसिद्ध-सा मान कर चलते है। हर्टेल कहते है कि वेदो की उत्पत्ति भारत मे न हो कर ईरान मे हुई और उस का समय जोरोआस्टर के समय से अधिक दूर नहीं था। जो कि इन के अनुसार ५५० खी० पू० मे विद्यमान था! परतु इन के मत का स्वागत कुछ ही लोगों ने किया। कारण स्पष्ट है।

अत मे हम देखते है कि वेदो की रचना-काल के लिए प्रायः सभी वाह्य प्रमाण न्यूनाधिक परिमाण मे दुर्बल सिद्ध होते है। हमारे सामने—मुख्य वाह्य प्रमाण तीन है।

(१) ज्योतिष-सबधी। तिलक और जेकाबी नक्षत्रो की स्थिति और गणना को अपना आधार मानते है पर इन पर तभी निर्भर किया जा सकता है जब मूल का पाठ निर्भ्रांत हो और उस मे किसी दूसरे अर्थ की सभावना न हो। पर अभाग्यवश मूल के वह पाठ जो इन के आधार माने गए है, एकाधिक अर्थों के बोधक है।

(२) दूसरा वाह्य प्रमाण ऐतिहासिक है। वेदों की रचना का सब से प्रबल ऐतिहासिक प्रमाण एशिया माइनर का वह शिलालेख है जिस मे उपर्युक्त चार वैदिक

देवताओ का उल्लेख तथा वैदिक और आर्य तथा भारतीय यूरोपियन काल का संबध है पर यह सब स्वय इतना संदिग्ध और अनिश्चित है कि इस के बल पर परस्पर-विरोधी निष्कर्ष निकाले जा रहे है। पर यह होते हुए भी विटरनीज साहब की धारणा है कि इस समय हमारे पास प्राचीन भारत तथा पश्चिमी एशिया के पारस्परिक संबंध के ऐसे प्रमाणों की कमी नहीं है, जिस से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक संस्कृति कम से कम ईसा से २००० वर्ष पहले की है।

विंटरनीज

भौगोलिक तथा भाषा-संबधी प्रमाणों से भी कुछ अधिक सहायता नही मिलती। अविनाशचंद्र दास भूगर्भविद्या तथा भूगोल को आधार बना कर ऋग्वेदकाल को ईसा से २५ हज़ार वर्ष पहले ले जाते है। पर इन के विरुद्ध सब से प्रबल प्रमाण भाषा का है। पाणिनि ने साहित्यिक संस्कृत का व्याकरण ईसा से लगभग ५००० वर्ष पहले बनाया यह निश्चित है। पाणिनि के व्याकरण का आधार ब्राह्मणो की भाषा ही थी जो कि वेदो ही के अंतर्गत है। अन्य भाषाओ का इतिहास हमे बतलाता है कि कोई भी भाषा अनंत काल तक एक सी नही रहती। सहस्रो की कौन कहे कुछ शताब्दियो मे ही भाषा कुछ की कुछ हो जाती है। हमारी आर्यभाषा का ही लगभग २५०० वर्ष का क्रमबद्ध इतिहास हमारे सामने है। इस समय हमारी जो भाषा है उस का रूप पाणिनि के समय क्या था? इसी २००० वर्ष के भीतर ही आर्यभाषा वैदिक संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, पुरानी हिंदी, माध्यमिक हिंदी, तथा आधुनिक हिंदी के रूप मे विकसित हुई। उसी आर्य-भाषा के संबध में जिस ने दो सहस्र वर्षों मे ही इतने रूप बदल डाले, यह कौन विश्वास करेगा कि पचीस हजार वर्ष तक वह ज्यो की त्यो रही तथा भारतीय आर्य संस्कृति मे भी कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ। माना कि समय की उन्नति के साथ-साथ परिवर्तन की गति द्रुत से द्रुततर होती जा रही है और पुरा-काल मे परिवर्तन इतनी शीघ्रता से नही हुआ करते थे। पर २० और २५ सहस्र वर्ष का समय बहुत होता है। यही तर्क बहुत कुछ तिलक और जैकाबी के मत के विरुद्ध भी लागू होता है। ईसा से ४००० वर्ष पहले भी वेदो की रचना का प्रारंभ मानने मे यही सब कठिनाइयाँ सामने आती है।

(३) तीसरा बाह्य प्रमाण वेदों की भाषा के वाह्य-रूप से संबंध रखता है। आवेस्ता नामक पारसी ग्रंथ की और ऋग्वेद की भाषा मे अधिक अंतर नहीं है। वह केवल इतना ही है कि कुछ थोडे से ध्वनि-संबधी परिवर्तन कर देने से दोनो की भाषा

प्राय एक सी हो जा सकती है। और यह अब सिद्ध हो गया है कि आवेस्ता का रचना-काल ईसा से एक हजार वर्ष से पहले का नही है। अब ऐसी स्थिति मे कोई भी भाषा और इतिहास का मर्मज्ञ ऋग्वेद के रचना-काल को कहाँ तक पीछे ले जायगा।

कुछ दिन तक विद्वानों में एशिया माइनर वाले शिलालेख और आवेस्ता के आधार पर ऋग्वेद की भाषा के प्रमाण की बड़ी धूम रही पर अब इधर थोड़े दिनो से इन प्रमाणों पर भी अधिक निर्भर नही किया जा रहा है। अब जब कि सभी बाह्य प्रमाण निर्बल सिद्ध हो रहे है तब अगत्या भारतीय साहित्य के इतिहास के आभ्यतरिक प्रमाणो का आश्रय लेने के सिवाय दूसरा उपाय नही रहा। इस दिशा मे सब से प्रबल प्रमाण यही है कि बुद्ध, महावीर, तथा पार्श्व से सबद्ध साहित्य सर्वांगीण वैदिक साहित्य से परिष्कृत दिखाई पड़ता है। दूसरे शब्दो मे यह स्पष्ट है कि बौद्ध तथा जैन साहित्य के प्रादुर्भाव के पहले समग्र वैदिक साहित्य की रचना—सहिताओ से ले कर उपनिषदो तक—पूरी हो चुकी थी। अब यह निर्भ्रांत रूप से स्पष्ट हो जाना चाहिए कि कोई भी प्रमाण वेदों को उक्त साहित्यो के बाद की रचना नही सिद्ध कर सकता। अब रह गया वेदों की रचना का प्रारभकाल स्थिर करना। इस संबध में अधिकाश विद्वान १२०० या १५०० ख्री० पू० को ही अभी तक ठीक मान रहे है। परतु इस तिथि को मानने से प्राय: ८०० वर्ष के अदर ही समूचे वैदिक साहित्य की रचना सपूर्ण माननी पडती है, जोकि इस महान साहित्य के प्रकाड कलेवर को देखते हुए असभव जान पडता है। सहिता-मंत्रो से ले कर उपनिषदो तक की रचना सपूर्ण होने मे २००० वर्ष से कम न लगे होगे। साहित्यिक सस्कृत से वर्तमान खडीबोली तक के साहित्य का विकास-काल यदि २००० वर्ष समय ले सकता है, तो वेदो की संपूर्ण रचना मे भी कम से कम इतना समय अवश्य लगा होगा। कम से कम इस लिए कहा जाता है कि उस पुरा-काल मे साहित्य और संस्कृति के विकास की गति अपेक्षाकृत बहुत मद रही होगी। इसी हिसाब से इस महान साहित्य का प्रारभ-काल ख्री० पू० २५००—२००० तक मान लेने मे कोई विशेष शका नही देख पड़ती। किसी 'इदमित्थमेव' प्रमाण के अभाव मे इस प्रकार के मध्यम मार्ग के अवलबन के सिवाय अन्यथा गति नही है।

---

# चित्रकार "कवि" मोलाराम की चित्रकला और कविता

[ लेखक—श्रीयुत मुकंदीलाल, बी० ए० (ऑक्सन), बैरिस्टर-एट्-ला ]

[ २७ ]

## गढ़वाल राज्यशासन में कृपाराम का प्रभुत्व

जयकृतशाह के अल्पवयस्क होने के कारण गढवाल के दीवान खडूड़ी और डोभाल राज्यशासन अपने-अपने हाथो मे लेने के लिए प्रयत्न करने लगे। इस प्रयत्न मे कृपाराम डोभाल बाजी ले गया। प्राचीन दीवान खंडूडी परास्त हो गए। नित्यानंद का षड्यंत्र भी निष्फल हुआ। अब कृपाराम का तूती बोलने लगा। मोलाराम के काव्यानुसार—

कृपाराम डोभाल का प्रभुत्व

कृपाराम प्रभुता मांहि आए।
मंत्री गढ़ के सब घबराए॥
कृपाराम पे सब कोई जावै।
राजा को दरसन नांहि पावै॥
राजा कहे सो मारघो जाई।
भजे कृपाराम तो करे सहाई॥
जित तित सों डोभाल ही आए।
दोत कलम कागज लटकाए॥
प्रात निशा नित मजलिस लागे।
राग रंग सब होय जो आगे॥
आफ पलंगा ऊपर बैठो रहे।
घुरकी धमकी सब कौं कहे॥

श्री विलास ताको बहनोई।
राख्यो खास नृपति पे सोई।।
महिल दूसरो जान न पावे।
श्री विलास ही तहाँ रहावे।।
भवानंद सों हेत महाई।
श्री विलास को जेष्ठ ही भाई।।

श्री विलास अंदर रहे, बाहर भवाहीनंद।
कृपाराम के मंतरी, अत हितकारी रिंद।।

उथल पुथल बहु करने लागे।
सब मंत्रिन के कानहि जागे।।
इह काहू को छाड़ै नाहीं।
भये धूर्त अति ही गढ़ माहीं।।

कृपाराम के विरुद्ध घमंडसिह् के लिए पत्र

तीन टोल नैं मता मतायो।
घमंडसिह् को लेखि पठायो।।
तुम हूँ दूण के बासी भये।
राज काज सब छाड ही गये।।
कृपाराम इत भये मवासी।
लागे सब को देनहि फाँसी।।
राजश्री घर माहि चलाई।
राजकाज सब दियो डुबाई।।
जाको चाहें ताको मारैं।
दया न काहू की मन धारैं।।
उथल पुथल सब खिजमत कीनी।
अपने पक्षपात माँहि दीनी।।
स्याले ससुर मंतरी कीने।
विरता सब के खोस ही लीने।।

कोई विन महि नृपति कहावे ।
तुमकौं भी इह तुरत उठावे ॥
केदारसिंह ज्यू तुमरे भाई ।
तिनको भी हम लेख पठाई ॥
दुहू भ्रात मंत्र ही कीजे ।
प्रति उत्तर तब हम को दीजै ॥

कृपाराम और उस के रिश्तेदारों के आतंक और अत्याचार से तंग आकर, और राजा जयकृतशाह की विवशता देखकर राज्य के अन्य पदाधिकारी और राजा के रिश्तेदार कृपाराम के खिलाफ सर उठाने लगे। घमंडसिंह और केदारसिंह दो भाई जो खवास से पैदा थे, वह देहरादून में राजा के फ़ौजदार और जागीरदार थे। कृपाराम को पराजय करने के लिए विपक्षी मंत्रि-दल ने घमंडसिंह और केदारसिंह को उक्त पत्र द्वारा बुलाया।

घमंडसिंह यह पत्रिका, बाँचि भयो भय त्रास ।
केदारसिंह बैठे जहाँ, गयो ले तिनके पास ॥
केदारसिंह फौजदार ही बैठे ।
जमीदार सँग मांहि इकैठे ॥
घमंडसिंह तहँ सीस नवायो ।
केदारसिंह तांहि पास बैठायो ॥
कह्यो घमंडा तुम क्या आये ।
कागज कर महिं कैसा लाये ॥
तबैं घमंडा कागज दीन्यो ।
केदारसिंह बाँच ही लीन्यो ॥

पास बैठे हुए जिमीदारों को विदा कर केदारसिंह और घमंडसिंह दोनों भाइयों ने आपस में परामर्श किया, और तय किया कि कृपाराम मार दिया जाय। देहरादून से घमंडसिंह फ़ौज लेकर कृपाराम पर आक्रमण करने के लिए चला।

घमँडसिंह समुझाय यों, दीन्यो शीघ्र लगाय ।
बाकी फौज संग ले, रह्यो उफल्डा[1] आय ॥

---

[1] उफल्डा श्रीनगर से दो मील पर एक गाँव है। वहाँ पर एक बड़ा भारी मैदान भी है।

घमंडसिह का देहरादून से सेना लेकर श्रीनगर आगमन

बक्सी संग सुखेती[1] आए।
जौणहिपुर[2] से वही बुलाए॥
सिरीनगर माँहि मंत्री जेते।
कम्बल ओढ़ रात गये तेते॥
सबसों धर्म कर्म तहँ कीन्यो।
गुपत यहाँ किन्हू नहीं चीन्यो॥
मंत्री सबै सहर माँहि आए।
अपने अपने घर नाँहि धाए॥

गढवाल के मंत्री लोग जो कृपाराम के खिलाफ थे। वे छिप कर कम्बल ओढ कर रात को घमंडसिह से मिलने गए और घमंडसिह को, उस का साथ देने का, वचन दिया। घमंडसिह ने दूसरे दिन प्रातःकाल अपनी सेना ले कर गढवाल की राजधानी श्रीनगर को घेर लिया।

घमँडसिह सजि सेनहिं आए।
दखणी बाजा डम्फ बजाए॥
कृपाराम भी घर सों निकस्यो।
चहूँ ओर ही देखत दृगसों॥
ढोलक ऊपर ढोलक छाई।
चहूँ ओर से सजे सिपाही॥
अपने गृह से नृपति द्वारे।
गए सिपाही फैलहि सारे॥

हरकारे ने आनि के, दई खबर हीं ताहिं।
खबरदार हो जाव तुम, आज बचत हो नाहिं॥

कृपाराम घमडसिह को अपना पुराना मित्र समझता था। अपनी रक्षा का प्रबंध किए बिना

---

[1] सुखेत (मंडी राज्य) के निवासी।
[2] जौनपुर।

राजदरबार ने कृपाराम और घमंडसिंह

कृपाराम गये मजलिस माँहि ।
जैकृतशाह बैठे थे जहाँहि ॥

करि सलाम बैठ्यो तहाँ, सोही जो कृपाराम ।
आसपास मंत्री सबै, मजलिस में जो आन ॥

पलंग मध्ये महाराज बैठे ।
मंत्री सब हुए रहे इकैठे ॥
देवीदत्त दफ्तरी ताँही ।
जूलूपेचहि दस्ती माही ॥
भवानंद और श्रीविलासहि ।
महाराज के आस पासहि ॥
धनीराम डोभाल ही बैठो ।
कृपाराम ही को वह बेटो ॥
खड़ो भगोत तहाँ खवासहि ।
जैकृत शाह को चवर ले पासहि ॥
और अनेकहि कहा गनाऊँ ।
कारण करण सबही जनाऊँ ॥

प्रथम प्रहर दिन चढ़्यो, घमंडसिंह गयो ताहि ।
घुस्यो धाय मजलस हि में, किनहूँ रोक्यो नाहि ॥

छाँटि सूरमा संग सिपाही ।
घेर लई मजलस सब जाई ॥
करि सलाम सिहा ज्यों सोही ।
कृपाराम संग बैठ्यो त्योंही ॥
ज्यों नभ में चंद तारिका बृंदहि ।
घेरयो घन नहि आन घमंडहि ॥
मुख पीरी सब के परि आई ।
महाकाल ने लिये दबाई ॥

सारी सभा सन्न हो गई मंत्री राजा का मुह ताकने लगे राजा उन की ओर देखने लगा। मंत्री लोग अवाक् हो गए।

कृपाराम तब तासो बोलो।
घमंडसिंह घर कमरहि खोलो॥
कमर खोलि कै भोजन पावो।
चौथे पहर फेर तुम आवो॥
भई भेट सिरकार तुहारी।
करो दूण की तुम फोजदारी॥
अरजी जो तुम करों सो मानै।
तुमै महाराज अपना जानै॥
नातेपंथी तुम गढ़ माहीं।
तुम समान कोउ दूजो नाहीं॥

राजसभा मे कृपाराम का वध

घमंडसिंह सुनि कै इहै, मन माँहि कियो बिचार।
इहाँ दाव फिर हाथ ही, लगै न दूजी बार॥

घमँडसिंह मनमाँहि बिचारी।
करे खुशामद इहै हमारी॥
बातन महि यह बखत बचावे।
फेर हमारे हाथ न आवे॥
बिन मारे इह छोडे नाहीं।
अब ही मारो याके ताहीं॥
इह अपने मन ही में लह्यो।

जयकृतशाह के सन्मुख घमंडसिंह—

हाथ जोरि के ठाड़ो भयो॥
महाराज के सौंहो जाई।
भर मजलस माँह अर्ज सुनाई॥
महाराज हम दास तुहारे।
इतै शत्रु है बहुत हमारे॥

भली कहै नहिं कोय हमारी ।
खोटी कहै सभी नर नारी ॥
कही काहु की सुनिए नाहीं ।
बुरो कहे सभ हमरे ताहीं ॥

जान माल महाराज को, राजद्रोहि हम नाहिं ।
शत्रुन को छांडे नहीं, परें आप के पाहिं ॥

घमंडसिंह इह अरजी कीनी ।
महाराज सबही सुनि लीनी ॥
अरजी कर मजलस माँहि बैठ्यो ।
महा क्रोध मन भयो इकैठ्यो ॥
तहाँ सिपाही जे संग माहीं ।
दई दृष्टि सब ही के ताहीं ॥

घमडसिह के सिपाही इस दृष्टिपात का अभिप्राय समझ गए। घमडसिह ने अपने सिपाहियो से—

कही तिन्हें उठि घर को चलिये ।
कृपाराम जू के संग मिलिये ॥
कृपाराम को रोक रुपैयाँ ।
हरीसिंह दे झटकी बैयाँ ॥
हरीसिंह के हजूरि मिञाही ।
भर मजलस माँहि पकड़ी बाँही ॥
कृपाराम ने भेंटहि जानी ।
दगा कछू वो नाहि पैछानी ॥
भेट लेन जो हाथ उठायो ।
हरीसिंह ने पकड़ दबायो ॥
लिपट गए तहँ सबै सिपाही ।
मंत्री सबहीं दिए बंधाही ॥

राजा गोद ले भग्यो खवासा
कूदि पर्यो धरती के पासा ।।
पाग भागते नृप की ढरी ।
ता दिन तै गढ़ की राजसि गिरी ।।
नंगे सिर राजा ले भागे ।
कहो लोग तहँ संग माँहि लागे ।।
राजा ले महिलों माँहि बाढ़े ।
चहूँ तरफ दरवाजे चाढ़े ।।

कृपाराम मजलस हि मे, पकड़ लियो छिन माँहि ।
लाग्यो गाली देन तब, सरी और कछु नाहि ।।

कृपाराम कहै सुनो घमंडा ।

.. .. .

दगा करी तै मजलिस माहीं ।
रण माँहि तो तू जीत्यो नाहीं ।।
एकबार तू छोड़ दे मोको ।
डूमन पास पिटाऊँ तोकों ।।
किया काम यह तै नाँहि अच्छा ।
आखर तू बाँदी का बच्चा ।।
घमंडसिंह सुनि भौंह चढ़ाई ।
ततकाल ही दियो मराई ।।
मजलस ही में घायल कीन्यो ।
पेसकबज छाती धर दीन्यो ।।
पाछे धरनी माँहि उतार्यो ।
खड्गहि सौं सिर काटहि डार्यो ।।
चहूँ तरफ सौं महल घिरायो ।
आफ दिवानहि खाने आयो ।।

घमंडसिंह का आतंक

मन्त्री सब तहँ पकर मँगाय।
राजा पे दो चार रहाय॥
बाहर के भीतर नहिं जावें।
भीतर के बाहर नहिं आवें॥
पडि हडताल सहर के माही।
बाहर कोई निकसे नाही॥
हाहाकार भयो पुर सारे।
राजा परजा द्वारे द्वारे॥

लाल झरोखे आन तब, राजा बैठे आय।
घमंडसिंह कों आपने, सौंहीं लियो बुलाय॥

कह्यो घमंडसिंह यो क्या कीन्यो।
राजा परजा को दुख दीन्यो॥
अदब हमारो कछु नहिं राख्यो।
जैकृतशाह यह मुख सौं भाख्यो॥
घमंडसिंह सुनि सौ ही आयो।
हाथ जोरि के सीस निवायो॥
सीस निवाय अर्ज मुख कीनी।

जयकृतशाह धार्मिक राजा था। उस ने कृपाराम का मारा जाना पसद नही किया। घमंडसिंह की शक्ति और सेना को देखते हुए भी राजा ने घमंडसिंह की कृपाराम के बध के लिए भर्त्सना की। घमंडसिंह ने जयकृतशाह की धार्मिक भावनाओ को देखते हुए अपने को निर्दोष ठहराने के हेतु अथवा अपनी सफाई मे कृपाराम के अन्याय का अच्छा चित्र खींचा—

कृपाराम के दोष और अवगुण

महाराज तुमने नहिं चीनी॥
कृपाराम कहि काज बिगारे।
तब हमने मजलिस महिं मारे॥
आपहि इह राजा कहिलायो।
हुक्म तुहारो कछु न रहायो॥

राजकाज सब घर महिं कीन्यो।
परजा को अति ही दुख दीन्यो॥
दंड नाहक सब ही पै चलायो।
धर्म कर्म कछुहू न रहायो॥
खिजमत उलट पुलट कर डारी।
गढ़ मरजादा सबै बिगारी॥
अपने नाते गोल बधाये।
राजनेक सब ही जो उड़ाये॥
या तें हमने दुष्ट सिंहारो।
अब तुम राज करो इहँ सारो॥
नीत रीत सौं राज चलाओ।
परजा अपनी सुबस बसाओ॥
गऊ विप्रन को पालन कीजे।
बिरता गूंठ रोजी ना दीजे॥
हम प्रभु तुमरो हुकम बजावें।
जो तुम कहो सोइ करि आवें॥

[ २८ ]

## घमंडसिंह का आधिपत्य

जयकृतशाह ने घमंडसिंह को क्षमा किया और उस से कहा इस वक्त (रात्रि के समय) तुम जाओ और ओझा के बाग में रहो। सुबह यहाँ आना। मजलिस में बैठ कर राज्य का कार्य करो। अपने शत्रु को तुम ने मार दिया है। अब तुम राज्य के काम को सुधारो यह सुन कर घमंडसिंह ओझा के बाग में चला गया। शहर में जयकृतशाह की दुहाई फेरी गई। दुकाने सब खुल गईं। सब लोग अपने अपने काम में लग गए। दूसरे दिन सवेरे—

लाल झरोखा राजा बैठे।
ओझा गुरु ही संग इकैठे॥

घमडसिंह चौक महि ठाडो
महिष समान दभ महि बाडो ॥

घमडसिह ने राजा से कहा कि श्रीविलास, भवानंद, देवीदत्त और धनीराम को मेरे सुपुर्द कर दो। ये तुम्हारे राज्य को नष्ट करेंगे।

जिनको मित्र भ्रात पितु मारयो।
उनसों मिले न चित्त हमारो ॥
जो अपना तुम राजहि चाहो।
इन्हे बाधि हमपै पकरावो ॥

जयकृतशाह ने उत्तर दिया—

पांचन कौ तुम आजहि मारो ॥
हम सिर देहि इन्हे नहि देहें।
पाप आपने सिर नहि लैहैं ॥

घमडसिह ने कहा कि मैं इन को मारूंगा नही। मैं कुछ दिन इन को कैद रक्खूँगा और छोड दूंगा। उस के बाद ये—

गॉव जागीर बहाली पावें।
इह सरकार में आवे जावें ॥
इह सब ही पंचन की मरजी।
तब हों करी आपसौं अरजी ॥
महाराज तब धर्म कराई।
दीने चारों संग पठाई ॥

देवीदत्त धनिराम ही, भवानंद श्री बिलास।
पग जजीर पहिराय के, राखे अपने पास ॥

तब लागे सब काजहिं माहीं।
राजा राख्यो राजहि माहीं ॥

प्रात निसा मजल्स ही लगाव ।
मंत्री सबही आव जाव ।।
घमंडसिंह लीनी मुखत्यारी ।
बक्षी फूटी फिर के सारी ।।

कृपाराम के रिश्तेदारों को क़ैद कर लेने के बाद घमंडसिंह अन्य उच्च राज्य-कर्मचारियों को अपनी ओर करने की चेष्टा करने लगा। किंतु विजयराम नेगी श्रीनगर से भाग गया। घमंडसिंह के पूछने पर अजबराम नेगी ने कहा कि वह अपनी भतीजी के ब्याह के इंतज़ाम के लिए गया है। मैं भी पीछे जाऊँगा। घमंडसिंह ने कहा कि वह हम से पूछ कर क्यों नहीं गया? अजबराम ने उत्तर दिया कि वह तो आप से अर्ज कर रहा था। और खर्चा भी माँग रहा था। परंतु आप ने उस की कुछ सुनी ही नहीं। अजबराम ने अन्य राजकर्मचारियों की ओर से घमंडसिंह से यह भी कहा—

**विजयराम और अजबराम नेगियों का विद्रोह**

तुम सब लागे आपहि करने ।
याते लागे सबहीं डरने ।।
इह काहू के मन नहिं भावे ।
राजा करे सो सब मन आवे ।।
तुम्हे दूण[1] दीनी फौजदारी ।
तहाँ करो तुमहूँ मुखत्यारी ।।
इत सब मंत्री राज चलावें ।
महाराज को हुक्म बजावें ।।
घमंडसिंह सुनि कै इहे, कही जो तिनके माँहि ।
कृपाराम तुमहूँ हत्यो, अब काढ़ो हमरे ताँहि ।।

[1] दूण—जिला देहरादून; उस समय यह गढ़वाल राज्य के अंतर्गत था।

पाप हमारे सीस लगावो ।
तुम बैठे श्रीनगर कमावो ॥
बड़े मंतरी तुम गढ़ माहीं ।
काहू को तुम राखो नाहीं ॥
कृपाराम हमहूँ सो मरायो ।
हमें दूग को राह बतायो ॥
हम काहू को छोड़ें नाहीं ।
महाराज के तुम हो गुमाहीं ॥
राज भ्रष्ट तुमहूँ ने करायो ।
मजलस माहीं विप्र मरायो ॥

घमण्डसिंह ने कहा कि आप लोगों के पत्र मेरे पास रक्खे हुए है । अपने इन पत्रों को देखो । उच्छवसिंह स्वामी और सोवनसिंह बागडी ने मुझे पत्र लिख कर यहाँ बुलाया——

तब हम तुमरी करी सहाई ॥
अब तुम हमकों अकल बताओ ।
हम मूरख तुम चतुर कहाओ ॥

यह सुन कर सब नेगियों ने कहा कि घमण्डसिंह तुम ने हमारी रक्षा की है और तुम ने राज्य को बचाया है । तुम इन चार शत्रु—भवानंद, श्रीबिलास, देवीदत्त और घनीराम को क्यों नहीं मारते ?

इन चारो को नासो जबही ।
गढ़ की मिटे कुचाल जो तबही ॥

घमण्डसिंह ने कहा——

धर्म देहि हम नृप सों लाये ।
अब हम सो नहिं जाइ मराये ॥
एक पाप तो प्रथम छुटावो ।
चार पाप क्यों और कमावो ॥

इह वृत्तान्त मन्त्रिन ने कीन्यो
घमंडसिंह नृप पैं कहि दीन्यो ॥
ऐसे प्रभु इह मंत्रि तुहारे।
अब यह लागू भये हमारे ॥
कृपाराम इन हूँ ने मरायो।
अब हम ऊपर बुंद उठायो ॥

जयकृतशाह ने भी अब कूटनीति से काम लेना चाहा और मंत्रियों को आपस में लड़वाने लगा।

विपक्षी मंत्री भयभीत हो गए कि अब घमंडसिंह हम पर हाथ फेरेगा। राजा उस को मानता है। राज्य-प्रबंध सब उसी के हाथ में है। असंतुष्ट मंत्रियों ने आपस में एका किया और सोचा कि अब कुमाऊँ वालों की सहायता से घमंडसिंह को पराजित करना चाहिए।

घमंडसिंह के विरुद्ध षड्यंत्र

अजबराम राजा पै आयो।
घमंडसिंह कौं संग माँहि लायो ॥
कह्यो बहन को ब्याह हमारी।
हमरी घर कौं भई तयारी ॥
महाराज कछु खर्च दिलायो।
अजबराम तब बिदा करायो ॥
अजबराम कैंनूर ही आये।
सरंजाम सबहीं जो कराये ॥
धन्नू कूर्मांचल से धायो।
बनरा ह्वे कैंनूर[1] में आयो ॥

विवाह के बहाने से अजबराम ने कैंनूर के नेताओं से परामर्श किया और उन को बताया—

[1] कुमाऊँ का एक परगना जो गढ़वाल से मिला है।

**गढ़ में गड़बड़ बहुतें भई**

घमँडसिंह मुखत्यारी लई ॥
कृपाराम मजलिस महिं मारो ।
कर्म कुकर्म कछू न बिचारो ॥

तलब हमारी देत है नाहीं ।
देत है अपनी फौज के ताहीं ॥

यह सुन कर कैनूर (कुमाऊं) के गढवाली फौजदार धनु ने, जिस के साथ अजबराम की बहिन का विवाह हुआ था, अपनी सेना एकत्रित की और अपने अनुयायियो से परामर्श कर—

घमंडसिंह पै पत्र पठायो ॥
पाँच लाख है तलब हमारी[1] ।
तुम पाई गढ़ की मुखत्यारी ॥
जल्दी तलब जो देहु पठाई ।
नातर फौज देखियो आई ॥
घमँडसिंह सुनि के घबरायो ।
महाराज के पासहि आयो ॥
मंत्री गढ़ के सबहि बुलाए ।
खत गुल्दारन के दिखलाए ॥

मन्त्रियों ने मिलकर—

प्रतिउत्तर लिखि दियो पठाई ।
तुमहूँ हमहूँ तलब न पाई ॥
कृपाराम तब तो हम मारयो ।
तुमरो हमरो काज बिगारयो ॥

---

[1] ललितशाह ने कुमाऊँ (अलमोड़ा) राज्य को पराजय कर अपने (गढ़वाल) राज्य में संमिलित कर वहाँ अपनी गढ़वाली सेना रख दी थी। धनु उसी सेना का नायक था। उसी के सिपाही अपने वेतन का तक़ाजा करने लगे।

घमंडसिंह का यह उत्तर पढ़ कर          और उस के मददगार कुमाऊँनियों ने

शीघ्र प्रतिउत्तर लेखि पठायो।
कृपाराम हति तुम सब पायो॥
कृपाराम की गादी पाई।
सवा लाख गढ़ लियो दबाई॥

राज लियो तू चहत है, सब कों देहि जवाब।
तलब शीघ्र इत भेज दे, नातर करें खराब॥

इस का उत्तर घमंडसिंह ने सोभन सिंह के हाथ भेजा कि कृपाराम को इन्हीं लोगों ने मरवाया है जो अब तुम को भड़का रहे हैं। उन्हीं से तुम अपनी तनख्वाह लो।

अजबराम ने सब को पत्र पढ़ सुनाया।

पाती बाँचि सबैहि सुनाही॥
पाती सुनि सब उठे रिसाई।
सिरीनगर कों फौज चढ़ाई॥
मंत्री गढ़ के जो सब भजाये।
अजबराम पै सबही आये॥

घमंडसिंह की दूरदर्शिता

घमंडसिंह ने बंद सों, दीन्हें सभी छुटाय।
कीन्हें फेर बहाल वह, राखे पास लगाय॥

देबीदत्त धनिराम डोभाल ही।
श्रीबिलास आये नौट्याल ही॥
न्हाय धोय कै बस्त्र सजाये।
घमंडसिंह मियाँ पे आये॥
घमंडसिंह ने दई दिलासा।
करें तुहारी पूरन आसा॥
तुमरे शत्रु गढ़ मंत्री जेते।
हतें तुम्हारे आगे तेते॥

घमंडसिंह और उस के पुराने शत्रुओ में मेल हो गया। उन्हो ने मिल कर यह

ने किया कि धनीराम वगैरह श्रीनगर में राज्य की रक्षा करें, और राज्यप्रबंध करें, और घमडसिंह बागियो पर आक्रमण करने के लिए सेना ले कर जाय।

घमडसिंह की बागियो से मुठभेड

इह कहि चढ़े घमंडा धाई।
बाँकी फौज निसान फहराई।।
अजबराम पे खबर ही गई।
घमंडसिंह आयो सुन लई।।
धघू गद्दी के बल धायो।
बलिया लच्छम ही संग आयो।।
बिजयराम सब ही सों आगे।
अजबराम नेगी संग लागे।।
गढ़ के मंत्री सब सग माही।
लाये बाँकी फौज के ताहीं।।

लियो घमंडसिंह घेरि कै, पीली फौज चहूँ पास।
उमेदसिंह मियाँ तबै, आयो मुख ले घास।।

उमेदसिंह का संधि के लिए प्रयत्न

बैठे सब गुलदार जहाँ सी।
आयो दुहुं कर जोर तहाँ सी।।
सब ही कौं घूस पत्री दीनी।
जुदी जुदी सब ही ने लीनी।।
ठोणा साही मोहरें बाँटी।
सब सों मिलिके मसलत छाँटी।।
लड़ो भिड़ो अब कोई नाही।
मिलि के चलो सहर के माहीं।।
राजा कहें सो सब ने करना।
इत नाहक क्यों लड़के मरना।।
या बिध मंत्र तंत्र ठहराई।
घूस असरफी सभी पचाई।।

सिरीनगर म चली अवाई।
घमंडसिह को देइ भराई॥

श्रीबिलास हम पास तब, आए आधी रात।
देवीदत्त धनिराम कौं, ले कै अपने साथ॥

देवीदत्त, धनिराम और श्रीबिलास का मोलाराम की शरण लेना

हम तिनको बहु आदर कीन्यो।
श्रीफल तिनके करसों लीन्यो॥
गंधाक्षत हम तिन्हें चढ़ाई।
तीन मुद्रिका करहिं धराई॥
तब तिनसो हम बातहि बूझी।
किहि कारण तुम आये हो जी॥
श्रीबिलास कही हम कौ राखो।
कैतो हमरे संगही लागो॥
तुम प्रवीन हो मित्र हमारे।
तब हम आये सरन तुहारे॥
घमंडसिह पै बैरी आये।
जिन हूँ पहिलौ हम पकराये॥
घमंडसिह ने हम नहिं मारे।
वह के तो इह कहि कहि हारे॥
तब वह शत्रु होय फिरि आए।
कुर्माचल सों फौज ही लाये॥
घमंडसिह कौं राखें नाहीं।
पहिलौं मारें हमरे ताहीं॥
जातै हमहूँ भाजत रातहिं।
मिलन तुहारे आये सातहि॥

मन मथि के हमहूँ धरचो, जगदंबे को ध्यान।
परमारथ मैं करत हूँ, जो तुम करो कल्यान॥

हुकुम भयो जगदम्ब को, इन कौं रोकहि लेव।
अजबराम को पत्रिका, तुम अपनी लिखि देव॥
तब हम तिनकौं थामि कै, दई पत्रिका ताँहि।
सिरीनगर खलबल पड़ी, भाजत है सब ह्याँहि॥
धर्मपत्र लिखि देव नो, राखैं हमहूँ थाम।
जब तुम आओ शहर में, लगैं तुहारे काम॥
देबीदत्त धनिराम ही, श्रीबिलास नौट्याल।
हमहूँ राखे रोकि इह, जो तुम देहो सवाल॥
सुनत सार निर्धार हम, धर्मपत्र लिखि दीन।
निर्भय होय गढ़ में रहो, तुमहूँ मानस तीन॥

मोलाराम का अजबराम के लिए पत्र

शरण आए हुए देवीदत्त, धनीराम और श्रीविलास को घमंडसिंह का साथ देने के कारण अजबराम के आक्रमण और विजय पर अपने प्राणो का भय था। उन्हों ने अपनी प्राण-रक्षा के लिए मोलाराम की शरण ली। मोलाराम ने अजबराम के लिए उक्त पत्र लिख कर इन तीन अपने आश्रयी ब्राह्मणो के अपराध के लिए अजबराम से क्षमा माँगी। अजबराम मोलाराम को बहुत मानता था। मोलाराम बड़ा चतुर दरबारी था, वह अपने को राजतंत्र और षड्यन्त्रों मे नही उलझने देता था। वह अपनी चित्रशाला में चित्रांकण मे लगा रहता था। दरबार मे भी कम जाता था। अपने को सब से तटस्थ रखता था। इसी लिए रंग-मंच पर खेलने वाले और राजप्रासाद तथा राजसत्ता के इच्छुक सभी राजतंत्री और मंत्री उस की सलाह और सहायता लेते। उस को निष्पक्ष समझ कर मोलाराम की बात मान भी लेते थे। वह एक प्रकार का मध्यस्थ था। इसी लिए अजबराम ने मोलाराम की बात मान ली। देवीदत्त, धनीराम और श्रीविलास को अभयदान दिया। अजबराम से अपने पत्र के उत्तर में धर्मपत्र मोलाराम ने मँगाया

धर्मपत्र इह हमहूँ मँगाई।
दीन्यो तिनहूँ को जो दिखाई॥
भये प्रसन्न तब श्रीबिलासहि।
देबिदत्त धनिराम हुलासहि॥

---

# बाबू राधाकृष्णदास की अप्रकाशित कविता

[अक्तूबर, सन् १९३३ की 'हिंदुस्तानी' में स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदास के कुछ अप्रकाशित पद, दोहे, सवैये, कुंडलियाँ, तथा घनाक्षरी छंद प्रकाशित किए गए थे। यह हमें काशी के सुप्रसिद्ध साहित्यिक तथा स्वर्गीय भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाती श्रीयुत व्रजरत्नदास जी की कृपा से प्राप्त हुए थे। इन्हें उस समय रसज्ञों ने पसंद भी किया था। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारे स्वर्गीय कवियों की अप्रकाशित रचनाओं को प्रकाशित करने का कार्य अपना एक विशेष मूल्य और महत्व रखता है। इसी दृष्टि से स्वर्गीय बाबू राधाकृष्ण दास की कुछ अप्रकाशित कविताएँ पुनः प्रकाशित की जाती है। यह कविताएँ भी हमें श्रीयुत व्रजरत्नदास जी की कृपा से प्राप्त हुई है।

बाबू राधाकृष्णदास, उपनाम 'दास', भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के फुफेरे भाई थे और अपने समय के साहित्यिकों में विशेष प्रतिष्ठित थे। राय बहादुर बाबू श्यामसुंदर दास जी ने उन की समग्र रचनाओं का दो भागों में संग्रह किया है। इन में प्रथम भाग प्रकाशित हो चुका है। इस भाग में कविता, लेख, जीवन-चरित्र तथा नाटक एकत्र किए गए हैं। दूसरे भाग में उपन्यासादि प्रकाशित होंगे। बाबू राधाकृष्णदास जी की जो कविताएँ अप्रकाशित रह गई थीं उन के विषय में स्वर्गीय ने अपने वसीयतनामे में यह निर्देश किया था कि यह बाबू जगन्नाथदास जी 'रत्नाकर' कृपया दुहरा दें तब प्रकाशित की जायँ। उस समय यह कविताएँ प्राप्य न थीं। और अब तो 'रत्नाकर' जी का भी स्वर्गवास हो चुका है। आशा है कि कविता-प्रेमी पाठक इन कविताओं का न केवल इस लिए आदर करेंगे कि इन के साथ एक स्वर्गीय साहित्यिक की स्मृति जुटी हुई है, वरन् इस लिए भी कि इन में अपना एक रस है।—संपादक]

## पद

[ १ ]

**हम को तुम ही ढीठ कियो।**
**दूधरु दही खवाइ बहुत सो जीभ बिगारि दियो॥**

तुमरो गोरस चाखि मुटाने लालच भूरि हियो।
अब क्यो भई कृपण तू प्यारी मैं तो हूँ बिन मोल लियो ।।
लियो लगाइ हृदय सों मोहन अधर सुधारस पियो।
'राधाकृष्णदास' मैं तेरो, तोहिं जिवाये जियो ।।

[ २ ]

कोउ संग बिहरत ह्वैहैं प्यारे।
कहुँ निकुंज बन केलि करत ह्वैहैं नैनन के तारे ।।
कहुँ जमुना तट सघन द्रुमन में दै गलबाहीं लाल।
करत कहूँ ह्वैहैं बतिया हँसि सँग सुंदरि नवबाल ।।
कहुँ लतान को टारत आगे प्रेमपगे नँदलाल।
पाछे ललना प्रेमपगी नव, बोलनि मधुर रसाल ।।
हम प्यारे के सुखहि सोचि कै अति प्रमुदित मन माहिं।
'दास' भले अनंद सों बिहरहु हमैं दुःख कछु नाहिं ।।

[ ३ ]

हौं तो दरसन ही की प्यासी।
चाहत नहीं और कछु केवल इक जुव रूप उपासी ।।
जहँ चाहौ बिहरौ पी प्यारे करहु महा सुखरासी।
तुमरोई सुख देखि कै होइहै सुखी तिहारी दासी ।।
रात दिना जो कछु चाहहु सोइ करहु हमैं न उदासी।
'दास' प्रात ही देहु दरस मोहिं अहो मीत बिस्वासी ।।

[ ४ ]

जो नहिं दरसन पाऊँ प्रात।
तौ बिलपत मो कहँ बीतैगो सगरो दिन अरु रात ।।
तासौं करत बीनती प्यारे जोरि कै दोऊ हाथ।
'दास' सवेरे ही दासी को दरसन दीजै नाथ ।।

[ ५ ]

लालन छोड़हु चंचल बान।
पौढ़े रहौ पालना ऊपर मंद मंद मुसक्यान ।।
बैठहु जिनि बलि जाऊँ रावरे तुम्हें हमारी आन।
अति चंचल कहुँ गिरहु न मोहन इहि डर सूखत प्रान ।।
जोइ चाहै सोइ माँगि लेहु तुम मेरे सब सुख-खान।
पै जिनि झुकौ पालने पर सों कहनो लीजै मान ।।
छोटी सुंदर दुलहिन के सँग ब्याहौ सुंदर कान।
पलना झुलाऊँ दाऊ एक सँग, करूँ तेरो गुन गान ।।
नाना लाड़ लड़ावति जसुमति प्रेम अनँद रस सान।
'राधाकृष्णदास' को ठाकुर चहत यहै सुख दान ।।

[ ६ ]

प्रगटी बरसाने ठकुरानी।
तीनि लोक आनँद सुख संपति रानी कीरति आनी ।।
जोगिराज जेहि ध्यान लगावत तऊ न पावत भेव।
सोई तीन लोक को ठाकुर करिहै याकी सेव ।।
बकसत आनँदनिधि भक्तन को रसिकनि की सिरताज।
'राधाकृष्णदास' की स्वामिनि गुननिधि प्रेम-जहाज ।।

[ ७ ]

हम सम और न कोऊ पापी।
बाहर सजि संतन के बाने रहे साक हम थापी ।।
मन नहिं बस इंद्रिय नहिं काबू निसि दिन विषय बिलासी।
परम भक्त बनि मधुर वाक्य कहि करत घात बिस्वासी ।।
घोरहु ते अति घोर पाप जो सुनि रोमांचित होय।
सो हम करत विषय रस लुबधे सुकृति सबै निज खोय ।।
करि पछतात करत फिर सोई पुनि आपही लजात।
हाय न तउ त्यागत निज बानहि फिरि फिरि गोता खात ।।

दीनानाथ दयाल कृपानिधि मम करनी को बखि

फिरि फिरि छमत बिदक देत फिरि आपु बिरद बिास पखि ॥

रोकि अन्तोगति प्राणनाथ अब दृढ़ता कीजे चित्त ।

'राधाकृष्णदास' संज्ञा की लज्जा राखो नित्त ॥

[ ८ ]

आजु रसरंग रह्यो सरसाय ।

जमुना तीर झुकीं द्रुमबेली राजत दोउ हरखाय ॥

परम एकांत बात रस-भीनी रहि लालीं उर लाय ।

प्रिया-प्रेम-आसव छकि लालन अरुझे सुधि बिसराय ॥

छाई घटा छटा अति शोभित मेघ मंद घहराय ।

नाचत मोर रोर दादुर पिक छबि अनुपम रहि छाय ॥

झीनी बूँदे परन लगीं तहँ उठत न दोउ रस माते ।

ज्यों तन भीजे त्यों मन भीजत रस बस उर लपटाते ॥

सुरँग चूनरी ओट श्याम करि प्यारी पीय बचावैं ।

प्रीतम पीत उपरना लैकै चूनरि ऊपर नावैं ॥

लहरिदार चूनरि पीतांबर भीजि बदन लपटानो ।

अद्भुत लहर रूप की उपजत लालनि मन ललचानो ॥

गउर श्याम मिलि एक रंग भयो भेद न कछू लखावै ।

चूनरि रंग टपनि तन छायो अति सोभा उफनावै ॥

मानों भिरे प्रेम-रन सूरे नेकहुँ टरत न टारे ।

नैन घाय घायल करि डारे छूटत सुरँग फुहारे ॥

यह सोभा कछु देखन ही की कहत न आवै बानी ।

मम हिय बसो 'दास' यह मूरति भीजि सरस रस सानी ॥

[ ९ ]

मोहन मोहिनि की जोरी ।

परम अलौकिक रूप रसिकबर केलि-कलारस बोरी ॥

अनुपम हास बिलास प्रेममय नवल दिनन की थोरी।
'राधाकृष्णदास' की स्वामिनि परम चतुर पै भोरी ॥

[ १० ]

झूलत दोउ जन रंग भरे।
भीर भई लोभी भँवरन की टारत नाहिं टरे ॥
जुरि आई ब्रजनारी सगरी लोचन देख सिरावै।
पसु पछी सब प्रेमबिबस भये व्याकुल इत उत धावै ॥
सोर मच्यो अकास में चहुं दिसि बिज्जु दिया दिखरावे।
सुर बाला सब तरसि तरसि कै नैनन नीर बहावै ॥
पंछीगन बैठे तरुवर पर मीठे सुर सों बोलें।
मानहुँ आनंदित ह्वै ह्वै कै प्रेम गाँठ कौ खोलै ॥
प्यारी गावत मीठे सुर सों सुनि कोकिल जिय लाजै।
बीन, सितार बजावत सखिजन बिच बिच मुरली बाजै ॥
झोंटा देत सखी जन इत उत पट अंबर फहराई।
त्रिभुवन की सोभा या छबि पैं वारि 'दास' बलि जाई ॥

[ ११ ]

फूलि रह्यो सगरो बन सजनी गुंजत भँवर बढ़यो आनंद।
बहि रही जमुना बीच द्रुमन के सीरी पवन चलत अति मंद ॥
कोकिल गावत केलि करत भृंग नाचत मोर रसीली चाल।
हिलत पत्र द्रुम बेलि मनोहर गगन कहूँ ह्वै रह्यो लाल ॥
पंछीगन कलरोर करत तहँ गहवर कुंज सुहाने।
मालति लता झूमि रहीं फूलीं मैं जु गइ तहँ न्हाने ॥
धरि कै बसन घाट पै जब मैं उतरी जमुना माहिं सखी री।
तब इक निकसि अचानक आयो मुरि कै मो तन नगन लखी री ॥
मैं सकुचाय पैठि गइ जल मैं वह इकटक मोहिं रह्यो निहारि।
देखि कै वाकी तीखी चितवन तन मन सबहि रही मैं हारि ॥

प्रेम बिबस कछु सुरत रही ना जकि रहि जमुना माहि ।
ब्याकुल होइ धाइ वह आयो लियो मोहिं कसि दोउ भुज माहिं ।।
मैं सकुची पै करि न सकी कछु जीत्यो छल हार भई मेरी ।
जो मन भायो सोइ सब कीनो भई हाय मोहि लाज घनेरी ।।
घर आवत कछु बिलँब होइ गइ सुन्यो जु सास ननँद को तानो ।
गोर रहि चितवन हिय मैं मेरे चाहत भूलन नाहिं भुलानो ।।
होइ मिलाव कौन बिधि सजनी कैसे निरखन छिन छिन पाऊँ ।
कैसे पिय प्यारे को निज हिय राखि आपुनी तपन बुझाऊँ ।।
'दास' तोरि कै लाज-कपाटहिं, चली पुलकि पिय तीर ।
जाइ मिली घन मैं दामिनि ज्यों मेटि सकल हिय पीर ।।

[ १२ ]

तुम मेरे प्रानन हूँ ते प्यारे ।
नेकु टरत नहिं इन नैनन सो हे ब्रजराज दुलारे ।।
बाप थक्यो सिर पीटि मींजि कर भाइ बंधु सब हारे ।
माय थकी बकि पिय प्यारे तुम कैसहु टरत न टारे ।।
जानि गयो सब ब्रज अब प्रीतिहिं खुलि गये हीयकबारे ।
'दास' मिली तिय धाइ लाल सों छिनहूँ रही न सम्हारे ।।

[ १३ ]

जो पै ऐसिहि करनी होय ।
तौ किन बेग उठावत जग सों दुखद दुसंगति खोय ।।
जिन ओछे जन मुख अवलोकत हृदय घृणित अति होय ।
बिना दोस तिन वाक्य-बान सों रहत बिद्ध हिय रोय ।।
जिन के हित जग त्रास सहत निज जनम गँवावत हाय ।
तेऊ रहत उदास दुखित ही हा अदृष्ट बलि जाय ।।
ज्यों ज्यों इन सों करत भलाई दबि कै रहत मुदाम ।
त्यों त्यों चढ़त सीस पै नाहक बढ़ि बढ़ि करत कलाम ।।

प्रानन्नाथ तुव बिरह अलौकिक सुख लूटन सों छूटि ।
व्यर्थ दिवस सब हाय बितावत जग झंझट सिर कूटि ॥
नहिं धन नहिं पौरुष नहि साहस फँसे हाय बेतौर ।
रहत मसूसि करत न बनत कछु कहुँ दिखात नहिं ठौर ॥
यह मानुष तन यह सुंदर कुल यह चित की उरझान ।
जान चहत सब हाय व्यर्थ ही एहो दयानिधान ॥
लौकिक विषय सदा दुख पावत तुव जन संसय नाहिं ।
पै क्यों नसत अलौकिक ताहू जग मलीनता माँहि ॥
प्यारे प्राननाथ प्रीतम अब फिरै कृपा की कोर ।
मम हिय फहरत रहै सदा वह पीतांबर की छोर ॥
ये जग के दुख सुख सब आवैं जायँ न बाधक होय ।
बिनु अपराध शत्रुता वारे रहैं मसूसनि रोय ॥
तुव पद कमल त्यागि मन मेरो कहूँ न इत उत जाय ।
नाम सु 'राधाकृष्णदास' को सार्थकता लहि पाय ॥

[ १४ ]

सखी हौं गई नंद के आज ।
हटरी माँझ बिराजे मोहन लुटत सबै सुख साज ॥
सुंदर श्याम कमल दल लोचन देखत चित्त लुभाई ।
पै गुरुजन के लाजन आगे जिय भरि देख न पाई ॥
तब इक जुक्ति बिचारि आरसी मैं पिय रूप लख्यो री ।
रूप-सुधा की प्यासी जिय भरि नैननि खूब चख्यो री ॥
इतने ही में भई चार आँखैं आरसि मे आली ।
'दास' हाय मन लियो छीनि मम मुसकि ठगौरी डाली ॥

[ १५ ]

प्राणनाथ पिय प्यारे मोहन का कहि तुम्हैं बुझाऊँ ।
फँस्यो जात नित नित भव-कीचड़ कैसे नाथ बचाऊँ ॥

कबहु न भीजत हिय पिय रस म कस ताहि भिजाऊँ।
नाथ हाय! कैसे बिरहागिन हिरदय में सुलगाऊँ॥
नेकहु ध्यान शुद्ध मन ह्वै कै तुमरो करन न पाऊँ।
विषय वासना लिप्त सदा ही बालू भीत बनाऊँ॥
जो कहुँ कबौ हिये में आवो तो हौं तुरत भगाऊँ।
हाय, कबहुँ नहि जिय भरि प्यारे तुम्हरो ध्यान लगाऊँ॥
जो कबहूँ मन तुव पद सोचे तो सोचन नहिं पाऊँ।
विघ्न अनेक आइ सनमुख ह्वै सब ही तुरत भुलाऊँ॥
नाथ, नहीं पुरषारथ हम में हठ करि नेह निबाहूँ।
'राधाकृष्णदास' अपुनाइय कछु तौ तपनि जुड़ाऊँ॥

## बरवै

ए हो मीत पियरवा परम सुजान।
मेरी हू सुधि लीजै तलफत आन॥
तुम तो रसिक-सिरोमनि सब गुन खान।
हिरदय कठिन कठोरवा केहि हित ठान॥
प्रीतम प्यारे मितवा तुम बिनु हाय।
इक छन रहत न धिरवा हिय लहराय॥
सब अँग अतिसय कोमल दयानिधान।
मो हित हृदय कठोरवा काहे ठान॥

## घनाक्षरी

[ १ ]

मै तो पिय प्यारे ही के रंगन रँगीली सदा,
मोसो जिन भाखो ऐसी बातै दुखदाइनी।

औगुन हू वाके मोंहिं गुन ही से दीसत है,

प्यारे की रहनि मोंहिं जियते सुहाइनी ।।

प्यारे जू की प्यारी सोई मेरी प्यारी आली सुनि,

तासों बढ़ि नाहीं कोऊ मेरी हितकारिनी ।

ऐरी हटि दूर होइ निंदै जिनि ताकों बलि,

जाको लहि भागन सों भई हौ मैं सुहागिनी ।।

[ २ ]

करत अनीति ब्रज मंडल इतरात फिरौ,

तासो कसक सब अवसि निकारैगी ।

होइ निरदई दई आँज कै कमल नैन,

मींडि मुख कोमल गुलाल मूठ मारैगी ।।

वह हू हठीली तुम सदा ही खिझावौ ताहि,

'दास' याइ औसर न आजु वह हारैगी ।

हा हा प्राणनाथ कहूँ बाहर न जैये बलि,

देखत ही लाल तुम्है लाल करि डारैगी ।।

[ ३ ]

जनम लियो है ब्रज प्रेम-सुधा सागर सों,

बापुरो मयंक प्रगट्यो है जल खारी को ।

घटत बढ़त तेजहीन तेजमान होत,

बाढ़ै दिन दूनो तेज कीरति कुमारी को ।।

वह सकलंक 'दास' दुखद चकोर मह,

मेटत कलंक भव पोषत बिहारी को ।

घन मे छिपत यह घनश्याम संग सदा,

मंद करै चंदहि अमंद मुख प्यारी को ।।

# कुडलिया[1]

[ १ ]

अहो पथिक कहियो इती, गिरधारी सो टेर।
दृग झर लाई राधिका, अब बूड़त ब्रज फेर॥
अब बूड़त ब्रज फेर, पियारे तुम देखे बिन।
बरसत ही ये रहैं, थमत नाहिन एकहु छिन॥
लग्यो रहै यह तार घोर घन निसि दिन बरसहि।
क्यो बचिहै अब देस जाइ के अहो पथिक कहि॥

[ २ ]

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँई परे, स्याम हरित दुति होय॥
स्याम हरित दुति होय, परे जा तन की आभा।
जा को सुमिरन मात्र अहै या जग में लाभा॥
जा के होत प्रसन्न लगत तनिकहुँ नहिं देरी।
सोइ श्री राधा 'दास', हरौ बाधा सब मेरी॥

[ ३ ]

मोर मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
यहि बानिक मो मन बसौ, सदा बिहारीलाल॥
सदा बिहारीलाल बसौ हिरदै में मेरे।
सदा तिहारो ध्यान रहै चहुँ दिसि सों घेरे॥
'दास' चरन में भक्ति रहै सब देवन सों हटि।
देखत ही नित रहौं, सुसज्जित मोर मुकुट कटि॥

---

[1] ये कुंडलियाँ बिहारी के दोहों पर रची गई है।

[ ४ ]

अधर धरत हरि के परत , ओठ दीठ पट जोत ।
हरित बाँस की बाँसुरी, इंद्र धनुष सी होत ।।
इंद्र धनुष सी होत पीय कैं अधर सुधारस ।
खुलत औरहू रंग बजावत प्यारे हँसि हँस ।।
एकटक देखत रहौं एक हूँ छन नाहिंन टरि ।
'दास' रँगीली बेनुहि जेहि छिन अधर धरत हरि ।।

[ ५–६ ]

किती न गोकुल कुलबधू, काहि न केहि सिख दीन ।
कौने तजी न कुल गली, ह्वै मुरली सुर लीन ।।
ह्वै मुरली सुर लीन धाइ बन बीथिन भटकीं ।
छाँड़ि वेद की रीति लोक मरजादहि पटकीं ।।
तजि गुरुजन की त्रास 'दास' उपहास और कुल ।
लपटीं श्याम तमाल जाइ तिय किती न गोकुल ।।

ह्वै मुरली सुर लीन खिंचि गई बिबस आपु ह्वै ।
चुबक सी आकरसित भइं मनु सुधि बुधि सब खवै ।।
नाहि रुकीं कहुँ उमगि चलीं मनु तोरि दुहूँ कुल ।
नागर सागर जाइ मिलीं तिय किती न गोकुल ।।

## सवैया

[ १ ]

कुल कानि गँवाइ बहाइ कैं लाज
पियारे तिहारी प्रतीति करी ।
जगसीस दै पाँव चवाव सुन्यो
नहिं काहु की नेकहु भीति करी ।।

रूख दखत ही सब ओस गया

सुधि हाय कवा नहि मीति करी ।

हम ही यह लाल अनीति करी

तुमसों बिनु जाने जो प्रीति करी ॥

[ २ ]

हम चेरी ह्वै तेरी रहैंगी सदा

अलि नेकहि लाइ मिलाओ तिन्हें ।

करिकै बहु चाह उपाय अनेक

सुप्रेम भरे पिय भेटें जिन्हें ॥

हिय लाइ कै चूमौं कपोलन को

जिन पै पिय चुम्बन राजे चिन्हें ।

पिय संगम को सुख लूटि सखी

बड़ भागिनि होऊँगी देखि उन्हें ॥

## सोरठा

प्रान-पतग अकाम, जाइ जाइ फिरि आवई ।

पिया-मिलन की आस, डोरी जान न देइ उडि ॥

## दोहा

चौथ चंद देख्यो सखी, मो जिय अति आनंद ।

यह कलंक लगिहै कहा, हम प्रेमी ब्रजचंद ॥

अहौं कलंकिन राधा की, निरखत मुख ब्रजचंद ।

हमें कहा डरपावही, अरे चौथ के चंद ॥

# स्वर्गीय 'रियाज़' खैराबादी

[ लेखक—श्रीयुत इकबाल वर्मा, 'सेहर' ]

'रियाज' अरबी शब्द और 'रौजा' का बहुवचन है। 'रौजा' कहते है 'बाग' को। इस बात को देखते हुए सैयद रियाज अहमद 'रियाज' खैराबादी ने, जिन का ३० जुलाई सन् १९३४ ई० को लगभग ८० वर्ष की आयु मे स्वर्गवास हो चुका है, अपना उपनाम अपने काम के उपयुक्त ही रक्खा था। उन के कलाम की उपमा किसी हरे-भरे बाग से दी जा सकती है। उस मे सौंदर्य और मादकता का अपूर्व सम्मिश्रण हुआ है। उन के सौंदर्य का सबध प्रेमिका से है और उन की मादकता का मदिरा से। आप चाहे कही-कही अपनी मर्जी से उन का लगाव परलोक से समझ लीजिए पर असल मे उन का प्रयोग लौकिक रीति पर ही हुआ है। वह पहले 'असीर' और फिर 'अमीर मीनाई' के शागिर्द हुए। दोनो लखनऊ के मशहूर उस्ताद थे। दोनों की शायरी लखनऊ की शायरी थी, जो परिस्थितियो के देखते भले ही ठीक कही जा सके, पर अब तो बहुत करके बदनाम ही हो रही है। उस्तादो की रविश पर चलना शागिर्द का भी फर्ज था। 'रियाज' भी अधिकतर उन्नीसवी शताब्दी के उर्दू कवि थे, तत्कालीन परिस्थितियो से बच कर कैसे रह सकते थे? अत. उन के कलाम मे भी यदि नैतिकता या आध्यात्मिकता है, तो उतनी ही कम-कम जितनी उन के गुरुओ वा अन्य तत्कालीन प्रसिद्ध उर्दू कवियों की कृतियो मे पाई जाती है। पर इस मे सदेह नही कि 'रियाज' ने अपने विचारों को खूब सजा कर अधिक रोचक रूप मे पेश किया है। उन्हे अपने समकालीनो से "खैयामुलहिंद" या हिंद के खैयाम की उपाधि मिली थी। उन के उस्ताद 'अमीर मीनाई' और 'दाग' देहलवी—ये दोनो समकालीन सुप्रसिद्ध उर्दू कवि पारस्परिक तुलना के विषय बन चुके है। 'रियाज़' कहते तो यही थे कि "मेरे कलाम को तो उस हर्फ का दर्जा भी हासिल नहीं जो 'दाग' के कलम से सहवन निकल गया हो, फिर उन का मुकाबिल या हमसर (बराबर) होना तो बड़ी बात है", पर सच पूछिए तो वह साधारणतः 'दाग़' की बराबरी वाले शायर जरूर थे

और विशेषत शराब के कीर्तिगान में तो 'दाग' क्या, उर्दू का कोई भी शायर उन के सामने नही ठहर सकता।

है 'रियाज़' इक जवाने-मस्ते-ख़िराम[१] ।
न पिये और झूमता जाये ।

---यह मस्ती और झूमने वाली बात उन के काव्य और तज्जनित प्रभाव की दृष्टि से पूर्णत चरितार्थ होती है।

'रियाज़' खैराबादी १२७३ हिजरी (लगभग १८५६ ई०) में पैदा हुए। उन के पिता सैयद तुफ़ैल अहमद खैराबाद के रईस और बड़े विद्वान थे। वह सन् १८७० ई० के लगभग गोरखपुर मे पहले तहसीलदार और फिर पुलीस के कोर्ट इंस्पेक्टर भी रहे थे। 'रियाज़' ने शुरू-शुरू मे खैराबाद के अरबी स्कूल मे तालीम पाई थी। फ़ारसी अपने पिता से पढी थी और अरबी हकीम फैयाज हुसेन रईस खैराबाद से, जो 'रियाज' के महल्ले में ही रहते थे। अभी पढाई समाप्त न हुई थी और उम्र के १८ साल भी पूरे न हुए थे कि नौजवान शायर के दिल पर शेर-सख़ुन के शौक ने अपना रग जमाना शुरू कर दिया। खैराबाद से सीतापुर तक मुशायरों का ज़ोर-शोर हुआ और 'रियाज' की उमग-भरी तबीअत अपना जौहर दिखाने लगी। जब वह अपने पिता के पास गोरखपुर रहते तो वहाँ भी दिन-रात शेर-शायरी की चर्चा और मुशायरो की शिरकत रहती। इन इल्मी सुहबतो का नतीजा यह हुआ कि 'रियाज' की महारत तेजी से बढती गई और शनै शनै उन के कलाम मे उस्तादाना रंग झलकने लगा। उन की शिरकत का आखिरी मुशायरा वह था जिसे स्वर्गीय निज़ाम मीर महबूब अली ख़ाँ ने उन्ही के सम्मान मे अपने महल मे किया था। स्वर्गीय स्वय भी अच्छे कवि थे और अच्छे कवियो का आदर-सत्कार करना भी खूब जानते थे।

'रियाज' ने सन् १२९६ हि० (सन् १८७८ ई० के लगभग) मे खैराबाद ही मे एक प्रेस कायम कर 'गुलकदा' नामी मासिक पत्र का प्रकाशन प्रारभ किया, जिस के एक भाग मे सुप्रसिद्ध उर्दू कवियो के 'दीवानो' (काव्य-सग्रहो) का इतख़ाब (चुना कलाम) और दूसरे भाग में 'अमीर', 'दाग', 'जलाल' जैसे ख्यातनामा उर्दू कवियो की

---

[१] चाल में मस्त।

समस्यापूर्ति-सबंधी गजलों का प्रकाशन होता था। उस समय 'गुलकदा' अपने रग में इकता था। इस के बाद ही 'रियाजुल अखबार' भी निकला जो साप्ताहिक होते हुए भी अधिकतर साहित्यिक था। फिर खैराबाद में ठीक न चलने के कारण उस का प्रकाशन लखनऊ से होने लगा। जब 'रियाज' सन् १८८० या १८८१ ई० में स्वय सरकारी मुला-जिम हो कर गोरखपुर में, पहले पुलीस-सब-इंस्पेक्टर और फिर पुलीस-सुपेरिंटेंडेट के पेशकार हो गए तब कुछ अर्से बाद यानी सन् १८८३ ई० में उन का अखबार भी गोरख-पुर लाया गया। वहीं से उन्हो ने 'फितना' और 'इत्रे-फितना' नामी गद्य और पद्य की पत्रिकायें भी प्रकाशित की। इस के अतिरिक्त उन्हों ने 'गुलहे-कुल' और 'गुलची' नामी पत्र तथा पत्रिका का भी संपादन किया था। अपने पत्रो में लिखते रहने के अलावा अन्य पत्रों के लिए भी लिखते थे, जिन में लखनऊ का 'अवध-पच' प्रमुख था। उन्हो ने अपनी ही निगरानी में रेनाल्ड्स के 'लव्ज अव दि हैरेम', 'ब्रांज स्टैच्यू' और 'एलेन पर्सी' नामी नावेलों के उर्दू तर्जुमे भी कराए जो बड़े रोचक थे। इन सब बातो से विदित होगा कि वह कुशल कवि तो थे ही, पर साथ ही कुशल पत्रकार और लेखक भी थे। फिर उन की दृष्टि में अपनी कलाओ का मूल्य कितना अधिक था, इस के अंदाजे के लिए यही कहना काफी होगा कि अखबार ही के कारण हाकिमो से रंजिश हो जाने पर उन्हो ने अपनी नौकरी से इस्तीफा दे दिया था।

'रियाजुल अखबार' में सामाजिक और राजनीतिक विषयो की चर्चा भी होती थी। सन् १८९६ ई० में तो लोग 'हड़ताल' का नाम भी न जानते थे। गोरखपुर के तत्का-लीन कलेक्टर वहाँ के म्यूनिसिपल-चेयरमैन भी थे जिन की मंशा से किसी कब्रस्तान को बद कर के दूसरा बनाया गया था और कोई मसजिद भी बावर्चीखाने में तबदील कर दी गई थी। कुछ महसूले-जग बढाने की भी बात थी। 'रियाजुल अखबार' ने इन सभी बातो के विरोध में बडी सरगर्मी दिखाई। हड़ताल भी बडी जबरदस्त थी। आखिर प्रात के तत्कालीन लफ्टंट-गवर्नर सर ऐंटनी मैकडानेल की कृपा से सभी शिकायते दूर हो गई। उसी समय अखबार के 'हसरती' नामी एडीटर को हाकिमो के खिलाफ कुछ सख्त लिखने पर जेल भी जाना पड़ा था। यद्यपि 'रियाज' ने वैसा न लिखने की हिदायत कर दी थी।

'रियाजुल अखबार' बड़े प्रभाव एव महत्व का पत्र था जिस का, और जिस के

नात उस के संचालक 'रियाज़' का सभी आदर करते थे इस प्रकार वह राजा तथा प्रजा का शिक्षक एवं सुधारक बन कर लगभग १६–१७ साल तक गोरखपुर से बड़ी सफलता के साथ निकलता रहा। फिर लखनऊ लाया गया। उस समय 'रियाज' की आयु लगभग ५० वर्ष थी।

'रियाज़' थी जो नसीबों में बाज़गश्ते-शबाब,[1]
जवान होने को पीरी[2] में लखनऊ आए।

'रियाज' को लखनऊ के सरस वातावरण ने भले ही जवान बना दिया हो पर बेचारे अखबार को तो उठती जवानी में ही बुढ़ापे के दिन देखने पड़े। बड़ा घाटा हुआ। पर उन से भी बड़ा घाटा यह हुआ कि जब 'रियाज' लखनऊ जाने के लिए खैराबाद उतरे तो चार गज़ कोरी मारकीन में बँधा हुआ एक बहुत बड़ा बंडल रेल ही पर रह गया। इस में लगभग २० हज़ार के बकाया और मुतालबा (पावना) का हिसाब, 'अमीर', 'दाग', 'जलाल' आदि के रक्षणीय पत्र, 'रियाज' के दो पूरे 'दीवान' और मसबिदे आदि कितने ही अमूल्य कागज़ात थे। बंडल की खोज सीतापुर से ले कर कासगंज तक हुई पर कुछ पता न चला और इस तरह 'रियाज' की सारी उम्र की कमाई नष्ट हो गई। उस समय तक उन का जो कलाम पत्र-पत्रिकाओं में छप चुका था वही बच रहा।

वह अपने जादू-भरे कलाम की बदौलत न केवल हैदराबाद के निजाम द्वारा सम्मानित हुए थे बल्कि रामपुर के नवाब कल्बअलीखाँ ने भी अपने यहाँ बुला कर इनआम-इकराम द्वारा उन का समुचित सम्मान किया था। वह स्वयं अपने कलाम को क्या-कुछ समझते थे, इस का अनुमान एक घटना से हो सकेगा। कोई बड़े रईस[3] उन का 'दीवान' छपा देने को तैयार थे, मगर इस शर्त पर कि कुछ 'बाजारू' पद उस से निकाल दिए जायँ। 'रियाज' राजी न हुए और यह कहते हुए उस प्रस्ताव को ठुकरा दिया कि 'वैसे प्रत्येक पद का मूल्य मेरी दृष्टि में उन की सारी रियासत के मूल्य से अधिक है। वह अपने आखिरी दिनों तक अपना 'दीवान' छपाने के लिए चिंतित रहे, पर स्वाभिमानी

---

[1] जवानी की वापसी। [2] बुढ़ापे।

[3] मेरे पूछने पर रियाज़ ने लिखा था कि रईस का नाम फिर बतलाऊँगा पर इस बीच में 'रियाज' का देहांत ही हो गया।

कवि ने काट-छाँट कर छपाने की अपेक्षा उस का न छपाना ही बेहतर समझा। अभी कुछ महीने हुए उन्हों ने मुझे लिखा था कि "ख़ान बहादुर मुहम्मद इस्माईल[1] का आग्रह है कि उन का 'दीवान' गोरखपुर को ही प्रकाशित करना चाहिए अतः इस काम के लिए वहीं उन की अध्यक्षता में एक कमेटी भी बन गई है, जिस के पास 'दीवान' का पूरा मसविदा भी भेज दिया गया है। अब मेरी सेहत ने इजाज़त दी तो जल्द ही छपेगा।" अफसोस कि मौत के बेदर्द हाथों ने उन की ज़िंदगी में उन की वह साध न पूरी होने दी।[2]

निस्सन्देह उन के दीवान का छापना गोरखपुर के लिए गौरव की बात होगी। गोरखपुर से 'रियाज़' का बड़ा घनिष्ट संबंध रहा—इतना कि बहुधा 'रियाज़-गोरखपुरी' कहे जाते हैं। वह एक प्रकार सन् १८७० ई० से सन् १९०९ ई० तक गोरखपुर में ही रहे। वहीं मकान भी बनवाया। वहीं उन की शायरी भी चमकी और वहीं उन्हों ने अपने अख़बार द्वारा सार्वजनिक सेवायें भी की। संक्षेप में उन के जीवन की बहार वहीं बीती। फरमाते हैं :—

हुई है मेरी जवानी फ़िदाय-गोरखपूर,
लहद[3] से आएगी आवाज़ 'हाय गोरखपूर'।
हम अपने ख़ूने-तमन्ना[4] से सींच आए हैं,
हसीं लगायें मँगा कर हिनाय[5]-गोरखपूर।

निम्न पदों से प्रगट है कि उन्हों ने अपने उस प्रिय स्थान को बड़ी मजबूरी की दशा में ही छोड़ा होगा—

सितम है आदमी के वास्ते मजबूर हो जाना,
ज़मीं का सख़्त हो जाना फ़लक[6] का दूर हो जाना।
'रियाज़' इस शहर से अब क्या करें हम क़स्द जाने का,
नसीबों में लिखा है ख़ाके-गोरखपूर हो जाना।

---

[1] अब प्रयाग-हाईकोर्ट के सरकारी एडवोकेट।

[2] म० रघुपतिसहाय 'फ़िराक़' गोरखपुरी ने 'रियाज़' का एक छोटा काव्यसंग्रह छपा भी दिया है, जिसे छपे कई वर्ष हो गए।

[3] क़ब्र। [4] कामना-रक्त। [5] मेहँदी। [6] आसमान।

पर वहाँ न रहते हुए भी वह गोरखपुर की याद न भूले थ

**'रियाज़' अहबाबे[1]-गोरखपूर अकसर याद आते हैं,**

**ज़बाँ पर मेरी अकसर ज़िक्रे-गोरखपूर रहता है।**

फिर उन का प्रेम स्मरण तक ही परिमित न था। वह अक्सर खैराबाद से वहाँ जाते भी रहते थे —

**'रियाज़' इस तरह आ जाता है दो दिन को शबाब,[2]**

**दाग़े-कुहना[3] ताज़ा कर आते हैं गोरखपूर से।**

कवि शोक में हर्ष मानता है। वहाँ जा कर उस के दिल का स्मृति-रूपी दाग उभरे बिना नही रहता, पर वह उसी उभार में अपनी गई हुई जवानी की एक बुझी सी चमक देख कर निहाल हो जाता है!

हम ऊपर कह चुके है कि 'रियाजुल अखबार' राजनीतिक चर्चा से शून्य न था, पर 'रियाज़' की कविताओं में तो वैसी चर्चा का प्राय. अभाव ही होता था। हॉ, कभी किसी गज़ल के सिलसिले मे वैसे २-४ पद निकल भी गए तो वे बडे मार्के के होते थे। उदाहरणार्थ जब गत महासमर में टर्की हार चुका था और खिलाफती गुत्थी सुलझाने के लिए हिंदू-मुस्लिम ऐक्य को लेते हुए महात्मा गाधी का आदोलन ज़ोरो से चल रहा था तो 'रियाज़' ने अपनी एक गज़ल मे ये दो पद कह डाले थे :—

**अब मर्द बनी है क़ौम अपनी, लौंडी से ग़ुलाम हो गई है।**

**मक्का-मसजिद[4] में शोरे-नाकूस,[5] आवाज़े-इमाम हो गई है।**

प्रथम पद मे कितना व्यंग, कितनी यथार्थता और कितनी रोचकता है; और द्वितीय पद मे हिंदू-मुस्लिम ऐक्य को चरितार्थ करने के लिए मसजिद के इमाम की आवाज को ही शंखनाद बना दिया गया है। 'रियाज़' की सूझ-बूझ अनोखी ही है। उस का परिचय गज़ल के अन्य पदो से भी मिलता है पर अन्य रीति पर। देखिए —

---

[1] मित्रगण। [2] जवानी। [3] पुराना दाग़। [4] हैदराबाद-दक्खिन की एक मशहूर मसजिद। [5] शंखनाद।

जिस दिन से हराम हो गई है
मैं[1] खुल्द मुक़ाम[2] हो गई है।
क़ाबू में है उन के वस्ल[3] का दिन,
जब आए हैं शाम हो गई है।
तौबा[4] से हमारी बोतल अच्छी,
जब टूटी है जाम[5] हो गई है।

प्रथम पद—इस्लाम मे शराब हराम है पर इस्लामी स्वर्ग मे तो उस की नहरें बहती है। कवि कहता है कि यहाँ हराम होने से ही वह स्वर्ग में बस गई है—जमीन से आसमान पर जा पहुँची है!

द्वितीय पद—प्रेमिका के आगमन मे ही करामात है। उस के आते ही शाम हो जाती है!

तृतीय पद में कुशल कवि अपनी ही पसद की चीज़ को बेहतर साबित करना चाहता है। कहता है 'तौबा' तो टूट कर किसी काम की नही रहती पर शराब की बोतल तो बोतल न रह कर भी शराब का प्याला बन जाती है!

राजनीति के बारे मे 'रियाज' की गजल के जो पद पहले दिए गए है उन से यह न समझ लेना चाहिए कि उन की स्वतंत्र राजनीतिक कविता भी वैसे ही मार्के की हो सकती थी। 'रियाज' की विशेषता तो गजल मे ही थी। हाँ, यदि उन्हो ने एक-आध खालिस राजनीतिक कविता लिखी भी, तो उन की साधारण शैली का अपवाद होते हुए वह शिथिल ही पड गई। एक सादगी तो बराबर क़ायम रही।

अब हम कुछ गजलो के चुने हुए पद दे कर 'रियाज़' को उस रग मे पेश करते है जो उन का अपना है और जो पुराने कवियों का सा होते हुए भी अपनी बहार में निराला है —

---

[1] शराब। [2] स्वर्गस्थ। [3] मिलन। [4] पाप पर पछतावा के साथ पाप न करने का इकरार। [5] प्याला।

मेरी फ़रियाद का क्या खाक असर हो उन पर
बुत[1] तो पत्थर हैं नहीं सुनते हैं पत्थर फ़रियाद।
चैन से कोई नहीं अह्‌दे-सितम[2] में तेरे,
क्या ज़माना है कि दिन रात है घर घर फ़रियाद।
वह खुला दश्त[3] हो या बंद क़फ़स[4] एक है सब,
चहचहे बाग़ में हैं बाग़ से बाहर फ़रियाद।

कैसे खिले और बोलते हुए शेर हैं ! सचाई में भी काव्य-कल्पना अपनी छटा दिखा रही है। आप इन शेरों का मतलब चाहे जिस प्रकार समझ लें, आप को कवि के उस कलाम की दाद ही देनी पड़ेगी जो उस की गजलों की विशेषता है। प्रथम पद के द्वितीय दल में 'बुत' और 'पत्थर' के प्रयोग ने कैसा चमत्कार पैदा कर दिया है !

बहार[5] नाम की है काम की बहार नहीं,
कि दस्ते-शौक़[6] किसी के गले का हार नहीं।
जो आज वस्ल[7] में इस तरह चूसे जाते हैं,
इन्हीं लबों से सुनी है हजार बार 'नहीं'।
इधर है बेखुदिए[8]-शौक़ उधर है नश्श्ये-हुस्न,[9]
शबे-विसाल[10] है और कोई होशियार नहीं।
सहर[11] भी होती है चलते हैं ए अजल[12] हम भी,
अब उन के आने का हम को भी इंतजार नहीं।
रहेगी याद उन्हें भी मुझे भी वस्ल की रात,
कि उन सा शोख़[13] नहीं मुझ सा बेक़रार नहीं।
हिना[14] लगा के पहुँचते हैं गुलरुख़ों[15] में 'रियाज़',
कुछ इन की रीशे[16]-मुबारक का एतबार नहीं।

---

[1] मूर्ति, प्रेमिका। [2] अत्याचार-पूर्ण युग। [3] जंगल। [4] पिंजड़ा। [5] वसंत-ऋतु। [6] शौक़ भरा हाथ। [7] मिलन। [8] बेसुधी। [9] सौंदर्य-मद। [10] मिलन-रात्रि। [11] सवेरा। [12] मृत्यु। [13] चंचल। [14] मेहँदी। [15] पुष्प-मुखियों। [16] डाढ़ी।

प्रथम पद की काव्यकल्पना सराहनीय है। 'हार' न होने के कारण 'बहार' का काम की न हो कर केवल नाम की होना ठीक ही है। 'नाम की' और 'काम की' बड़े मौके के शब्द हैं। द्वितीय पद शृंगाररस मे शराबोर है जिसे 'रियाज' की विशेषता ही समझनी चाहिए। तृतीय पद मे कवि ने मिलन-रात्रि की दशा का कैसा सरस एव सजीव चित्र खींचा है। चतुर्थ पद से निराशा की एक अजीब कैफियत छा जाती है। पचम पद में जो माशूक की शोखी है वही आशिक की बेकरारी है। कैसा सुंदर साम्य है! अंतिम पद में 'हिना' और 'गुल' (गुलाब) एक-दूसरे के उपयुक्त हैं। पद 'रियाज' की ज़िंदादिली का नमूना है। बड़ी मशहूर ग़जल है। सारल्य, प्रवाह और शब्द-विन्यास ने एक सगीत पैदा कर दिया है जो कविता की जान है।

बार[1] होता न शबे-वस्ल नज़ाकत[2] को तेरी,
लब[3] मेरा मिस्ले-तबस्सुम[4] तेरे लब पर होता।
ज़िंदगी आठ पहर लुत्फ़ से कटती कातिल,
साँस की तरह रवाँ सीने में ख़ंजर होता।

प्रथम पद मे कवि ने मिस्ले-तबस्सुम का प्रयोग कर पद मे विचित्र कोमलता एव सुदरता भर दी है। इसे शृगारी काव्य-कल्पना की अतिम उड़ान समझनी चाहिए जिस ने पद की अश्लीलता को एक दम दबा दिया है।

द्वितीय पद में ज़ुल्मी माशूक की छुरी का ज़ुल्म-पसद आशिक के सीने मे साँस बन कर चलना और वैसी साँस से आशिक की ज़िंदगी का सुख से कटना—बड़ी ज़बर्दस्त उड़ान है।

मै रहे मीना[5] रहे गर्दिश में पैमाना[6] रहे,
मेरे साकी तू रहे आबाद मैख़ाना[7] रहे।
गोरे हाथों में बने चूड़ी ख़ते-सागर[8] का अक्स,
इस अदा से हाथ मे नाज़ुक सा पैमाना रहे।

---

[1] बोझ। [2] कोमलता। [3] होंठ। [4] मुसकान-सदृश। [5] शराब का शीशा। [6] प्याला। [7] कलवारी। [8] प्याले की लकीर।

कम से कम इतना असर हो जो सुन आ जाय नींद
बेकसों की मौत का दुनिया में अफ़साना[1] रहे।
हश्र[2] है तुम शर्म के पुतले न बन जाना कहीं,
चाल अठलाती हुई अंदाज मस्ताना रहे।
जिंदगी का लुत्फ़ है उड़ती रहे हर दम 'रियाज़',
मैं हूँ शीशे की परी हो घर परीख़ाना रहे।

प्रथम पद में 'मीम' (म) की आवृत्ति ने संगीत सा उत्पन्न कर दिया है। पद में तद्विषयक सभी जरूरी बातों को संक्षेप में रख दिया गया है जिस से चित्र में बड़ी सुंदर संपूर्णता आ गई है।

द्वितीय पद में प्रेमिका के बड़े नाजुक और खूब गोरे हाथों में पहनाने के लिए प्याले की लकीर के अक्स से कैसी नाजुक चूड़ी तैयार की गई है। कितनी सूक्ष्म काव्य-कल्पना है। ऐसे ही पदों ने 'रियाज' को शृंगारी काव्य-जगत का राजा बना दिया है।

तृतीय पद में कवि ने बड़ी बारीकी से अपना मतलब निकाला है। सुनते-सुनते नींद आ जाना असल में किसी असर का परिचायक नहीं, पर कहानी सुनने में नींद तो आती ही है। फिर दुनिया में किसी बात की कहानी चलना उस की प्रसिद्धि को प्रगट करता है। अतः कवि ने 'अफसाना रहे' को श्लेषात्मक रीति पर प्रयुक्त कर 'बेकसों की मौत' की शोहरत चाही है और इस तरह असर न होने में भी असर होना बतलाया है।

अंतिम पद 'रियाज' की मदिरा संबंधी विशेषता जाहिर करता है। 'शीशे की परी' में मस्ती का होना भी ठीक है और घर का 'परीखाना' बन जाना भी। लुत्फ के लिए दोनों का होना जरूरी है। इसी लिए शराब को शराब न कह कर 'शीशे की परी' कहा गया है।

तीसरे फ़ाके हमें दानये-अंगूर मिले,
हम यह समझे कि भरे सागरे-बिल्लूर मिले।

---

[1] कहानी। [2] कयामत का दिन, जब इसलामी मतानुसार मुर्दे जिंदा होंगे और खुदा उन का इंसाफ करेगा।

कितने काबे मिले रस्ते मे कई तूर[1] मिले,
इन मुक़ामात से हम को वह बहुत दूर मिले।
नश्शः है उन को जवानी का हमें नश्शये-मै,
हम उन्हें और वह नश्शे मे हमें चूर मिले।
नाम जो कुछ हो उन्हे कहते है सब लोग 'रियाज़',
आज हम को वह बड़े शायरे-मशहूर मिले।

प्रथम पद मे वही शराब वाली बात है। 'तीसरे फाके' का प्रयोग खूब है। फिर भी अंगूर के दानों को शराब-भरे बिल्लौरी प्याले समझ लेना कोई अजीब बात नही। शराब अंगूर से भी बनती है। उपमा मे कवि का कमाल है। 'रियाज' ने शराब की तारीफ़ मे अपनी प्रतिभा से खूब काम लिया है जो उन के योग्य ही है।

द्वितीय पद में आध्यात्मिकता है। कवि कहता है कि खुदा न 'काबे' मे है न 'तूर' मे, बल्कि इन जैसे स्थानो से बहुत दूर है, जहाँ तक पहुँच पाना वैसा आसान नहीं। कहने मे कितनी सादगी और रवानी है। 'कितने काबे' और 'कई तूर' से दूरी का अनुमान हो सकता है। अंतिम पद 'रियाज' के लिए गर्वोक्ति सही, पर यो है बहुत ठीक।

इस नज़ाकत से महे-नौ[2] का नुमायाँ[3] होना,
चाहता है कोई नाजुक सा गरेबाँ होना।
मुझ को आँखों ने दिखाया है पलक झिपकाते,
खुश्क हो कर किसी दरिया का बेयाबाँ[4] होना।
यादे-गेसूय-दराज़[5] और तेरी उम्र दराज़,
अब बहुत दूर है सुबहे-शबे-हिजराँ[6] होना।
क्या ज़माना है कि दुशवार नज़र आता है,
लाख दो लाख में भी साहेबे-ईमाँ[7] होना।
वज़ा[8] रिंदाना[9] रहे रीश[10] रहे साफ 'रियाज़',
खौफ़ की चीज़ है इस वक़्त मुसल्माँ होना।

---

[1] वह पहाड़ जिस पर पैग़म्बर मूसा को खुदा की रौशनी दिखाई दी थी। [2] नया चाँद। [3] प्रगट। [4] जंगल। [5] लंबे बालों की याद। [6] वियोग-रात्रि की सुबह। [7] ईमानदार। [8] चाल ढाल। [9] ग़ैर इस्लामी। [10] डाढ़ी।

प्रथम पद में द्वितीया के चंद्र को किसी चंद्रमुखी का नाजुक सा गरेबाँ बनाना काव्य-कल्पना की कितनी सुंदर उड़ान है।

द्वितीय पद में 'पलक झिपकाने' का प्रयोग कर कवि ने कमाल किया है। श्लेष से काम लेते हुए देखिए कि जहाँ आँसुओं से दरिया का दृश्य सामने था वहाँ अब आन की आन में रेगिस्तान का समाँ दिख रहा है। 'दरिया' और 'बेयाबाँ' में विरोधाभास का लुत्फ है।

तृतीय पद में माशूक के स्याह लंबे बालों की उपमा रात्रि से दी गई है। कवि उन की याद को चिरायु होने का आशीर्वाद देता है। नतीजा यह होगा कि उस याद की बदौलत वियोग-रात्रि का अवसान हो कर भी सवेरा न होगा। पद की योजना ऐसी है कि प्रथम दल से वैसी रात्रि की चाह भी प्रगट होती है और साथ ही द्वितीय दल से सवेरा न होने का अंदेशा भी जाहिर होता है। अजब खींच-तान है! यों तो प्रेमी वियोग-रात्रि की निवृत्ति का ही इच्छुक रहता है। प्रथम दल में 'दराज' की पुनरुक्ति बड़ा मजा दे रही है और साथ ही दूसरे दल के 'बहुत दूर' वाले प्रयोग के उपयुक्त ही है।

'सारदा-बिल' ने नये दीन में रखने डाले,
रहनुमा[1] कुफ़्र[2] हो जिस का वह मुसलमाँ न रहा।
शोखियाँ इतनी बढ़ीं नीची निगाहें भी गईं,
हुस्ने[3]-बेपरदः का अब कोई निगहबाँ न रहा।
दोनों आँदादये-मजहब[4] हैं मगर वक़्त की बात,
कोई हिंदू न रहा कोई मुसल्माँ न रहा।
सेहरकारी[5] तेरी ए आलमे-फ़ानी[6] देखी,
घर तक आते असरे-गोरे-ग़रीबाँ[7] न रहा।
मुख्तसर वक़्त में क्या कुछ न हुआ वस्ल की शब,
मुझ को हसरत न रही आप को अरमाँ न रहा।

---

[1] पथप्रदर्शक। [2] ग़ैर इस्लामी मत। [3] सौंदर्य। [4] मजहब पर मिटे हुए। [5] जादूगरी। [6] नश्वर संसार। [7] ग़रीबों की क़ब्रों का प्रभाव।

प्रथम पद में कवि ने 'शारदा-कानून' वाली बात ले कर अपने रूढ़िप्रेम को ही प्रगट किया है जो 'रियाज' जैसे बुजुर्ग के लिए क्षम्य हो सकता है। 'बिल' के साथ 'रखना' (=मूराख) कितना उपयुक्त है।

द्वितीय पद मे भी कुछ वही बात है पर अन्य निमित्त से। कवि कहता है कि स्त्रियों का परदा तो पहले ही हट गया था पर उन की लाज-भरी नीची निगाहे शेष थी, जो खुले सौदर्य की कुछ न कुछ तो रखवाली करती ही थी। अब बढते हुए चांचल्य से वे भी पनाह माँगती हुई विदा हो रही है। 'निगाहे' के खयाल से 'निगहबाँ' बहुत मौजूँ है।

चतुर्थ पद मे उस ज्ञान का जिक्र है जिसे 'श्मशान-ज्ञान' कहते है और जिस के मिटाने की जिम्मेदारी प्रकृति की जबर्दस्त रुगावटो पर रक्खी गई है जो ठीक ही है।

अतिम पद मे वही बात है जिस के बिना 'रियाज' की गजल उन की अपनी न जान पडती। पद नितात शृगारी है पर उस का होना तो जरूरी ही था। काव्य-कल्पना की भी कमी नही। 'मुख्तसर वक्त मे क्या कुछ न हुआ' पर गौर करते हुए द्वितीय दल मे देखिए कि वाकई कितनी बडी बात हो गई। 'हसरत' और 'अरमान' का शेष न रहना कोई छोटी बात तो नही!

यहाँ तक हम 'रियाज' की रचनाओ के कुछ नमूने दे चुके जो यह दिखलाने के लिए बहुत काफी है कि वह किस रग और किस पाये के शायर थे। 'रियाज' साहेब की तहरीर से मालूम होता है कि जमाना देखते हुए कभी आप के दिल मे अतुकात या अव्यवस्थित छंदो की रचना का भी खयाल हुआ था पर आप ने उस पर अमल नही किया। लिखते है :—

"बेकैद नज्म कहने वाले तालीमयाफ्ता हजरात[1] टकसाली जबान और कयूद[2] की पाबंदी को अपने अदाये-बयान[3] और मुफीद व वसीअ[4] खयालात के लिए मुजिर समझते है; और यह सहीह भी है और साथ ही बेइतहा मुशकिल भी—'भारी पत्थर था उसे चूम के बस छोड दिया'!"

पर इस मे सदेह नही कि उन्हो ने जो रचना की है वह नवीनतायुक्त न होती

---

[1] लोग। [2] 'कैद' की जमा—बंधन। [3] वर्णन। [4] विस्तृत।

हुई भी उन की गणना उर्दू काव्य-साहित्य के अचार्यों में कराने और उन के नाम को उर्दू काव्य-जगत में अमर बनाने के लिए पर्याप्त है। हम को तो उर्दू काव्य का भविष्य देखते हुए यही प्रतीत होता है कि वह अपनी योग्यता और अपनी शैली के अंतिम कवि और अपने देखे हुए जमाने की आखिरी यादगार थे। अत उन का यह कथन ठीक ही जँचता है —

**शायरी है 'रियाज़' के दम तक,**
**फिर कहाँ लोग इस तबीअत के?**

वह महाकवि थे और यों भी महाकवि होने का सौभाग्य सभी को तो नहीं मिलता। उन के शिष्यों की संख्या भी बहुत है।

'रियाज' के जीवन का अंतिम भाग सासारिक चिंताओं से शून्य न था। स्वर्गीय महाराजा महमूदाबाद की उदारता से उन का काम चलता जाता था[१], पर इधर तो अब वह सहारा भी बाकी न रहा था। फिर भी उन की जिंदादिली में कोई फ़र्क़ न पड़ा था। वह निमग्नता में परिवर्तित हो कर उन को उसी रास्ते पर बराबर लिए चली जा रही थी जिस पर वह उम्र-भर चलते रहे। आखिरी वक्त का एक शेर मुलाहजा हो—

**'रियाज़' अब शक्ल भी बदली मज़ाक़े-तब्अ[२] भी बदला,**
**यह सिन का है तकाज़ा जो खयाले-हूर आता है।**

कवि वृद्ध हो गया है। उस के दिल में अब माशूकों की चाह का हौसला नहीं रहा। परंतु चाह तो किसी की होनी ही चाहिए, और इस के लिए सिन के एतबार से स्वर्ग की अप्सराओं का खयाल आना नितांत स्वाभाविक है।

कुछ इस प्रकार कही जाने वाली असामयिक विशेषताओं के होते हुए 'रियाज' में एक सामयिक—बहुत बड़ी सामयिक—विशेषता भी थी। वह थी उन की भाषा का 'हिंदुस्तानी' होना। यों तो उर्दू-ज़बान शताब्दियों से मँजते-मँजते बहुत साफ हो गई है—उस में बहुत कुछ निखार आ गया है। पर सादगी के खयाल से देखा जाय तो बहुत बड़ी कसर ही दिखेगी। अत इस कसर की पूर्ति के लिए जो प्रयत्न 'रियाज' ने किया,

---

[१] चालीस रुपये मासिक मिलते थे। [२] तबीअत का रुजहान।

उस के लिए वह विशेषतः चिरस्मरणीय रहेंगे। वह जबान के बहुत बड़े सुधारक थे। उन का कौल था कि 'शेर (पद) साफ, सादा और सब के समझने लायक़ होना चाहिए, पेचीदा और मुश्किल नही।' वह स्वयं इसी पर अमल करते रहे, अतः उन की यह गर्वोक्ति[1] बेजा न थी—

वह मैं हूँ आज ज़माने को नाज़ है जिस पर,<br>'रियाज़' धूम है जिस की वह है ज़बाँ मेरी।

चंद नमूने दिए जाते हैं जिन में बेहद सादगी के साथ काव्य-चमत्कार की भी कमी नही —

न आया हमें इश्क़ करना न आया,<br>मरे उम्र भर और मरना न आया।<br>यही दिन थे सौ-सौ-तरह तुम सँवरते,<br>जवानी तो आई सँवरना न आया।

❦ ❦ ❦

बड़े लुत्फ़ से दिन गुज़र जाते यह भी,<br>बुढ़ापे में हम को जवानी जो मिलती।<br>यह ठंडी हवाएँ यह काली घटाएँ,<br>मज़ा था मये-अर्ग़वानी[2] जो मिलती।<br>'रियाज़' अब कहाँ वह जवानी का आलम,<br>गले से लगाते जवानी जो मिलती।

❦ ❦ ❦

बाम[3] पर आए कितनी शान से आज,<br>बढ़ गए आप आसमान से आज।<br>किस मज़े की हवा में मस्ती है,<br>कहीं बरसी है आसमान से आज।

---

[1] उर्दू-फ़ारसी कवि तो यों भी ऐसी बात कहना बेजा नहीं समझते।
[2] लाल शराब। [3] कोठा।

नीची डाढ़ी ने आबरू रख ली
क़र्ज़ पी आए इक दुकान से आज।

✤ ✤ ✤

आप हों या आप से बढ़ कर कोई,
हम नहीं तो इक ज़माना कुछ नहीं।
सारे झगड़े ज़िंदगानी के लिए,
ज़िंदगानी का ठिकाना कुछ नहीं।

✤ ✤ ✤

नज़अ[1] में उल्फ़त[2] का अब इज़हार रहने दीजिए,
छोड़िए भी जान मेरी प्यार रहने दीजिए।
की है पैदा क्या नज़ाकत ने लचक वक़्ते-ख़िराम,[3]
अब कमर में यह नई तलवार रहने दीजिए।

कमर की लचक को नई तलवार बतलाना 'रियाज' जैसे रसिक कवि के ही योग्य है।

'रियाज' बडे शायर ही न थे, बड़े सीधे-सादे, मिलनसार और शरीफ बुज़ुर्ग भी थे। घमड और दिखावा तो उन में नाम को भी न था। पत्रों का उत्तर बडी मुहब्बत से देते थे, पर बुढापे के कारण बडी देर से। अफ़सोस कि इस देर के कारण उन की बाबत उतना न जान सका जितना मैं जानना चाहता था। उत्तर भी अपूर्ण होता था जिस मे बहुत कुछ कुसूर बुढापे का था और कुछ-कम उस पुराने तर्ज़ का जो उन की गद्य में प्राय: मिलता है।

---

[1] मरणकाल। [2] प्रेम। [3] इठला कर चलते समय।

# समालोचना

## व्याकरण

**श्रीसिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम्**—संपादक, श्री मुनि-हिमांशुविजय, न्याय-काव्यतीर्थ, पृष्ठसंख्या २०+२११+६२४। सजिल्द। प्रकाशक, सेठ आनंद जी कल्याण जी, झावेरी रोड, अहमदाबाद। मूल्य ४॥)

विक्रमीय बारहवीं शताब्दी में गुजरात में एक प्रखर विद्वान्, हेमचंद्राचार्य नाम के हो गए हैं। इन का संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं पर पूर्ण आधिपत्य था। इन्हों ने गुजरात के प्रतापी राजा सिद्धराज जयसिंह की प्रेरणा से संस्कृत का यह 'सिद्ध हेमचन्द्र-शब्दानुशासनम्' बनाया। गुजरात में इस के पूर्व अन्य व्याकरणों का प्रचार था। हेमचंद्र सूरि के इस 'शब्दानुशासन' ने उन का प्रचार अंशरूप से रोक दिया।

'शब्दानुशासन' पाणिनि की अष्टाध्यायी के ढंग पर लिखा गया है। इस में भी आठ अध्याय हैं और प्रत्येक में चार-चार पाद। कुल सूत्रों की संख्या ४६८५+१००६ है। संपादक के मतानुसार हेमचंद्र सूरि पूर्व वैय्याकरण पाणिनि, शाकटायन आदि से भी सफल हुए हैं। इस समय पाणिनि व्याकरण का ही अधिक प्रचार है और यह संदिग्ध ही है कि हेमचंद्र सूरि की संस्कृत व्याकरण का प्रचार हो सकेगा।

'शब्दानुशासन' का संपादन सुचारु रूप से हुआ है। प्रस्तावना और परिशिष्ट उपादेय हैं। मूलपाठ भी कई हस्तलिखित पुस्तकों से संशोधित कर के रक्खा गया है।

हेमचंद्र सूरि जैनधर्म के बड़े भारी प्रचारक थे। इसी कारण इन के ग्रंथ जैनों में बड़े प्रसिद्ध हैं और इन के प्रकाशन आदि में, सेठों की उदारता के कारण, कोई कठिनाई नहीं होती। हेमचंद्र की 'प्राकृत-व्याकरण' तथा 'देशीनाममाला' पुस्तकें अधिक प्रसिद्ध हैं। प्रस्तुत ग्रंथ का यह सुसंपादित संस्करण आदर की दृष्टि से देखा जावेगा।

बा० स०

## नाटक

**कारवाँ**—लेखक, श्री भुवनेश्वर प्रसाद, प्रकाशक, लीडर प्रेस, इलाहाबाद। पृष्ठ ११६। १९३५। मूल्य १)

श्रीयुत भुवनेश्वर प्रसाद हिंदी के एक नववयस्क लेखक है। इन्हो ने हिंदी मे एकाकी नाटकों की रचना की ओर ध्यान दिया है। प्रस्तुत पुस्तक में उन के ६ एकाकी नाटक एकत्र किए गए है। यह प्राय: सभी हिंदी की पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हो चुके है। यह पुस्तक लेखक की पहली कृति है।

पुस्तक मे आए हुए नाटक प्राय: सभी उस वर्ग के है जो आजकल हिंदी में समस्या-नाटक के नाम से चल रहे है। लेखक आधुनिक पाश्चात्य साहित्य से परिचित और बहुत कुछ प्रभावित जान पडते है। आस्कर वाइल्ड और शा जैसे साहित्यिको की चमत्कारिक भाषा तथा शैली से नवयुवकों के लिए प्रभावित होना सहज है। उन लोगो की शैली मे अपनी बातें कहने की क्षमता के लिए मानसिक परिपाक की आवश्यकता है। हमारी धारणा है कि लेखक ने 'अपने' विचारो को ले कर पाठकों के सामने प्रस्तुत होने मे जल्दी की है। "शैतान" शीर्षक नाटक 'के एक सीन मे शा की छाया तनिक मुखर हो गई है', इसे तो लेखक महोदय स्वयं स्वीकार करते है। अन्य नाटको में यही सभवत' 'मुखर' न हुई हो, परतु साधारणतया इन नाटकों में उपस्थित किए गए वातावरण में हमे कृत्रिमता का आभास मिलेगा।

पुस्तक मे 'प्रवेश' और 'उपसहार' के रूप मे लेखक ने कुछ उक्तियाँ एकत्र की है। यदि यह लेखक की अपनी ही है तो यह कहना होगा कि इन मे किसी कारण मे अनुवाद की गंध है। फिर भी इन उक्तियो मे कुछ स्पष्ट, कुछ अर्ध-स्पष्ट, तथा शेष अस्पष्ट है।

लेखक की भाषा बहुत चित्य है। व्याकरण और प्रूफ की गल्तियाँ जोड़ी जायँ तो उन की संख्या सैकड़ो में जायगी। आशा है दूसरे सस्करण में ( जब इस का समय आए) लेखक महोदय कम से कम इन्हे सुधार लेगे। पुस्तक के सभी दोषो के निदर्शन के लिए अवकाश अपेक्षित है। परंतु इस संबध मे श्रम करना पुस्तक को वह महत्व देना है जिस के यह योग्य नही है।

रा०

**मिस ३५ का पति निर्वाचन तथा क्लब की** श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए०। प्रकाशक, सरस-साहित्य-सदन, इलाहाबाद। पृष्ठ १६२। १९३५। मूल्य १)

श्रीयुत सत्यजीवन वर्मा हिंदी-संसार के एक परिचित लेखक हैं। आप पत्र-पत्रिकाओ में 'श्री भारतीय' के उपनाम से बहुधा मनोरंजक लेख तथा कहानियाँ लिखा करते है। इस पुस्तक मे आपने 'मिस ३५ का पति-निर्वाचन' शीर्षक प्रहसन तथा ६ कहानियाँ प्रस्तुत की हैं। यह प्रहसन किसी समय इलाहाबाद के 'मदारी' पत्र में क्रमश निकल चुका है। कहानियाँ भी 'चाँद' में तथा अन्यत्र इस से पूर्व छप चुकी है।

यह प्रहसन नियमित नाटक के रूप में नही है। इस में न कोई प्लाट या घटना-चक्र मिलेगा और न पात्रो के आपस में कथोपकथन मिलेंगे। एक आधुनिक मिस साहिबा है, जो एक-एक करके कवि, साहित्यिक, अंडर-ग्रैजुएट, आर्टिस्ट, प्रोफेसर, कुँवर साहब, और एक आई० सी० एस० मिस्टर से, पति-निर्वाचन के लिए भेंट करती है। इन में से प्राय: सभी के, लेखक ने, अच्छे खाके खींचे है। बीच-बीच मे मधुर व्यगो द्वारा हमारी सामाजिक प्रवृत्तियो और दुर्बलताओं पर प्रहार किया गया है।

सरस-साहित्य-ग्रंथमाला का यह पहला प्रकाशन है। इस प्रकार के अन्य ग्रथ प्रकाशित करती रही तो यह ग्रथमाला अवश्य लोक-प्रिय हो जायगी। पुस्तक मे आठ-नौ रेखा-चित्र दिए गए हैं, और इस की छपाई आदि सुदर हुई है।

रा०

## कहानी

**प्रदीप**—लेखक, श्री वाचस्पति पाठक; प्रकाशक, भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद। पृष्ठ १५८। १९९२ वि०। मूल्य १)

श्रीयुत वाचस्पति पाठक जी ने आजकल के हिंदी के कहानी-लेखको के बीच एक आदरणीय स्थान प्राप्त कर लिया है। कुछ वर्ष पूर्व इन का पहला संग्रह 'द्वादशी' नाम से भारती-भंडार ने प्रकाशित किया था। यह पाठक जी का दूसरा संग्रह है, और इस में उन की आठ कहानियाँ एकत्र की गई हैं।

पाठक जी बहुत थोड़ा लिखते है, परतु जो कुछ लिखते है उस में मार्मिकता पर्याप्त

यात्रा में रहती है। उन की भाषा सरस और सजीव होती है। उन की बहुधा कहानियों में हम कथा-वस्तु तो स्वल्प परंतु मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही अच्छा पावेंगे। इस संग्रह की अधिकाश कहानियाँ अच्छी बन पडी है, परन्तु कदाचित् सबसे सुंदर और मार्मिक कहानी वह है जिसे संग्रह में प्रथम स्थान दिया गया है। मेरा आशय 'कागज की टोपी' शीर्षक कहानी से है।

आशा है पाठक जी इसी प्रकार हमारे कहानी-साहित्य की अभिवृद्धि करते रहेगे।

रा०

---

# हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्०। मूल्य १।)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—लेखक, रायबहादुर महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा। सचित्र। मूल्य ३)

(३) कवि-रहस्य—लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा। मूल्य १।)

(४) अरब और भारत के संबंध—लेखक, मौलाना सैयद सुलैमान साहब नदवी। अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा। मूल्य ४)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन)। मूल्य ६)

(६) जंतु-जगत—लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी०। सचित्र। मूल्य ६॥)

(७) गोस्वामी तुलसीदास—लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल। सचित्र। मूल्य ३)

(८) सतसई-सप्तक—संग्रहकर्ता, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास। मूल्य ६)

(९) चर्म बनाने के सिद्धांत—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी०। मूल्य ३)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट—संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। मूल्य १॥)

(११) सौर-परिवार—लेखक, डाक्टर गोरख प्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ्० आर० ए० एस्०। सचित्र। मूल्य १२)

(१२) अयोध्या का इतिहास—लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम बी० ए०। सचित्र। मूल्य ३)

(१३) घाघ और भड्डरी—संपादक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी। मूल्य ३)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री    ठाकुर रामसिंह एम० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए०। मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए०। सचित्र। मूल्य ३)

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ। मूल्य ३।।) सजिल्द, ३) बिना जिल्द।

(१७) हिंदी उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा। मूल्य सजिल्द १।।), बिना जिल्द १)

(१८) नातन—लेसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद। अनुवादक—मिर्ज़ा अबुल्फ़ज़्ल। मूल्य १।)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०। मूल्य सजिल्द ४), बिना जिल्द ३।।)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना। मूल्य सजिल्द ५।।), बिना जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजगोपाल भटनागर, एम्० ए०। मूल्य ४।।) सजिल्द, ४) बिना जिल्द।

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा ( २ भाग )—लेखक, श्रीयुत जयचंद्र विद्यालंकार। मूल्य प्रत्येक भाग का सजिल्द ५।।), बिना जिल्द ५)

(२३) भारतीय चित्रकला—लेखक, श्रीयुत एन्० सी० मेहता, आई० सी० एस्०। सचित्र। मूल्य बिना जिल्द ६), सजिल्द ६।।)

## हिंदुस्तानी

### तिमाही पत्रिका

की पहले चार वर्ष की कुछ फ़ाइलें अभी प्राप्त हो सकती हैं। मूल्य पहले वर्ष का ८) तथा अन्य वर्षों का ५)

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

सोल एजेंट

इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ५ } अक्तूबर, १९३५ { अंक ४

# कृत्रिम डिंगल

[ लेखक—श्रीयुत सूर्यकरण पारीक, एम्० ए० ]

भक्तिकाल मे सूरदास और अष्टछाप के इतर वैष्णव कवियो की व्रजभाषा की कविता बडी महत्वशील और लोकानुरजनकारिणी हुई। राजस्थान पर इस का गहरा प्रभाव पड़ा और राजस्थानी कवि और राजा लोग भी व्रजभाषा मे रुचि-पूर्वक कविता लिखने और सुनने लगे। अब राजस्थान मे दो काव्य-भाषाएँ हो गई। दोनो मे भेद करने के लिए व्रजभाषा की कविता को "पिगल" और देश-भाषा राजस्थानी की कविता को "डिगल" नाम दिया जाने लगा। डिगल साधारण बोलचाल की भाषाशैली न थी; यह कृत्रिम काव्य-भाषा थी, जिस मे चारण, भाट आदि कवि काव्य-रचना करते थे। पिगल के नाम-साम्य पर 'डिगल' नाम गढ लिया गया प्रतीत होता है, अन्यथा प्राचीन काल के राजस्थानी साहित्य मे इस शब्द का प्रयोग कही देखा नही जाता। डिगल का साहित्य-भडार भरा-पूरा है, काव्य-रचना मुख्यत. वीर और शृगार रसो मे हुई है।

इधर उत्तर-भारत मे जब से व्रजभाषा का उत्कर्ष हुआ और वह काव्यभाषा के सर्वोच्च सिंहासन पर आसीन हुई, तब से राजपूत रियासतो के काव्यप्रेमी राजाओं ने दत्तचित्त हो कर उस की सेवा करना आरंभ किया। यह सेवा इन्हों ने दो प्रकार से की—(१) कवियो और लेखकों को राज्याश्रय दे कर, और (२) स्वयं व्रजभाषा में काव्य ग्रथ लिख कर।

भाषा-शली के इन दोनो मार्गों से भिन्न एक और मध्यवर्ती मार्ग भी उपलब्ध होता है जिस मे राजस्थानी और हिंदी के अनेक कवियो ने काव्य-रचना की है। राजस्थान के कुछ कवियो ने राज्याश्रय पा कर ऐसे ढग की कविता की जिस का मुख्य उद्देश्य राजाओ का यश-कीर्तन करना था। इन के विषय में विचार करने योग्य बात यह है कि इन्हो ने अपनी रचना मे एक विशेष प्रकार की भाषा का उपयोग किया, जिसे हम न तो डिंगल ही कह सकते है और न ब्रजभाषा। इसे हम ब्रज-प्रधान "कृत्रिम डिंगल" कह सकते है। इस बनावटी भाषा का मुख्य ढाँचा तो ब्रजभाषा का ही है, परंतु शब्दो की तोड-मरोड कर के उन को ऐसा रूप दे दिया गया है कि वे द्वित्त्व-प्रधान डिंगल शब्द प्रतीत होते है। सयुक्त वर्ण और द्वित्त्व की जटिलता कही-कही तो इतनी बढ जाती है कि भाषा समझने मे दुरूह और उच्चारण मे कठिन मालूम होती है। ऐसे स्थलो मे पढ़नेवाले को भाषा के सबध मे डिंगलाभास का भ्रम हुए बिना नही रहता। क्रिया और कारक के चिन्ह प्रधानन ब्रज के होने के कारण हम इसे ब्रजभाषा ही कहेगे परतु इस मे संदेह नही है कि यह है एक विचित्र प्रकार की ब्रजभाषा। 'पृथ्वीराज रासो' की भाषा मे भी द्वित्त्व-प्रधान वर्णों की प्रधानता से एक प्रकार का ओज प्रकट होता है। चद के काव्य मे भाषाओ का खासा सम्मिश्रण है। वह कोई एक सुसगठित भाषा नही है। परतु तो भी 'रासो' की, साहित्य मे, कई शताब्दियों से अद्वितीय प्रतिष्ठा रही है। अतएव यह अनुमान किया जा सकता है कि पीछे के कवियो ने चद के अनुकरण मे वैसी ही कृत्रिम भाषा-शैली का प्रयोग करना आरंभ कर दिया हो। चद की भाषा की तुलना निम्नलिखित कृत्रिम डिंगल के उदाहरणो से करने पर दोनो मे पर्याप्त समता मिलेगी; विशेषत वीर रस के वर्णनो मे तो समानता और भी अधिक मिलती है।

इस प्रकार की रचना करनेवाले कवियो मे उल्लेखनीय नाम है—

(१) 'राजविलास' का लेखक कवि मान।

(२) खडेला-निवासी हरिनाम उपाध्याय—'केसरीसिंह-समर' काव्य का रचयिता।

(३) सूदन, 'सुजान-चरित' का रचयिता।

(४) जोधराज, 'हम्मीर-रासो' का लेखक।

(५) कविवर सूर्यमल्ल मिश्रण। और

(६) उमर-काव्य' का लेखक

और भी कई कवियों ने इसी शैली मे काव्य-रचना की है, परन्तु विषय को संक्षेप मे दृष्टातान्वित करने के लिए कुछ प्रमुख कवियो को ही चुन लिया गया है।

(१) मान कवि महाराणा राजसिंह के दरबार मे प्रतिभासपन्न कवि थे। उन्हो ने राज-विलास'[1] नामक प्रख्यात ग्रंथ इसी प्रकार की भाषा-शैली में लिखा। इस काव्य मे महाराणा राजसिंह के राजत्वकाल का बड़ा ओजस्वी वर्णन दिया गया है। ग्रथ का निर्माण सवत् १७१७ मे हुआ। उदाहरण के लिए नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'राज-विलास' के युद्ध-वर्णनों को देखना चाहिए।

(२) खडेला-निवासी कवि हरिनाम ने संवत् १७५४ मे, वहाँ के राजा केसरी-सिंह (स० १७४०—१७५४ वि०) के आश्रय में 'केसरीसिंह-समर' नामक ऐतिहासिक काव्य-ग्रथ लिखा, जिस मे अपने आश्रयदाता राजा केसरीसिंह की युद्ध-वीरता का ओजस्वी भाषा मे अच्छा वर्णन किया है। उसी काव्य में से कृत्रिम डिंगल की भाषा-शैली का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

गुरं नालि हक्की सुधक्की हमल्लां।
किते बान जम्मूर धारे सुवल्लां।
जुटी सेल दौऊ घड़ी चारि लग्गी,
मिली जोगिनी वीर ताली सु वग्गी ॥१३३॥
बहै सेल सत्थं गिरे भीछ भारे,
भरै पत्त देवं चले रत्तनारे।
महाघोर संग्राम मच्चै गहीरं।
भटॉ सीस फुट्टै सु कट्टै सरीरं ॥१३५॥

(३) सूदन (स० १८११—१८३० वि०) वीर रस की ओजस्विनी काव्य रचना करने मे हिंदी के सर्वोत्तम कवियों मे से एक है। इन का युद्ध वर्णन बड़ा सजीव और फड़-

---

[1] 'राजविलास' के द्वितीय परिमार्जित और परिवर्द्धित संस्करण का संपादन इस लेख के लेखक ने किया है, और वह काशी नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित होने वाला है।

ता हुआ होता ह लाल भूषण और सूयमल मिश्रण को छोड कर बहुत थोड़े हिंदी के वि हैं जो इस विषय में इन की समता मे ठहर सकते हैं। ये कविवर भरतपुर के राजा जानसिंह के यहाँ आश्रित कवि थे और उन के साथ कई युद्धो मे लडे थे। अपने आश्रय-ाता की प्रशस्ति मे इन्हो ने 'सुजानचरित' ऐतिहासिक काव्य बनाया जो नागरी-प्रचा-रणी सभा, काशी से प्रकाशित हो चुका है। सूदन की कविता मे व्रजभाषा, खडी बोली, ाजस्थानी और पजाबी का समिश्रण पाया जाता है। वर्णन की शैली वही कृत्रिम डिगल । दो-एक उदाहरण उद्धृत किए जाते हैं—

दब्बत लुत्थिनु अब्बत इक्क सुखब्बत से।
चब्बत लोह अचब्बत शोनित गब्बरा से।
चुट्टित खुट्टित केस सुलुट्टित इक्क महीं,
जुट्टित फुट्टित सीस, सुखुट्टित तेग गही॥
कुट्टित घुट्टित काय बिछुट्टित प्रान सही।
घुट्टित आयुध, हुट्टित गुट्टित देह दही॥
पुर कोटहु टुट्टिय बहु भट कुट्टिय पुर लुट्टिय बेहाल।
सुत भ्रातहु कट्टिय भुव तें हट्टिय घट्टिय लोप जंजाल॥
जल अन्नहु बित्तिय दारू रित्तिय कित्तिय रन दिन तीनि।
धाइन अवधाइय श्रौन बहाइय राउ समर अति पीनि॥

(४) जोधराज कवि ने नीमराणा (अलवर राज्य) के राजा चद्रभानु के आग्र ो 'हम्मीर रासो' नामक एक बडा प्रबध-काव्य स० १८७५ मे लिखा, जिस में रणथभोर े वीर महाराज हम्मीरदेव की वीर-चरितावली छप्पय-छद मे कही गई है। इस काव्य ी भाषा बड़ी ओजस्विनी है और इस के वर्णन बडे सजीव और रोमाचकारी ै। उदाहरण—

कहाँ पँवार जगदेव सीस आपन कर कट्ट्यो।
कहाँ भोज विक्रम सु राव जिन पर दुख मिट्ट्यो॥
सवा भार नित करन कनक विप्रन को दिन्नो।
रह्यो न रहिये कोय देव नर नाग सु चिन्नो॥
यह बात राव हम्मीर सूँ रानी इमि आसा कही।
जो भये चक्कवै मंडली सुनो राव दीखै नहीं॥

५) सूर्यमल मिश्रण (वि० स० १८७२ १९२५) बूंदी निवासी कविराजा चडीदान के सुपुत्र थे। इन्हो ने महाराव रामसिंह जी के आश्रय मे रह कर 'वंश-भास्कर' नामक भारी महाकाव्य का निर्माण स० १८९९ मे किया। इस ग्रथ के विविध छदो मे बूँदी राज्य का ऐतिहासिक क्रम मे वर्णन है, प्रसगवश और भी बहुत सी ऐतिहासिक गाथाएँ इस मे सम्मिलित कर ली गई है। सूर्यमल विलक्षण प्रतिभासपन्न और पडित कवि थे और इन की कविता मे काव्य-चमत्कार अच्छा है। प्राकृत भाषाओं, डिंगल और व्रज-भाषा पर इन को समान रूप से पूरा अधिकार था। पृथ्वीराज रासो' के बाद 'वंश-भास्कर' हिंदी का सब से बड़ा महाकाव्य है, और उस मे युद्धो का वर्णन बडी ज्वलत भाषा मे किया गया है। भाषा-शैली वही व्रजप्रधान कृत्रिम डिंगल है। ओजस्वी वर्णन-शैली-वाले कवियो की श्रेणी मे सूर्यमल, लाल, भूषण और सूदन के समकक्ष है। 'वंश-भास्कर' के अतिरिक्त मिश्रण जी ने (१) 'बलवत-विलास', (२) 'छंदोमयूख', (३) 'वीरसतसई' ग्रथ भी बनाए। भाषा-शैली का उदाहरण नीचे देते है—

बुद्ध सेन उदग्गन खग्ग सुभग्गन,
अग्ग तुरग्गन बग्ग लई।
मचि रंग उतंगन दंग मतंगन,
सज्जि रनंगन जंग जई॥
गज-घण्ट ठनंकिय भेरि भनंकिय,
रंग रनंकिय कोच करी।
पखरान झनंकिय बान सनंकिय,
चाप तनंकिय ताप परी॥
डगमग्गि शिलोच्चय शृंग डुले,
झगमग्गि कृपानन-अग्गि झरी।
बजि खल्ल-तबल्लन हल्ल उझल्लन,
भुम्मि हमल्लन घुम्मि भरी॥

(वंश-भास्कर)

(६) कवि ऊमरदान (स० १९०८–१९६१ वि०) चारण हाल ही मे मार-वाड के एक प्रतिभासंपन्न और लोकप्रिय कवि हो गए है। इन की कविता का संग्रह

'ऊमर-काव्य' नाम से प्रकाशित हुआ है न के काव्य में हास्य वीर शृंगार शांत आदि प्राय: सभी प्रधान रसो का समावेश हुआ है और सामाजिक सुधार और आलोचना का मीठा व्यंग्य सर्वत्र उपलब्ध होता है। स्वामी दयानंद सरस्वती के सत्संग से और आर्य-समाज के सिद्धांतो की ओर झुकाव होने के कारण इन की रचना मे कटु-सत्य, स्पष्टवादिता और सुधार-प्रवृत्ति की मात्रा अधिक है और इन्हीं कारणो से वह राजस्थान में लोक-सम्मानित हुई है। कई लोग इन की भाषा को डिंगल कहते है, यद्यपि अधिकांश पद्यो मे उस का कलेवर ब्रजभाषा का ही है। अपनी परिभाषा के अनुसार हम उसे कृत्रिम डिंगल कहना ही अधिक समीचीन समझते है।

'ऊमर-काव्य' में से दो उदाहरण नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

(१) योद्धाओं का यश-वर्णन —

कहूँ भटा समत्थ कै दया समत्थ सत्थ दे,
समत्थ अत्थ साधने समत्थ में समत्थ जे।
अखंड ब्रह्मचर्य्य के सिखंड खंड अज्ज के,
सधीर ही हमीर से गंभीर भीर गज्जते ॥१॥
धुरा सुघाट घाट के कपाट छत्ति के धरें,
धर्न प्रतच्छ तच्छ के प्रदच्छ स्वच्छ के घरें।
सुसील सभ्य साच्छरं श्रुति प्रमांन सोह ने,
अभंग पुत्ति ओज के मनोज मूर्त्ति मोह नें ॥२॥

(२) तोप की प्रशंसा —

तनू प्रबंध तोप के तुरंग कंध ते तनें,
भुजालि आलि औलि तें बहे बिभा बिभावनें।
बरिट्ठ में बरिट्ठ जे बहेक तिब्र सालि तें,
गरिट्ठ में गरिट्ठ ते गुरे कती गजालि तें॥
प्रधांन गोल कप्र मोर सोर कोस संग्रहे,
उदग्ग खग्ग मग्ग में बिबग्ग अग्ग को गहे।
चमूय शस्त्र अस्त्र लेय दिव्य दिग्विजे चढ़ें,
स्वसुद्ध उम्मरेस की विसुद्ध भारती बढ़ें।

# हिंदी की सब से प्राचीन —

# 'अर्द्ध-कथा'

[ लेखक—श्रीयुत माताप्रसाद गुप्त, एम्० ए०, एल्-एल्० बी० ]

इस लेख मे हम जिस आत्मकथा-ग्रथ का परिचय देने जा रहे है वह सुप्रसिद्ध जैन कवि बनारसीदास-लिखित 'बनारसी-अवस्था' की 'अर्द्ध-कथा' है। हिंदी-साहित्य की जो खोज अभी तक हुई है, उस के अनुसार प्राचीन हिंदी-साहित्य की यह अकेली आत्म-कथा-पुस्तक है और सभवत आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओ के साहित्य मे भी इस से पूर्व की कोई आत्मकथा न मिल सकेगी।

लेखन-कला की दृष्टि से प्रस्तुत आत्मकथा वस्तुत एक उत्कृष्ट रचना है। एक अच्छी आत्मकथा मे जिन प्रमुख विशेषताओ का समावेश होना चाहिए वे सभी इस मे यथेष्ट मात्रा मे मिलती है। अधिकतर यह देखा जाता है कि आत्म-कथाओ के रचयिता अपने चरित्र के कालिमा-पूर्ण अंशों पर एक हलका-सा आवरण डाल देते है, किंतु यह दोष भी प्रस्तुत आत्मकथा मे नही है, जैसा हम आगे स्वतः देखेगे।

केवल कविता की दृष्टि से भी 'अर्द्ध-कथा' का स्थान ऊँचा है। और आडबर-हीन भाषा मे घटनाओ के सजीव और यथातथ्य वर्णन का जहाँ तक संबध है इतनी सुदर रचना प्राचीन हिंदी साहित्य मे बहुत कम मिलेगी। इसी लिए आगे के पृष्ठो मे कविता की दृष्टि से सुदर स्थलो को अधिकतर कवि के ही शब्दों मे रक्खा गया है, यद्यपि ऐसा करने से प्रस्तुत लेख का आकार कुछ बढ़ गया है।

प्रस्तुत आत्मकथा का महत्व एक अन्य दृष्टि से और भी अधिक है। वह मध्य-कालीन भारत की सामाजिक अवस्था, धनी और निर्धन प्रजा के सुख-दुख का यथार्थ परिचय देती है। बादशाहो की लिखी दिनचर्याओं और मुसलमान इतिहास-लेखकों द्वारा लिखित तारीखो से हमें शासन और युद्ध-सबंधी घटनाओ की अटूट श्रृंखलाएँ भले

ही मिल जाय किंतु इतिहास के उस स्वर्णयुग में राजधानियों से दूर जनता और विशेष कर उस के धनी और व्यापारी वर्ग को अहर्निशि कितनी यातनायें भोगनी पड़ती थी, इस का अनुमान उन दिनचर्याओं और तारीखों से हम नहीं कर सकते। उस के ज्ञान के लिए हमें 'अर्द्ध-कथा' ऐसी रचनाओं का ही आश्रय लेना पड़ेगा। जिस दिन 'अर्द्ध-कथा' की भाँति कुछ अन्य रचनायें भी प्रकाश मे आवेंगी, मध्यकालीन भारतीय इतिहास के कई पृष्ठ निश्चय ही फिर से लिखने पड़ेंगे।

दो शब्द प्रस्तुत आत्मकथा की उस प्रति के संबंध में भी कहना कदाचित् अनुचित न होगा जिस से ले कर आगे के कतिपय उद्धरण दिए गए है। यह प्रति सं० १९०८ की लिखी हुई है और दिल्ली के एक जैन-पुस्तकालय मे है। वहीं के श्री० पन्नालाल जैन अग्रवाल द्वारा मुझे यह प्राप्त हुई थी। तुलसी-काल की सामाजिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मुझे यह पुस्तक आवश्यक जान पड़ी थी और इसी लिए पिछले दो वर्षों से मै इस की खोज मे था। थोड़े दिन हुए प्रसिद्ध साहित्य-सेवी श्री० नाथूराम जी प्रेमी से मुझे यह पता चला कि इस आत्म-कथा की एक प्रति दिल्ली मे है जो उक्त श्री० पन्ना-लाल जी द्वारा मिल सकती है। तब मै ने उक्त श्री० पन्नालाल जी को लिखा जिन्हो ने पुस्तकालय से प्रति ले कर मेरे पास भेज दी, इस लिए मैं उन का अनुग्रहीत हूँ।

रचना के प्रारंभ मे ही कवि उस की भाषा के संबंध मे कहता है[1]—

मध्य देश की बोली बोल।
गर्भित कथा कहौं हिय खोल॥
भाखौं पूरब दशा चरित्र।
सुनहु कान धरि मेरे मित्र॥

उस समय खड़ी बोली और ब्रजभाषा प्रांत को मध्यदेश कहा जाता था। ऊपर के उद्ध-रण से तो यह स्पष्ट है ही, यथास्थान आगे जो उद्धरण हमे मिलेंगे उन से भी यह प्रकट होगा कि 'अर्द्ध-कथा' की भाषा में खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों का संमिश्रण हुआ है। संभवतः इस मे उसी जन-भाषा का प्रयोग किया गया है, जो उस समय आगरे में व्यवहृत

---

[1] ब० अ०, १

होती थी। आगरा उस समय मुगल शासको की राजधानी थी, इस लिए उस स्थान मे इस प्रकार का संमिश्रण अनिवार्य था।

आत्मकथा का प्रारभ, तदनंतर, वह अपने पूर्वजो के सक्षिप्त परिचय के साथ करता है। वह लिखता है कि इसी मध्यदेश मे एक नगर रहुतगापुर था जिस के निकट एक गाँव बिहोलीपुर था। लेखक के पूर्वज आदि मे इसी गाँव के रहनेवाले थे। पहले वे राजपूत थे, फिर वे जैन हुए और श्रीमाल कहलाने लगे। आगे चल कर उसी वश मे मूलदास हुए। उन्हों ने हिदगी (संभवतः 'हिदवी') और फारसी पढी और एक मुगल के मोदी बन कर मालवे चले आए। उस मुगल को मालवे मे हुमायूँ ने जागीर दी थी। इन्ही मूलदास के पुत्र खरगसेन हुए जो हमारे चरितनायक के पिता थे।

खरगसेन का जन्म सं० १६०८ में हुआ। सं० १६१३ मे मूलदास की मृत्यु हो गई। मूलदास की मृत्यु के अनतर उस मुगल ने उन के घर का सारा माल-असबाब छीन लिया। खरगसेन और उन की माता दीन और दुखी हो कर 'पूरब देश' जौनपुर आए। यहाँ पर कवि ने गोमती नदी तथा जौनपुर नगर का वर्णन किया है और वहाँ की शासक-परपरा का थोडा सा इतिहास दिया है। माता और पुत्र मदनसिह श्रीमाल का नाम पूछते हुए आए। मदनसिह सर्राफी का व्यवसाय करते थे और खरगसेन की माता के पितृव्य थे। माता ने मदनसिह से अपनी विपत्ति का सारा वृत्तात कहा। उन्हो ने उसे धैर्य बँधाया। माता-पुत्र सुख से जौनपुर मे रहने लगे। आठ वर्ष की अवस्था मे खरगसेन ने कुछ लिखना-पढ़ना सीखा। उसी समय बगाल में धन्याराय श्रीमाल नामी एक जैन सज्जन खानजहाँ लोदी के दीवान थे उन का नाम सुन कर खरगसेन ने माता से सम्मति की और सबेरे ही रास्ते के खर्चे के लिए कुछ धन ले कर बगाले की ओर चल पड़े। उस समय खरगसेन की अवस्था केवल तेरह वर्ष की थी, वे धन्याराय से मिले। धन्याराय ने उन्हे ढाढस बँधाया। कुछ दिनो बाद उस ने इन्हे अपना पोतदार बना दिया। किंतु इस घटना के छ-सात मास के पश्चात् ही यकायक धन्याराय की मृत्यु हो गई। धन्याराय की मृत्यु से राज्य मे बडा कोलाहल मचा। खरगसेन बेचारे छिपते-छिपाते अपनी जान ले कर भागे और जौनपुर आए[1]—

---

[1] ब० अ०, ७

कीनी दुखी दलद्री भेष।
लीनौ ऊभट पथ अनेक॥
नदी गांव वन पर्वत घूम।
आये नगर जौनपुर भूमि॥

तदनंतर चार वर्ष तक वे घर ही पर रहे। १८ वर्ष की अवस्था मे वे आगरे गए और वहाँ सुदरदास नामी एक सर्राफ के साझे में व्यापार करने लगे। बाईस वर्ष की अवस्था मे उन्हो ने अपना विवाह किया। तीन वर्ष के अनतर सुदरदास की मृत्यु हो गई और खरगसेन अपनी कमाई का द्रव्य ले कर जौनपुर चले आए। यहाँ आ कर रामदास नामी एक अग्रवाल वैश्य के साझे मे सर्राफी का काम उन्हो ने शुरू किया। स० १६३५ मे खरगसेन का पहला पुत्र उत्पन्न हुआ किंतु थोड़े ही दिनो में वह काल-कवलित हुआ। स० १६३७ की घटना है कि वे सती की यात्रा के लिए रोहतक गए। लौटते हुए मार्ग मे चोरो ने सब कुछ लूट लिया। केवल शरीर के वस्त्र रह गए थे। उस समय इन्हों ने सती की यात्रा की मानता की थी। स० १६४१ मे मदनसिह की मृत्यु हो गई। उस के दो वर्ष पीछे उन्हे अपनी मानता का स्मरण आया और उन्हो ने सती की यात्रा की। इस बार की यात्रा के अनतर स० १६४३ मे खरगसेन के दूसरे पुत्र का जन्म हुआ—यही प्रस्तुत आत्म-कथा के चरित-नायक है। अपनी जन्म-तिथि का उल्लेख लेखक ने इस प्रकार किया है[1]—

संवत सोलह सै तैताल।
माघ मास सितपक्ष रसाल॥
एकादशि रविवार सुनंद।
नछत्र रोहिनी बृष को चंद॥
रोहनि तृतिय चरण अनुसार।
षरगसेन घर सुत अवतार॥

इस बालक का नाम विक्रमाजीत रक्खा गया। बालक जब छ-सात मास का हुआ तब खरगसेन अपने परिवार के साथ सुपार्श्वनाथ की यात्रा के लिए चले। सुपार्श्वनाथ की विधिवत् पूजा करने के अनंतर हाथ जोड कर बालक को आगे रख दिया। पुजेरे ने

---

[1] ब० अ०, ९

सुपार्श्वनाथ से बालक के लिए आशीर्वाद माँगा और तत्पश्चात् उसी ने बालक का नाम-करण किया। पुजेरे की पाखंड-पूर्ण क्रियाओं का वर्णन कवि ने बड़े रोचक ढग से किया है[1] —

तब सु पुजेरा साधै पौन।
मिथ्या ध्यान कपट की मौन॥
घड़ी एक जब भई बितीत।
सीस घुमाय कहै सुन मीत॥
सुपनंतर कछु आयो मोहि।
सो सब बात कहौ मै तोहि॥
पद्मपार्श्व जिनवर कौ जक्ष।
सो मो पै आयो परतक्ष॥
तिन यह बात कही मुझ पाहि।
इस बालक कौं चिंता नांहि॥
जो प्रभु पास जन्म कौ गांव।
सो दीजै बालक कौ नांउ॥
तौ बालक चिरंजीवी होय।
यह कहि लोप भयो सुर सोय॥
जब यह बात पुजेरा कही।
खरगसेन जिय जानी सही॥
हरषत रहै कुटंब सब, स्वामी पास सुपास।
दुहु कौ जन्म बनारसी, यहु बानारसि दास॥
इह बिधि धर बालक को नांव।
आये पलट जौनपुर गांव॥

सं० १६५० मे खरगसेन के घर एक कन्या का जन्म हुआ। आठ वर्ष की अवस्था मे बनारसीदास विद्याध्ययन के लिए पांडे गुरु की चटशाला मे भर्ती हुए और एक वर्ष तक उस में

---

[1] अ० अ०, १०

रहे इस एक वर्ष में उन्हो ने अक्षर ज्ञान प्राप्त किया और लेखा लिखना सीखा नौ वर्ष की अवस्था मे खैराबाद के किन्ही कल्याणमल्ल की कन्या के साथ उन का विवाह तै हुआ। सं० १६५३ मे अकाल पडा और अन्न इतना महँगा हो गया कि किसी दाम पर नही मिलता था। जब अकाल चला गया तब स० १६५४ मे बनारसीदास का विवाह हुआ। जिस दिन खरगसेन घर मे पुत्रवधू लाए सयोग से उसी दिन उन की दूसरी कन्या का जन्म हुआ और वृद्धा नानी का स्वर्गवास हो गया। तीनो घटनाओ की ओर सकेत करते हुए कवि ने लिखा है[१]---

नानी मरन सुता जनम, पुत्रवधू आगौन।
तीनो कारज एक दिन, भए एक ही भौन॥
यह ससार विटंबना, देष प्रगट दुष षेद।
चतुर चित्त त्यागी भये, मूढ़ न जाने भेद॥

विवाह के दो मास पीछे दुलहिन का चचा आया और उसे अपने घर ले गया।

इसी बीच एक बड़ी विषम घटना हुई। इस समय जौनपुर का हाकिम नवाब कलीच खा था। उस ने एक दिन जौनपुर के सब जौहरियो को बुलाया और उन्हे खूब पिटवाया जिस से सब जौहरी जौनपुर छोड़ कर भाग निकले और खरगसेन अपना परिवार ले कर पश्चिम गगापार चले आए[२]--

विपता उदै भई इस बीच।
पुर हाकिम नौवाब कलीच॥
तिन पकरे सब जौहरी दिये कोठरी मांहि।
बड़ी बस्तु मांगै कछू सो तौ इन पै नांहि॥
एक दिवस तिनकौ पकर कियो हुकुम उठ भोर।
बांधि बांधि सब जौहरी खड़े किये ज्यों चोर॥
हने कटीले कोरड़े कीने मृतक समान।
दिये छोड़ तिस बार तिन आए निज निज थान॥

---

[१] ब० अ०, ११
[२] वही।

**आय सबन कीनौ मतौ भागि जाव तब भौन**
**निज निज घरगह साथ ले परे काल मुख कौन ।।**
**यहु कहि भिन्न भिन्न सब भये ।**
**फूटि फूटि कै चहुदिशि गये ।।**
**खरगसेन ले निज परवार ।**
**आये पश्चम गंगापार ।।**

वर्षा की अंधकारमयी रात्रि थी। शाहजादपुर मे अपने को निराश्रय पा कर खरगसेन रोने लगे। इतने मे करमचद नामक एक दयालु माथुर वैश्य आ निकले। उन्हो ने खरग-सेन को आश्वासन दिया और अपना घर खाली कर के परिवार समेत खरगसेन को उसी मे आश्रय दिया। खाने-पीने की भी सारी वस्तुएँ उन के लिए इकट्ठी कर दी। शाहजाद-पुर मे दस मास तक रहने के बाद खरगसेन प्रयाग आए। प्रयाग की बस्ती त्रिवेणी के पास थी और उस का नाम 'इलाहाबास' था। बनारसीदास और उन की दादी जौनपुर रह गए थे। यहाँ बनारसीदास दिन भर मे जो थोड़ा बहुत कमाते वह अपनी दादी के आगे नित्य रख दिया करते और दादी जिस का विश्वास सती आदि मे था अपने पोते की पहली कमाई से नित्य प्रसाद-वितरण किया करती। तीन मास के अनतर खरग-सेन का पत्र मिला कि बनारसीदास सकुटुब फतेहपुर चले जावे। वे फतेहपुर गए। फतेहपुर से भी खरगसेन ने उन्हे 'इलाहाबास' बुला लिया। पिता-पुत्र ने यहाँ सर्राफी का काम किया। छ महीने बाद जब उन्हो ने सुना कि कलीच आगरे चला गया तब वे जौनपुर लौट आए।

एक वर्ष तक शाति रही। स० १६५७ मे शाहजादा सलीम जौनपुर आया। वह कोलवन (?) जाना चाहता था। उस समय जौनपुर का हाकिम झम्मू सुल्तान था। अकबर का फर्मान उस के पास आया कि जिस तरह बने सलीम कोलवन (?) न जाने पावे। अकबर की आज्ञा को शिरोधारण कर के नूरम खाँ जौनपुर का गढ़पति हुआ। उस ने मरने की ठान ली। तदनतर जौनपुर की जनता को जो कष्ट हुआ उस का वर्णन 'अर्द्ध-कथा' के लेखक ने इस प्रकार किया है[1]—

---

[1] ब० अ०, १५

इह बिधि अकबर को फरमान
सीस चढ़ायो नूरम खान ।।
तब तिन नगर जौनपुर बीच ।
भयौ गढ़पती ठांनी मीच ।।
जहां तहां संबल श्रीवाट ।
नाव न चलै गोमती घाट ।।
पुल दरवाजे दिये कपाट ।
कीनौ तिन विग्रह कौ ठाट ।।
राखे बहु पायक असवार ।
चहु दिसि बैठे चौकीदार ।।
कोट कंगूरन राखी नाल ।
पुर मैं भयौ ऊचला चाल ।।
कर बजत गढ़ संजोवनी ।
अन्न वस्तु जल की ढोवनी ।।
जिरह जीन बंदूक अपार ।
बहु दारु नाना हथियार ।।
षोल षजाना षरचै दाम ।
भयो आय सनमुष संग्राम ।।
प्रजा लोक सब व्याकुल भये ।
भाजे वह ऊर उठ गये ।।
महा नगर में भई उजार ।
अब आई अब आई धार ।।
सब जौहरी मिले इकठौर ।
नगर मांहि तर रह्यो न और ।।
क्या कीजै अब कौन बिचार ।
मुसकल भई सहत परकार ।।

रहे न कुसल न भागे क्षेम।
पकरी साप छछूंदर जेम॥
तब सब मिल नूरम के पास।
गये जाय कीनी अरदास॥
नूरम कहै सुनो रे साहु।
भावै इहां रहौ कै जाहु॥
मेरौ मरण बन्यो है आय।
मै क्या तुम्को कहौ उपाय॥
तब सब फिर आए निज धाम।
भागहु जो कछु करौ सुजान॥
आप आप को सब भगे एकहि एक न साथ।
कोऊ काहू की सरण कोऊ कहूँ अनाथ॥

इस भगदड मे बेचारे खरगसेन एक जंगल मे भाग निकले। छ-सात दिन पीछे उन्हों ने जब यह सुना कि नगर मे सब शाति हो गई है, क्योकि नूरम खा ने सलीम से क्षमा माँग ली है, तब वे भी अपने घर आए।

बनारसीदास अब कुछ चैतन्य हो गए थे। किन्ही प० देवदत्त के पास जा कर उन्हो ने नाममाला, अनेकार्थ, ज्योतिष, अलकार, लघुकौमुदी तथा चार सौ स्फुट श्लोक पढे। स० १६५७ का समय था। चौदह वर्ष की अवस्था मे बनारसीदास को 'इश्क' का दुर्व्यसन लग गया[1]।

तज कुलकान लोक की लाज।
भयो बनारसि आसिक बाज॥
करै आसकी धर मन धीर।
दरद बंद ज्यों सेख फकीर॥
इकटक देख ध्यान सौ धरै।
पिता आपने कौ नहि डरै॥

---

[1] ब० अ०, १६

घोर बती माग कामनी।
आनै पान मिठाई घनी॥
भेजै पेसकसी हित पास।
आप ग़रीब कहावै दास॥

तदनंतर जौनपुर मे एक जैन महात्मा भानुचद मुनि आए। उन मे बनारसीदास ने कुछ जैन-धर्म का साहित्य पढा, फिर भी 'इश्क' गला नही छोड़ता था। इसी समय बनारसीदास ने एक शृगार-रस-युक्त रचना की[१]—

कबहू आय सबद नर धरै।
कबहू जाय आसकी करै॥
पोथी एक बनाई नई।
मिति हजार दोहा चौपई॥
तामें नवरस रसना लिषी।
पै विशेष बर्नन आसिकी॥
अैसे कुकबि बनारसि भये।
मिथ्या ग्रंथ बनाये नये॥

कै पढ़ना कै आसिकी, मगन होय रस मांहि।
षांन पांन की सुध नहीं, रोजगार कछु नांहि॥

दो वर्षो तक उन की यही दशा बनी रही। माता-पिता ने बहुतेरा समझाया किंतु उस का कुछ भी असर नही हुआ। स० १६५९ मे बनारसीदास ससुराल गए। एक महीना ससुराल मे बीता था कि पौष मास मे उन्हे अकस्मात् 'बात का रोग' हो गया। इस 'बात के रोग' से लगातार वे छ. महीने तक व्यथित रहे। अत मे एक नाई के उपचार से वे स्वस्थ हुए। इस बीमारी मे उन्हे बडा ही कष्ट रहा। अपनी दुर्गति का जो वर्णन बनारसीदास ने किया है उस के पढने पर गोस्वामी तुलसीदास की उन यातनाओ का

---

[१] ब० अ०, १७

स्मरण हो आता है जिन का वर्णन उन्हों ने 'बाहुक' के छंदो मे किया है। बनारसीदास के 'बात के रोग' का वर्णन इस प्रकार है[१]---

मास एक जब भयो बितीत।
पौष मास सितपष रितु सीत॥
पूरब कर्म उदै संजोग।
आकस्मात बात को रोग॥

भयो बनारसिदास तनु, कुष्ट रूप सरबंग।
हाड़ हाड़ उपजी बिथा, केस रोम जनु भंग॥
बिस्फोटक अगनित भए, हस्त चरण चौरंग।
कोई नर सीवा ससुर, भोजन करै न संग॥
अैसी असुभ दसा भई, निकट न आवे कोय।
सासू और बिवाहिता, करहि सेव तिय दोय॥
जल भोजन की लेहि सुधि, देहि अन्न सुष माहि।
औषध नावै देह में, नांक मूंदि उठि जाय॥

इस अवसर ही नापत कोय।
औषध पुरी षवावै सोय॥
चने अलोंने भोजन देय।
पैसा टका कछू नहिं लेय॥
च्यार मास बीते इस भांति।
तब कछु भई बिथा उपशांत॥
मांस दोय औरौ चल गए।
तब बानारसि नीके भये॥

दस दिन अच्छे होने पर खैराबाद मे वे और रहे। तदनतर जौनपुर आए। घर पहुँचने पर पिता ने उन्हें बहुत कुछ बुरा भला कहा। उस के चार महीने बाद खरगसेन पटना

[१] ब० अ०, १८

चले गए और बनारसीदास फिर ससुराल आए। इस बार वे लज्जा के मारे बाजार में नही निकलते थे। कुछ दिनों बाद वे अपनी स्त्री को ले कर जौनपुर आए। घरवाले उन के विद्या-व्यसन और 'इश्क' के दुर्व्यसन दोनो को एक-सा बुरा समझते थे और इसी-लिए उन्हो ने दोनो के विरुद्ध बनारसीदास को उपदेश किया, जिस का कोई प्रभाव उन पर न पड़ा[१]—

गुरजन लोग देहि उपदेश।
आसिकबाज सुने दुरवेश॥
बहुत पढ़ै बाम्हन औ भाट।
बनिक पुत्र वह बैठे हाट॥
बहुत पढ़ै सो मांगै भीष।
मानहु पूत बड़े की सीष॥

इत्यादिक स्वारथ बचन, कहे सबनि बहु भांति।
मानै नहीं बनारसी, रह्यो सहज रस मांति॥

स० १६६० मे खरगसेन पटने से घर वापस आए। उन्हों ने अपनी बडी बेटी का विवाह किया किंतु विवाह के छ-सात दिन बाद ही वह मर गई। बनारसीदास भी इसी बीच बीमार पड़े, कोई दवा देनेवाला नही था। बीस लंघन करने के पश्चात् वे अच्छे हुए।

स० १६५९ की एक और कथा है। एक सन्यासी ने उन्हे लिख कर एक मत्र दिया और कहा कि उस मत्र के नियमपूर्वक साल भर जप करने से जप पूरा होने पर बनारसीदास को प्रतिदिन प्रात काल अपने दरवाजे पर एक दीनार पडा हुआ मिला करेगा। इसी प्रकार पुन. एक वर्ष तक जपने पर उस के आगे फिर एक वर्ष तक वह मिलता रहेगा। बनारसीदास ने सन्यासी की बातो का विश्वास कर के नियमपूर्वक उस मत्र का एक वर्ष तक जप किया। तदनतर जब वे प्रात:काल एक दिन दरवाजे पर गए तो उन्हे कही भी दीनार न दिखाई पडा। इसी प्रकार दूसरे दिन भी वे गए तब भी उन्हे कही दीनार न

---

[१] ब० अ०, १९

दिखाई पड़ा। इस की चर्चा जब उन्हो ने और लोगों से की तो उन्हों ने बनारसीदास से कहा कि यह सब मिथ्या है।

इसी प्रकार, एक दिन एक जोगी बनारसीदास को एक शङ्खोली, अर्थात् छोटी शंख दे गया और कह गया कि यह सदाशिव की मूर्ति है। निरन्तर इसकी पूजा करने से शिव की प्राप्ति होती है। बनारसीदास ने बिधिवत् उस की पूजा करनी आरभ कर दी। सं० १६६१ के चैत्र मे खरगसेन एक यात्रा के लिए चले गए, तब बनारसीदास और भी निरकुश हो गए। कार्तिकी पूर्णिमा के अवसर पर वे काशी गए। वहा भी उस शखोली को वे लेते गए थे और बिना उस की पूजा किए कभी भोजन तक न करते थे। उस शखोली और बनारसीदास का अच्छा साथ रहा[1]—

संख रूप शिव देव, महासंख बानारसी।
दोऊ मिले अबेव, साहिब सेवक एक से॥

काशी में कुछ दिन रह कर बनारसीदास घर वापस आए। खरगसेन भी यात्रा से लौटे। कुछ दिनो के बाद बनारसीदास की स्त्री को एक पुत्र हुआ, जो थोडे ही दिनो मे मर गया।

स० १६६२ का कार्तिक आया और छत्रपति जलालुद्दीन अकबर बादशाह की मृत्यु आगरे मे हो गई। इस समाचार को सुनते ही बनारसीदास को चक्कर आ गया। उस समय वे एक सीढी पर बैठे हुए थे, वहाँ से वे गिरे और उन्हें बड़ी चोट आई[2]—

संबत सोलह सै बासठा।
आयो कातिग पावस नठा॥
छत्रपत अकबर स्याह जलाल।
नगर आगरै कीनौ काल॥
आई खबर जौनपुर मांहि।
प्रजा अनाथ भई बिनु ताह॥
पुरजन लोग भये भयभीत।
हिरदै व्याकुलता मुख पीत॥

---

[1] अ० क०, २२
[2] वही, २४

अकस्मात बानारसी सुनि अकबर को काल
सीढ़ी पर बठ्यो हुतो, भयो भरम चित चाल ॥
आय तिवाला गिर पर्यो, सक्यो न आपा राष।
फूटि भाल लोहू चल्यौ, कह्यो देव मुष साषि ॥
लगी चोट पाषान की, भयौ गहेगण लाल।
हाय हाय सब कर उठे, मात तात बेहाल ॥

गोद उठाय माय नै लियो।
अंबर फारि घाव मैं दियो ॥
षाट बिछाय सुवायो लाल।
माता रुदन करै अस हाल ॥

और जनता मे जो खलबली मची उस का कुछ ठिकाना नही[1]—

इस ही बीच नगर मैं सोर।
भयौ उदंगल चारौ ओर ॥
घर घर देइ दिये हैं कपाट।
हटवानी नहि बैठै हाट ॥
भले अस्त्र अस भूषण भले।
सो सब घर मै बाधि धरे ॥
हड़वाई गाड़ी कहुं और।
नगदी माल बिभरमी ठौर ॥
घर घर सबनि बिसाहे सस्त्र।
लोगन पहरे मोटे बस्त्र ॥
ऊढ़े केवल अथवा षेस।
नारिन पहरे मोटे भेस ॥

---

[1] ब० अ०, २२

ऊच नीच कौ नहि पहिचान
धनी दलिद्री भय समान ॥
चोर धार कहू दीसै नाहि ।
यौही अपभय लोक डराय ॥

अंत मे जब लोगो को यह समाचार मिला कि जहाँगीर तख्त पर बैठ गया तब उन्हे शाति मिली। बनारसीदास ने यह समाचार सुन कर स्नान किया और दान दिए और उन के घर पर उत्सव मनाया गया[१]—

धांम धांम दिन दस रही, बहुरो बरनी सांझ ।
चीठी आई सबनि कै, समाचार इस भांति ॥
प्रथम पातस्याही करी, बावण बरष जलाल ।
अब सोलह सै बासठै, कातिक हूवो काल ॥
अकबर कौ नंदन बड़ौ, साहिब स्याह सलेम ।
नगर आगरे मै तषत, बैठो अकबर जेम ॥
नाव धरायो नूरदीं, जिहांगीर सुलतांन ।
फिरी दुहाई जगत मै, बरनी जहं तहं आंन ॥
इह बिधि चिट्ठी मै लिषी, आई घर घर बार ।
फिरी दुहाई जौनपुर, भयो जु जै जै कार ॥

षरगसेन के घर आनंद ।
मंगल भयो गयो दुषदंद ॥
बानारसि कियो असनान ।
कीजै उत्सव दीजै दान ॥

इस घटना के अनतर एक दिन बनारसीदास इक्के पर बैठे हुए चले जा रहे थे। यकायक वे मन मे यह विचार करने लगे कि उन्हो ने शिव की पूजा व्यर्थ की, क्योंकि जब वे मूर्छित हो कर गिर पडे थे, तब शिव को उन की सहायता करनी चाहिए थी, जिस से

---

[१] ब० अ०, २४

उन्हें चोट न लगती ? ऐसा विचार आते ही उन्हों ने शिव की पूजा छोड़ दी और वह शखोली भी उन्हों ने उठा कर अलग रख दी।

इसी प्रकार एक दिन वे मित्रों के साथ अपनी वही शृंगारपूर्ण रचना ले कर चले। रास्ते में आ कर गोमती के पुल पर बैठ गए। उन्हों ने कुल पोथी बाँची। उसे समाप्त करने के अनंतर यकायक उन के मन में यह तरंग उठी कि जो व्यक्ति एक झूठ बोलता है, उसे तो नर्क जा कर यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं और यह पुस्तक अनेक कल्पित बातों से भरी है, जिन में से एक भी सच्ची नहीं है, तब उन की क्या दशा होगी ? यह बुद्धि होते ही उन्हों ने नीचे नदी की ओर देखा। नदी वेग से बह रही थी, उसी में उन्हों ने अपनी यह रचना डाल दी। मित्र सब हाय हाय करने लगे। नदी गहरी और भयानक थी और उस में पुस्तक के पन्ने बिखर गए। तब, उन्हें कौन एकत्र करता। खरगसेन ने जब यह समाचार सुना तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उसी दिन से बनारसीदास के हृदय में धर्म-रुचि जागरित हुई और उन्हों ने 'इश्क' के फंदों से अपना पीछा छुड़ाया और वे जैन-धर्म के नियमों का पालन करने लगे।

खरगसेन की दो लड़कियाँ थीं, जिन में से एक का विवाह पहले हो चुका था। इस वर्ष उन्हों ने दूसरी का विवाह भी किया। यह पाटलीपुर ब्याही गई। सं० १६६४ में बनारसीदास का दूसरा पुत्र पैदा हुआ किंतु वह भी केवल चार दिनों में जाता रहा।

अपने लड़के को रास्ते पर आया हुआ देख कर खरगसेन प्रसन्न हुए। सं० १६६७ में उन्हों ने सर्राफी की वस्तुएँ तथा मार्ग-व्यय के लिए कुछ द्रव्य इधर-उधर से इकट्ठा कर के बनारसीदास को दिया और उन्हें व्यापार के लिए आगरे भेजा। विदा करते समय पुत्र के मस्तक में पिता ने तिलक किया और कहा कि कुटुंब के भरण-पोषण का भार अब वह अपने सिर पर ले। बनारसीदास घर से चल कर इटावा पहुँचे। बादल घिर आए और पानी बरसने लगा। बाजार में बैठने के लिए कहीं जगह नहीं मिलती थी। एक स्त्री ने जब बैठने को भी कहा तो उस के पति ने बनारसीदास को बाँस ले कर धमकाया[1]—

---

[1] ब० अ०, २७

फिरत सब फरवा भए, बैठन कहु न कोय।
तलै कीच सौ पग भरे, ऊपर बरषै तोय॥
अंधकार रजनी समै, हिमरुत अगहन मास।
नारि एक बैसन कह्यो, पुरष उछालै बास॥

चलते-चलते बेचारे एक स्थान पर पहुँचे, जहाँ कुछ चौकीदार एक झोपड़ी में बैठे हुए थे। उन बेचारो ने इन्हे शरण दी। वहाँ पर ये तृण बिछा कर लेटे ही थे कि एक और बल-शाली व्यक्ति आया और उस ने इन से कहा कि ये चले जायँ नही तो इन्हे चाबुक खानी पडेगी[1]—

त्रन बिछाय सोए तिस ठौर।
पुरख एक जोरावर और॥
आयौ कहै तुम हिया कौन।
इहै झौंपरी हमारी भौन॥
सैन करूहू खाट बिछाय।
तुम किस ठांवह ऊतर जाय॥
कै तौ तुम अब ही उठ जाउ।
कै मेरे तुम चाबक षाव॥

पानी बरस रहा था, लेकिन बेचारे करते क्या? घबरा कर वहाँ से भी चले। किंतु, फिर उस व्यक्ति को दया आ गई। उस ने हाथ पकड कर बैठाया और अपनी चारपाई के नीचे शयन करने की आज्ञा दे दी। रात भर बेचारे उसी चारपाई के नीचे सोये। सबेरा होने पर वहाँ से गए[2]—

तब बानारसि ह्वै हलबले।
बरसत मेह बहुर उठ चले॥
उन दयाल ह्वै पकरी बांह।
फिर बैठाये छाया मांहि॥

---

[1] ब० अ०, २८
[2] वही, २८

दीनो एक पुरानो टाट
ऊपर आन बिछाई खाट ॥
कहै टाट पर कीजै सैन।
मुझें खाट बिनु परै न चैन ॥
एव मस्तु बानारसि कहै।
जैसी जाहि परै सो सहै ॥
जैसा कातै तैसा बुनै।
जैसा बोवै तैसा लुनै ॥
पुरष खाट पर सोया तलै।
तीनौ जने खाट कै तलै ॥
सोए रजनी भई बितीत।
ऊठ सौर नहि व्यापी सीत ॥

वर्षा बद होने पर बनारसीदास आगरे आए।

आगरे में उन्हो ने व्यापार करना शुरू किया, कितु मानव स्वभाव से परिचय कम होने के कारण उस व्यापार में इन्हे घाटा ही देना पड़ा। एक दिन उन्हो ने अपनी दूकान की बहुत सी वस्तुएँ खो दी। इसी बीच इन्हे बडे जोरो का ज्वर भी आ गया। कई लंघन करने पडे और एक महीने तक वे बाजार न जा सके। आगरे मे उन के एक बहनोई रहा करते थे। उन्हो ने बनारसीदास की दुरवस्था का समाचार अपने घर जौनपुर भेजा। उन के घर से खरगसेन ने अपने पुत्र की विपत्तियो का समाचार सुना तो उन्हे बडी ग्लानि हुई। पतोहू तो उन्हो ने तुरंत उस के मायके भेज दी।

धीरे धीरे अब बनारसीदास के पास कुछ न रहा। वे घर की वस्तुएँ भी बेच बेच कर खाने लगे। सारी संपति खा गए, दो चार टके रह गए। बाजार जाना भी उन्हो ने छोड दिया। रात्रि मे वे घर ही पर 'मधुमालती' 'मृगावती' आदि दो-चार पोथियाँ बाँचते, जिसे सुनने दस-बीस आदमी उन के यहाँ रोज पहुँच जाया करते। इन्ही श्रोताओ मे एक कचौड़ी वाला भी था। उसी से प्रतिदिन शाम-सबेरे एक सेर कचौडी उधार ले कर वे क्षुधा शांत करते। एक दिन एकांत देख कर उस कचौडीवाले से बनारसीदास ने अपनी सारी परिस्थिति कह सुनाई और उस से कह दिया कि वह उन्हे अधिक उधार न

दे क्योकि पीछे दाम वसूल होने में उसे बडी कठिनाई होगी उस न उत्तर दिया कि दस बीस रुपये तक उसे कोई चिता नही होगी, बनारसीदास वहाँ तक बराबर उधार कचौ-डियाँ खाया करे। उधार खाते छ -सात महीने बीत गए। दो महीने तक बनारसीदास ने किन्ही ताराचद साहु के यहाँ भी भोजन किया। तदनतर एक धर्मदास के साझे मे फिर उन्होंने सर्राफ़े का व्यापार प्रारभ किया। फेरी लगा कर शाम को वे घर लौटते। धीरे-धीरे उन पर लोगो का विश्वास बढने लगा और उन्हो ने कमा कर कचौडीवाले के दाम चुका दिए। उस समय बनारसीदास के ऊपर कचौडीवाले के १४) निकल रहे थे जिन्हे बनारसीदास ने तीन बार कर के चुकाया। साझे का काम दो वर्ष तक चल्ता रहा। तब बनारसीदास का चित्त वहाँ से उचटा। स० १६७० मे उन्हो ने दूकान की सारी वस्तुएँ बेच कर जब हिसाब किया तो बचती कुछ भी नही निकली और सारा परिश्रम व्यर्थ गया। बनारसीदास फिर दरिद्र हो गए। एक दिन वे बाजार जा रहे थे। संयोग-वश उन्हो ने जब नीचे दृष्टि की तो उन्हे एक थैली रास्ते मे गिरी हुई दिखाई पडी। बनारसीदास उसे उठा कर अपने डेरे को लौट आए। उसे खोल कर देखा तो उस मे आठ मोती निकले। तुरत उन्हे छिपा कर वे पूरब की ओर चल पड़े और खैराबाद आए। अपनी ससुराल गए। रात्रि में स्त्री पूछने लगी कि आगरे की कमाई उन्हो ने क्या कर डाली। बनारसीदास ने उत्तर दिया कि आगरे की सारी कमाई खर्च हो गई और अत मे उन के पास कुछ भी शेष न रहा, और अब वे जौनपुर जाना चाहते थे। बाते करते करते सबेरा हो गया और स्त्री ने चुपके से ला कर २०) बनारसीदास के हाथ मे रख दिए। माता से उस ने जा कर यह बाते कही और यह भी कहा कि २०) वाली बात प्रकट न होने पावे क्योकि बनारसीदास बडे लज्जालु प्रकृति के थे। माता ने उस से कहा कि वह विशेष चिता न करे, अगर बनारसीदास आगरे वापस जाने के लिए तैयार हो तो वह सौ मुद्राये दे सकती थी। दूसरे दिन रात्रि में स्त्री ने बनारसीदास से पूछा। बनारसीदास तैयार हो गए। स्त्री ने ला कर रुपए गिन दिए। धीरे-धीरे बनारसीदास को ससुराल मे चार महीने लग गए। इस बीच उन्हो ने दो सौ नाममालाये लिखी और अजितनाथ के छदो की रचना की, और आगरे मे विक्रय करने के लिए कपड़ों के थान धुला-धुला कर इकट्ठे किए, और मोतियो का हार खरीदा और तदनतर यह सब ले कर आगरे गए। वहाँ पहुँच कर उन्होने कपड़े का व्यवसाय प्रारभ किया। सयोगवश कपडे की बाजार मदी पड़ गई।

चार महीने तक बनारसीदास ने कपड़े का काम किया किंतु कपड़ा बिकता ही नहीं था। इसी बीच आगरे में नरोत्तमदास नामी एक सज्जन से मित्रता हो गई। अपनी गुप्त संपत्ति को भी बेच-बाच कर नरोत्तमदास के साथ बनारसीदास एक बारात करने गए और उस में अपना सारा धन खर्च कर डाला। बारात से लौट कर आगरे आए।

अब दोनों मित्रों में पटने जाने की ठहरी। नरोत्तमदास के ससुर ने भी साथ चलना चाहा। तीनों व्यक्ति पटने की ओर चल पड़े। चलते-चलते शाहजादपुर पहुँचे। एक सराय में ठहरे। चाँदनी रात थी, समय का ठीक अनुमान न कर सके, सबेरा होता समझ कर वे चल पड़े। एक बोझिया साथ में ले लिया था। रास्ता भूल गए और अचानक वे एक जंगल में आ पहुँचे। बोझिया रोने लगा और वह भाग निकला। तीनों व्यक्तियों ने बोझा आपस में बाँट लिया और आगे बढ़े। बोझा कभी वे कंधे पर रखते थे कभी सिर पर। जब आधी रात हो गई तब वे बड़े घबराए। चलते-चलते तीनों व्यक्ति उस स्थान पर पहुँचे जहाँ चोरों की बस्ती थी। बड़ी कठिनाई में पड़े। यहाँ अगर बनारसीदास ने चतुरता से काम न लिया होता तो तीनों व्यक्तियों की न जाने क्या दुर्दशा हुई होती। बनारसीदास ने ब्राह्मण बनने का ढोंग किया तब उन की जान बची। इस घटना का वर्णन कवि ने नीचे लिखे शब्दों में किया है[1]——

चले चले आये तिस ठांव।
जहां बसै चोरन कौ गांव॥
बोला पुरख एक तुम कौन।
गये सूषि मुष पकरी मौन॥
इन परमेस्वर की लौ धरी।
वह था चोरन का चौधरी॥
तब बनारसी पढ़ा सिलोक।
दे असीस उन दीनी धोक॥

---

[1]ब० अ०, ३८

कह चौधरी आवहु पास।
तुम्ह नारायन मैं तुम दास॥
आज बसौ मेरी चौपार।
मेरे तुम्हरे बीच मुरारि॥
तब तीनौ नर आये तहां।
दिया चौधरी थानक जहा॥
तीनौ पुरष भये भयभीत।
हिरदे मांहि कंप मुष पीत॥

सूत काढ़ि डोरा बरयो किए जनेऊ च्यार।
पहिरे तीन तिहू जने राख्यो एक उबार॥
माटी लीनी भूम सू पानी लीनौ ताल।
बिप्रभेद तीनौ बने टीका कीन्यौ भाल॥

पहर दोय लौ बैठे रहे।
भयो प्रभात बाहर पूछै है॥
है आरूढ़ चौधरी ईस।
आयो साथ और ना बीस॥
उठ कर जोरि नवायो सीस।
इन उठ कर दीनी आसीस॥
कहै चौधरी पंडितराय।
आछहु मारग देय दिषाय॥
पराधीन तीनो उठ चले।
मस्तग तिलक जनेऊ गलै॥
सिर पर तीनहु लीनी पोट।
तीन कोश जंगल की ओट॥
गए चौधरी किया निबाह।
आई फत्तेपुर की राह॥

कह चौधरी इस मग माहि
जाहु हम आज्ञा हम जाहि ।।
फत्तेपुर इन रूखन तले ।
चरंजीव कहि तीनौं चले ।।

चार कोस चलने पर वे फतेहपुर पहुँचे, और फतेहपुर से आगे चल कर तीनो व्यक्ति 'इलाहाबास' पहुँचे।

'इलाहाबास' मे खरगसेन से भेंट हुई। बनारसीदास की विपत्तियाँ सुन कर वे मूर्छित हो कर गिर पडे और चार घड़ी तक अचेत पडे रहे, तब उन्हे चेत हुआ। डोली पर बनारसीदास पिता को जौनपुर लिवा आए। वहां से नरोत्तमदास को साथ ले कर बनारसीदास व्यापार के लिए बनारस गए। स० १६७१ के वैशाख शुक्ल मे बनारसी-दास ने सुपार्श्वनाथ का व्रत किया और उन की पूजा की। वहाँ व्यापार करने लगे। कुछ दिनो के बाद उन्हे खरगसेन का पत्र मिला कि खैराबाद मे उन की स्त्री का तीसरा पुत्र उत्पन्न हुआ। यह समाचार पा कर मित्रो को सुख हुआ। किंतु, फिर उन्हे यह समाचार मिला कि १५ दिन बाद ही माता और पुत्र दोनो की मृत्यु हो गई। बनारसीदास की स्त्री की एक छोटी बहिन थी, पहली स्त्री के मरते ही उस के पिता ने नाई भेज कर अपनी इस कन्या के विवाह के लिए बनारसीदास का तिलक भेज दिया, जिसे बनारसीदास ने स्वीकार कर लिया। छः-सात महीने बनारस मे रह कर दोनो मित्र जौनपुर आए। जौनपुर मे उस समय कोई चिनी कलीच खा मीर था। बनारसीदास से उस से मित्रता हो गई। वह बनारसीदास से कभी 'नाममाला' पढता था कभी छंद, कभी कोष या कभी 'श्रुतबोध'। वह बनारसीदास पर बहुत स्नेह रखने लगा था, किंतु स० १६७२ मे उस की मृत्यु हो गई। अब दोनो साथी पटने गए। छः-सात महीने वहाँ भी रहे किंतु कोई कमाई न हुई इस लिए जौनपुर वापस आ गए। यहाँ उन्हो ने व्यापार का सिलसिला शुरू किया। इसी समय बादशाह ने आगानूर को उमराव बना कर जौनपुर भेजा और दोनो मित्र अयोध्या की यात्रा के लिए रवाना हुए। उन्हो ने अयोध्या की यात्रा की और सैनाई जा कर वे धर्म-नाथ के सेवक हुए। लौटते हुए रास्ते मे उन्हो ने सुना कि आगानूर ने जौनपुर मे बडा उत्पात मचा रक्खा है। यह समाचार सुन कर वे लोग ४० दिनों तक जगल मे छिपे रहे। तदनतर जब उन्हों ने यह सुना कि आगानूर आगरे चला गया तब जौनपुर आए।

जौनपुर पहुचने पर दोनो मित्रो को आगरे से आया हुआ सबलसिह का पत्र मिला जिस मे उन्हो ने दोनों व्यक्तियो को आगरे बुलाया था। सबलसिह नेमीसाहु के पुत्र थे। दोनो साथियो ने चलने की तैयारी की, किंतु इसी समय खरगसेन बीमार पड गए। स० १६७६ की वैशाख शु० ७ को (यहाँ सभवत स० १६७६ भूल से लिखा गया है, होना चाहिए था स० १६७३, जैसा पूर्वापर सबध से ज्ञात होगा) दोनो साथियो मे साझे का हिसाब हुआ और पिता की सेवा के लिए बनारसीदास को छोड कर नरोत्तमदास आगरे के लिए रवाना हुए। ज्येष्ठ कृ० ५ को खरगसेन का स्वर्गवास हो गया। बनारसीदास पिता की मृत्यु पर भरपेट रोए, किन्तु अत मे यह समझ कर उन्हे हृदय कडा करना ही पडा कि संसार मे कोई भी सदैव जीवित नही रहा है। एक मास बाद फिर सबलसिह का पत्र आया, और बनारसीदास भी आगरे के लिए चल पड़े। मार्ग मे घाटमपुर के निकट एक बडी विचित्र घटना हुई। मार्ग मे एक माहेश्वरी तथा दो ब्राह्मण मिल गए थे। सराय मे सब साथ ही ठहरे। दोनो मे से एक ब्राह्मण को कुछ फुटकर पैसो की आवश्यकता हुई। वह एक सर्राफ के यहाँ एक रुपया ले कर भुनाने गया। रुपया भुना कर जब वह ब्राह्मण लौटा तब पीछे-पीछे सर्राफ भी आया और कहने लगा कि वह रुपया जिसे ब्राह्मण ने भुनाया था जाली था। ब्राह्मण ने कहा कि उस का रुपया जाली नही था। दोनो मे बाते बढ़ गईं और ब्राह्मण ने सर्राफ़ को खूब पीटा। इसी बीच सर्राफ का एक भाई भी आ गया। उस ने टटोल कर देखा कि ब्राह्मण की थैली मे पचीस रुपये थे। यह देख कर वह घर चला गया और पचीस खोटे रुपए ला कर ब्राह्मण की थैली मे उस ने चुपके से रख दिए और अच्छे रुपये उस मे से निकाल लिए, और वह ब्राह्मण की थैली लिए हुए कोतवाल के पास चला गया और कोतवाल से उस ने कहा कि सराय मे चोर आए हुए है यदि उन्हें यकायक घेर लिया जावे तो वे मिल जायँगे। कोतवाल हाकिम के पास गया, हाकिम ने साथ मे दीवान कर दिया। शाम को कोतवाल और दीवान दोनो सराय में आए। ब्राह्मणों को बुलवा कर उन्होने पूछा कि वे कौन थे। ब्राह्मणो ने उत्तर दिया कि वे ब्राह्मण थे। तदनतर उस माहेश्वरी और बनारसीदास से भी उन्हो ने वही प्रश्न किया। इन्हो ने कहा कि वे आगरे नेमीसाहु के यहाँ जा रहे थे और व्यापारी थे। कोतवाल को इन की बातों पर विश्वास नही हुआ। उस ने इन्हे रात भर का समय दिया कि अपनी पहिचान के लोग घाटमपुर,

कोरडा, तथा बरी नामक तीन गावो मे ढूंढ नही तो जान न बचेगी। यह कह कर चौकी बैठा दी और स्वय दोनो चले गए। रात्रि भर बनारसीदास और वह माहेश्वरी जागते रहे। सोचते-सोचते उस माहेश्वरी को रात के पिछले पहर में यह याद आया कि उसके छोटे भाई का लडका बरी मे ही ब्याहा था और वह यहाँ बारात के साथ आया था। यह बात उस ने बनारसीदास से बताई तब कुछ चिता कम हुई। सबेरा होते ही उन्नीस शूलियाँ उन्नीस मजदूरो के सिर पर कोतवाल ने सराय मे भेजी और तदनंतर कोतवाल, दीवान तथा उस पुर के लोग आए। उन के आते ही बनारसीदास ने कहा कि बरी मे उन की एक पहिचान निकल आई। दीवान को विश्वास नही हुआ, उस ने चल कर दिखाने को कहा। माहेश्वरी के साथ दीवान गया। माहेश्वरी को देखते ही उस के समधी ने बडे आदर-पूर्वक उस का स्वागत किया और माहेश्वरी को रोक लिया। दीवान लौट कर आया और कोतवाल से कहने लगा कि बनारसीदास की बात सच्ची निकली। तब दीवान और कोतवाल चले गए। एक पहर दिन चढने पर बनारसीदास छ-सात सेर फुलेल ले कर दीवान के पास पहुँचे और यथायोग्य सब को फुलेल दे कर उन्हो ने प्रसन्न किया। सर्राफ को सजा देने के लिए उन्हो ने कहा तो दीवान ने उत्तर दिया कि सर्राफ की खोज कराई गई थी, किंतु वह मिला नही, वह पहिले ही अपना माल असबाब ले कर भाग गया था। बनारसीदास डेरे पर आए, रात को माहेश्वरी भी आया। सबेरे उठ कर वे दोनो आगरे के लिए चले। रास्ते मे बनारसीदास को नरोत्तमदास की मृत्यु का समाचार मिला। समाचार पाते ही वे मूर्छित हो कर गिर पडे। होश आने पर फिर चले और नदी के इस पार आगरे के निकट जब वे पहुँचे तब उन्हे फिर वे दोनो ब्राह्मण मिले और अपघात करने का भय दिखा कर इन लोगो से पचीस रुपये माँगने लगे। मजबूर हो कर बारह रुपये माहेश्वरी ने और तेरह बनारसीदास ने दिए। बनारसीदास आगरे पहुँचे। वहाँ पहुँच कर उन्हो ने साहु का हिसाब किया और साझा समाप्त किया।

अगहन स० १६७३ में बनारसीदास ने अलग एक मकान रहने के लिए किराए पर लिया। इसी समय आगरे मे पहली मरी का प्रकोप हुआ। उस मरी का वर्णन बनारसीदास ने इन शब्दो मे किया है[1]—

---

[1] अ०अ०, ५१

इस ही समै ईत बिस्तरी।
परी आगरै पहिली मरी॥
जहां तहां सब भागे लोग।
परगट भया गांठ का रोग॥
निकसै गांठि मरै छिन माहि।
काहू की बसाय कछु नांहि॥
चूहे मरै बैद मर जाहि।
भय सौं लोग अन्न नहि खाय॥

आगरे के निकट ब्राह्मणो की एक बस्ती थी जिस का नाम अजीजपुर था। बहुत से लोग भाग कर यही चले आए थे। बनारसीदास ने भी यहाँ आ कर किराये पर एक मकान लिया। जब मरी शांत हुई तब सब लोग अपने घर आए, और बनारसीदास भी आगरे आए। इस मरी के पीछे वे एक बारात मे अमृतसर गए और फिर आगरे वापस आए। इसी बीच उन की माता भी जौनपुर से आगरे आ गई और बनारसीदास आगरे मे ही रहने लगे। खैराबाद जा कर उन्हो ने अपना दूसरा विवाह किया, और आगरे लौट आए।

सं० १६७५ मे उन्हो ने अहिछत्र की पूजा की और हस्तिनापुर की यात्रा की। लौटते समय वे दिल्ली और मेरठ होते हुए आगरे आए। धर्म-रुचि की ओर वृद्धि हुई। स० १६७६ मे बनारसीदास की इस दूसरी स्त्री को लड़का पैदा हुआ, किंतु स० १६७७ मे उन की माता का स्वर्गवास हो गया और फिर स० १६७९ मे उन के उस पुत्र और उस स्त्री का भी देहात हो गया। बनारसीदास की तीसरी सगाई फिर खैराबाद मे किन्हीं बेगा साहु की कन्या से हुई। स० १६८० मे वे विवाह कर के आगरे लौटे। यहाँ उन्हे रायमल नाम के एक जैन विद्वान् मिले जिन्हों ने 'समयसार' नामक जैन-ग्रथ की टीका की। 'समयसार' की उक्त टीका के अध्ययन से बनारसीदास को कुछ वैराग्य की स्फूर्ति हुई और उन्हों ने 'ज्ञान-पचीसी', 'ध्यान-बत्तीसी' तथा आध्यात्मिक गीतो की रचना की और अनेक कवित्तादि भी रचे। किंतु तीन कुमति-युक्त व्यक्तियों के साथ से बनारसी-दास की कुछ विचित्र दशा हो गई। वे जिन-प्रतिमाओ का मन मे निरादर करने लगे और

मुख से अकथनीय बात कहने लगे गुरु के सामने जिस बात के लिए प्रतिज्ञा करते घर आ कर उसी का उल्लंघन करते। दिन-रात पशु की भाँति खाते और घर में मस्त पड़े रहते। दिनोदिन दशा कुछ विचित्र होती जा रही थी। सं० १६८४ के आषाढ़ में इस तीसरी स्त्री से उन का पहला लड़का पैदा हुआ, किंतु वह भी अल्पायु में ही चल बसा। इसी समय बाईस वर्ष राज्य करने के अनंतर काश्मीर के रास्ते में लौटते समय अचानक छत्रपति जहाँगीर की मृत्यु हो गई। चार मास बीतने पर शाहजहाँ तख्त पर बैठा और उस ने चारों ओर संसार में अपना सिक्का जमा लिया। सं० १६८४ में वह आगरे में सिंहासन पर बैठा। सं० १६८५ में बनारसीदास की इस स्त्री को दूसरा पुत्र हुआ किंतु एक वर्ष का होने पर वह भी जाता रहा। सं० १६८७ में फिर तीसरी बार उन की इस स्त्री को लड़का हुआ और सं० १६८९ में एक लड़की पैदा हुई। यह लड़की भी कुछ दिनों में चल बसी। सभी लड़के लड़कियाँ जो पैदा हुए मरते गए, अंत में केवल एक पुत्र बच रहा। इस बीच बनारसीदास ने और कई नवीन रचनाएँ की---'सूक्त मुक्तावली' 'अध्यात्म-बत्तीसी', 'पैंडी फाग और धमार', 'सिंधु-चतुर्दशी', स्फुट कवित्त, 'शिष्य-पचीसी', 'सहस्रठोत्तर नाम', 'कर्म-छत्तीसी', 'झूलना' तथा 'रावण और राम में अंतर' (?)। सं० १६९२ में आगरे में रूपचंद नामी एक महात्मा आए जिन्हों ने 'गोमटसार' की रचना की थी। उन के सत्संग से पहले स्यादवाद की ओर जो बनारसीदास का झुकाव हो चला था वह जाता रहा। 'गोमटसार' सुनने से बनारसीदास को बड़ी शांति मिली। किंतु सं० १६९२ में ही रूपचंद का देहावसान हो गया। रूपचंद के उपदेशों से बनारसीदास और दृढ़ जैन हो गए और तदनंतर उन्हों ने एक ही आशय की अनेक आध्यात्मिक रचनाएँ की। हृदय में जो थोड़ी बहुत कालिमा थी वह जाती रही और उन की सम्यक्-दृष्टि हो गई। सं० १६९३ में उन्हों ने 'समयसार नाटक' का भाषानुवाद किया, जिस में ७२७ कवित्त हैं। सं० १६९६ में उनके चौथे पुत्र की भी मृत्यु हो गई। बनारसीदास बड़े दुखी हुए। दो वर्ष तक उन्हें यह दुख बना रहा, तब उन्हें शांति मिली। इन पचावन वर्ष की अवस्था में ही बनारसीदास की तीन स्त्रियाँ हुईं जिन से दो कन्याएँ और सात पुत्र पैदा हुए और मरे। अंत में केवल पति-पत्नी रह गए। 'स्त्री, पुत्र, और कन्याएँ, सभी मोह के बंधन हैं; जिस प्रकार ये कम होते जाते हैं उसी प्रकार चित्त को शांति भी मिलती जाती है।' इस प्रकार अपनी कथा कहने के अनंतर बनारसीदास ने अपने गुण-दोष भी कहे हैं। इन गुण-दोषों

से उन के व्यक्तित्व का यथार्थ बोध होता है हम देखेंगे कि अपने गुण-परिचय में कोई ऐसी बात वे नहीं कहते जिस से किसी प्रकार का अहम्मन्यत्व हमें उन के चरित्र में ज्ञात हो सके। और, अपने दोषों के कथन में भी वे हम से कुछ छिपा नहीं रखते। अपने गुणों का परिचय वे निम्नलिखित शब्दों में देते हैं[१]—

अब बानारसि के कहूं वर्तमान गुण दोय।
बिद्यमान पुर आगरै सुष सौं रहै संजोय॥

भाषा कहै अध्यातम माहि।
पढता और दूसरौ नाहि॥
छिमावंत संतोषी भला।
भली कबित पढ़िवे की कला॥
पढ़ै संसकृत प्राकृत सुद्ध।
बिबिधि देस भाषा प्रति बुद्धि॥
जानै सरब अरथ को भेद।
मानै नहीं जगत कौ षेद॥
मीठौ बोलै सब सौं प्रीत।
जैन धर्म की दिढ़ परतीत॥
सहनसील नहि कहै कुबोल।
सुथिर चित्त नहि डामाडोल॥
कहै सबन सौं हित उपदेश।
हृदै सुष्ट दुष्टता न लेस॥
पर रमनी कौ त्यागी सोय।
कुकबि न और न ठानै कोय॥
हियै शुद्धि समकित की टेक।
इत्यादिक गुण और अनेक॥

---

[१] अ० क०, ५७

किंतु इस विश्वास से कि

अलप अचक्ष कहू गुन जोय।
नहि उतकृष्ट न निर्मल कोय॥

अपने दोषो का परिचय भी वे निम्नलिखित शब्दो मे देते है[१]—

कहे बनारसि के गुन जथा।
दोष कथा अब बरनौ तथा॥
क्रोध मान माया जल रेख।
पै लछमी कौ लोभ बिशेष॥
पोतै हांस करम का उदा।
घर सौ हुवा न चाहै जुदा॥
करै जो जप तप संजम रीत।
नही दान पूजा सौ प्रीत॥
थोरे लाभ हर्ष बहु धरै।
अलप हीन बहु चिंता करै॥
मुष बद्य भाषत न लजाय।
सीषै भंड कला मन लाय॥
नाषै अकथ कथा बिरतंत।
गने नृत्य पाय एकांत॥
अनदेषी अनसुनी बनाय।
कथा कहै सभा मै आय॥
होय न मगन हास रस पाय।
मृषा बाद बिनु रह्या न जाय॥
अकस्मात भय ब्यापै घनी।
अैसी दसा आय कर बनी॥

---

[१] ब० अ०, ५८

कबहू दोष कबहू गुन होय।
जाको उदौ सु परगट होय।
इह बनारसी जी की बात।
कहूँ थूल जो हुती बिख्यात ।।
और जो सूक्ष्म दसा भगवंत।
ताकी गति जानै भगवंत ।।

रचना के अंत में कवि उस का समय इस प्रकार देता है[1]—

सोलह सै अट्ठाणवै, संबत अगहन मास।
सोमवार तिथ पंचमी, सुकल पक्ष परगास ।।
ताके मन आई यहु बात।
अपनौ चरित कह्यौ बिख्यात ।।
तब तिन बरस पंच पचास।
परमत दशा कही है भास ।।
आगै जो कछु होयगी और।
तैसी समझैगे तिस ठौर ।।

'अर्द्ध-कथा' नाम रखने का कारण कवि इस प्रकार देता है[2]—

बरतमान नर आव बषान।
बरष एक सौ दश परवान ।।
तातै अरध कथान यहु, बानारसी चरित्र।
दुष्ट जीव सुन हसहिगे, कहै सुनैंगे मित्र ।।

और अंत मे पुस्तक की छंद-संख्या देते हुए वह उसे समाप्त करता है[3]—

सब दोहा और चौपई, छ सै पिच्चत्तर जांन।
कहै सुनै बाचै पढ़ै, तिन सब कौ कल्यान ।।

---

[1] ब० अ०, ५९
[2] वही, ६०
[3] वही, ६०

# महाराजा अजितसिंहजी के नाम का महाराना संग्रामसिंह जी द्वितीय का एक पत्र

[ लेखक—श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ ]

मारवाड-नरेश महाराजा अजितसिंह जी का जन्म विक्रम-संवत् १७३५ की चैत्र बदी ४ (ई० स० १६७९ की १९ फरवरी) को लाहौर मे हुआ था। यह उन प्रबल पराक्रमी राठोड वीर महाराजा जसवंतसिंह जी प्रथम के पुत्र थे जिन की स्वाधीन प्रकृति के सामने कट्टरपंथी मुगल सम्राट् औरंगजेब को भी खुल कर खेलने का मौका नही मिलता था। इसी से वह मन ही मन कुढते रहने पर भी समय-समय पर उन का सम्मान कर उन्हे शात रखने की चेष्टा करता था। हाँ, जहाँ तक होता वह उन्हे दूर-देशो के प्रबंध मे ही लगाए रखता था।

इसी से जब वि० सं० १७३५ की पौष बदी १०, (ई० स० १६७८ की २८ नवबर) को जमरूद मे महाराजा जसवत का स्वर्गवास हो गया, तब उस ने आज तक के वैर का प्रतिशोध करने के लिए तत्काल मारवाड पर अधिकार कर लिया, और साथ ही मंदिरो को तुडवा कर मसजिदे बनवाने और चिरवाछित जज़िया जारी करने की आज्ञाएँ भी दे दी।

यद्यपि महाराजा अजित के जन्म पर मारवाड के सरदारों ने उन का पैतृक राज्य उन्हें लौटा देने की बहुत कुछ प्रार्थना की, तथापि वह इधर उन्हे बहाने बना-बना कर टालता रहा, और उधर मारवाड को स्थायी रूप से हडप लेने का प्रबध और भी जोर शोर से करने लगा। यह देख कर स्वर्गवासी महाराजा जसवत के साथ के सरदार बालक महाराजा अजितसिंह को छल-बल के द्वारा शाही पजे से निकाल कर मारवाड मे ले आए। परंतु उस समय मारवाड़ मे मुगलो का दौर-दौरा हो चुका था। इस लिए करीब आठ वर्ष तक तो बालक महाराजा को अज्ञातवास मे रहना पडा, और इस के बाद करीब बीस

वष तक इन के स्वामिभक्त सरदार और बड होन पर) स्वय महाराज मुगलो से लोहा लेने रहे। वि० स० १७६३ की चैत्र वदि ५ (ई० स० १७०७ की १२ मार्च) को कही जा कर इन का अधिकार जोधपुर पर हुआ। फिर भी अभी विघ्न-बाधाओ ने इन का पीछा पूरी तौर से नही छोड़ा था। परतु समय की गति ने एकाएक ऐसा पलटा खाया कि वि० स० १७७५ के भादो (ई० स० १७१८ के अगस्त) मे उस समय के मुगल-सम्राट् फर्रुखसियर को स्वय प्रबल-प्रतापी महाराजा अजितसिंह जी की सहायता की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। परतु उस की अव्यवस्थित-चित्तता के कारण शीघ्र ही महाराज का विश्वास उस पर से उठ गया, और इन्हो ने सैयद-भ्राताओ से मिल कर उस के स्थान पर रफीउद्दरजात को बादशाही तख्त पर बिठा दिया।

इस के बाद महाराजा अजितसिंह जी के कहने से नए बादशाह ने जजिया उठा कर तीर्थों पर लगनेवाला कर भी माफ कर दिया। उस समय की घटनाओ से सबध रखनेवाला मेवाड़-नरेश महाराणा सग्रामसिंह जी का एक पत्र आगे उद्धृत किया जाता है। इस से प्रकट होता है कि वे ही महाराजा अजितसिंह जी, जिन को अपने जन्म-समय मुगल-सम्राट् के कोप के कारण प्राण बचाने तक कठिन हो गए थे आगे चल कर कुछ काल के लिए मुगल बादशाह के मुख्य सहायक ही हो गए।

## पत्र की नक़ल

### ( सीधी तरफ़ )

१—स्वस्ति श्री दीली सुथाने महाराजा [धिराज महा]
२—[रा] जजी श्री महाराज श्री अजीत [सिंहजी.....
३—(उ) देपुर था राणा सग्राम सिंघ लिखावत [मुजरे]
४—वाचजो जी अठारा समाचार भला है जी रावला
५—कागद समाचार सदा कहावजोजी राजठाकु[र]
६—हो वडा हो हेत मया राखो हो तीर्थों वीसेस [रखा]
७—वजोजी यो राजरो घर है उठा अठारा [एक वा]
८—त कर जाणजोजी जुदायगी कणी बात [न]

९—लेखवोजी

१०—अप्र [च] राजरो कागद आयो तथा राजली [खोफ]

११—रुखसेर कोताअंदेसरे कहे म्हां है बुलाया था

१२—सो सैवा थी ने माथी ओरतरे वीचारी थी जणी

१३—प्रे अमीरल उमराव दीखण थी बुलावे ने...

१४—साह रफी अलदरजात तखत बैठाया नें

( उलटी तरफ़ )

१५—हिंदुस्थान रो जेजीयो छुडायो ने तीरथांरो अ—

१६—टकाव थो सो मीटायो लीख्या सो सगली हकी—

१७—कत वांच्यां थी घणी खुस्याली हुई सो राज स—

१८—रीखो अठा पेहली कोई हिंदुवां साहे........

१९—हुओ न अञुं हेगो ईश्वर ईसा मोटा.......

२०—ना घणी घणी ऊपजावे ईणी वातम........

२१—है वडो नफो हे सो ईत्रादीन तुरकां रा अ........

२२—था सो वे आपणा आसीरत हुआ........[है]

२३—कीकत लीखी सो ईवारहं हिंदुस [था] न रो बोज.......

२४—लो उणाहीज थी हे ने...पण........

२५—कर ठेठ थी जांणे हे सो आयां हे........

२६—दरकार हे ने कोता अंदेस तुरक

२७—री बात आगे ही हलकी नीजर आ [ई......वि]

२८—[ना] वीचारे काम न करेगा ने हलका [ला] गानेअ [ठा]

२९—री वात सदा राजरा घररी हे ज्युंही जांणे काम चा-

३०—करी फुरमावेगा राज करे आखा हिंदुस्था [न में]

३१—नचीता ई है म्हे तो घणा नचीता हां [घणो काई]

३२—लीखां संवत् १७७५ वर्षे वेसाख वदी ११

( सीधी तरफ आडी लकीर में महाराणा की स्वहस्त लिपि में )

१—श्री [राज] राजेश्वरजी हजुर मुजरो मालम व्हे श्री [जी] रा प्रताप

२—थी . . . [मो] टी फते कीई जणी . . . . खी लखी सो [अणीरी] वात सारा हींदुसथाने

( उलटो तरफ आड़ी लकीर में महाराणा की स्वहस्त लिपि में )

३—कलस चढयो—ईसी मोटी वात राजथीज बणें सवज . . . . . . री

४—वाते नचीता [हां] . . . . . . . . . ईलरे राज जोग है।

---

# कविवर नंददास और उन की रचनाएँ

[ लेखक—श्रीयुत बलभद्रप्रसाद मिश्र, एम्० ए० ]

## जीवनी

नंददास के छः ग्रंथ—(१) 'रासपंचाध्याई', (२) 'भंवरगीत' (३) 'अनेकार्थ-मंजरी', (४) 'नाममाला', (५) 'रुक्मिनी-मंगल', और (६) 'स्याम-सगाई'—मुद्रित रूप में मेरे देखने में आए हैं। इन में से किसी में भी कवि ने अपने संबंध में कोई उल्लेख नहीं किया है। अतः उन की जीवनी पर प्रकाश डालनेवाला कोई आंतरिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। कुछ पुराने ग्रंथों में अवश्य ही नंददास के संबंध में एक-आध उल्लेख मिलते हैं, परंतु वे भी इतने अपर्याप्त हैं कि उन के आधार पर नंददास की शृंखलाबद्ध जीवनी उपस्थित नहीं की जा सकती। ये ग्रंथ नाभादास-कृत, 'भक्तमाल', बाबा वेनी-माधवदास-कृत, 'मूल गोसाईंचरित',[1] ध्रुवदास-कृत 'भक्तनामावली', गोकुलनाथ के नाम से प्रचलित 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता',[2] तथा 'श्रीनाथ जी के प्राकट्य की वार्ता'[3] हैं।

---

[1] इस ग्रंथ की ऐतिहासिकता अत्यंत संदिग्ध है। देखिए 'हिंदुस्तानी', जुलाई १९३२, पृष्ठ २५३—२६७

[2] यह ग्रंथ गोकुलनाथ-रचित न हो कर कदाचित् सत्रहवीं शताब्दी के बाद 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुकरण पर किसी अन्य वैष्णव भक्त द्वारा लिखा हुआ जान पड़ता है। देखिए 'हिंदुस्तानी', अप्रैल १९३२, पृष्ठ १८३—१८९

[3] इस ग्रंथ की सन् १८८४ में लीथो में मुद्रित प्रति श्री धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, अध्यक्ष हिंदी-विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, को प्राप्त हुई थी। इस के संक्षिप्त परिचय के लिए देखिए 'हिंदुस्तानी', अप्रैल १९३३, पृष्ठ १०३—१०७

भक्तमाल' से नंददास की जीवन-संबंधी तीन बातें ज्ञात होती हैं (१)
पुर गाँव के रहने वाले थे। (२) यह उच्च कुल (अथवा सुकुल आस्पद
(३) इन के बड़े या छोटे भाई का नाम चंद्रहास था।[1]
मूल गोसाईंचरित' से यह पता चलता है कि (१) नंददास कान्यकुब्ज ब्रा
) इन्हों ने गोस्वामी तुलसीदास के साथ-साथ शेष सनातन से शिक्षा प्राप्त क
प्रकार ये दोनों गुरुभाई थे, और (३) तुलसीदास भ्रमण करते हुए मार्ग
जी जब वृंदावन गए तो उन्हीं दिनों वहीं पर नंददास तुलसीदास से आकर मिल
'भक्तनामावली' में नंददास का जो उल्लेख है उस में उन की कविता की प्र
रिक्त उन के जीवन-संबंधी वृत्त की कोई बात नहीं दी है। अत. उस से

---

[1] नाभादास ने 'भक्तमाल' में नंददास पर निम्न छप्पय दिया है:—

लीला पद रस रीति ग्रंथ रचना में नागर।
सरस उक्ति युत जुक्ति भक्ति रसगान उजागर॥
प्रचुर पयध लौं सुजस रामपुर ग्राम निवासी।
सकल सुकुल संवलित भक्ति पद रेनु उपासी॥
चंद्रहास अग्रज सुहृद परम प्रेम पै मै पगे।
श्रीनंददास आनंदनिधि रसिक सु प्रभु हित रंग मगे॥

(नवलकिशोर प्रेस—प्रथम संस्करण, पृ० ६७८)

इस छप्पय पर प्रियादास ने कोई टीका नहीं की है।

[2] ...............संवत् लगु उनचास।

....................
बंसीबन नाम धरयो बटरय।
मगसर सुदि पंचमी रास रचय॥
वृंदाबन में तहं ते जु गये।
सुठिराम सुघाट पै बास लये॥
....................
नंददास कनौजिया प्रेम मढ़े।
जिन सेष सनातन तीर पढ़े॥
सिच्छा गुरु बंधु भये तेहिते।
अति प्रेम सो आय मिले यहिते॥

('मूल गोसाईंचरित'—बाबा बेनीमाधवदास-कृत, पृष्ठ २८—२९, प्रथम संस
प्रेस, गोरखपुर।)

इतना ही प्रमाण प्राप्त किया जा सकता है कि नंददास ध्रुवदास के पूर्ववर्ती अथवा उन के समकालीन थे।[1]

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में नंददास के पुष्टिमार्ग में आ जाने के बाद का धार्मिक एवं भक्ति-पूर्ण वृत्तांत साम्प्रदायिक गुणगान के ढंग से लिखा गया है। इस में से नंददास के व्यक्तिगत स्वभाव तथा उन की जीवनी-संबंधी ये उल्लेख मिलते हैं—(१) श्री गुसाईं जी (विट्ठलनाथ) ने नंददास को दीक्षा दे कर अपना शिष्य बनाया, (२) पुष्टिमार्ग में आने के बाद नंददास गोवर्धन और गोकुल में रहा करते थे, (३) वे तुलसीदास के छोटे भाई थे,[2] और (४) नंददास नाच-तमाशा देखने और गाना सुनने के बड़े शौकीन तथा अत्यंत प्रेमी स्वभाव के थे।[3]

'गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' में नंददास के संबंध में यह उल्लेख मिलता है कि श्रीनाथ जी की सेविका रूप-मंजरी से नंददास की मित्रता थी और उन्हीं के लिए नंददास ने 'रूपमंजरी' नामक ग्रंथ लिखा।

---

[1] नंददास जो कछु कह्यो रागरंग में पागि।
अक्षर सरस सनेह में सुनत श्रवन उठि जागि॥
रसन सदा अदभुतहु ते करन किस (? कवित्त) सुठार।
बात प्रेम की सुनत ही छुटत नैन जलधार॥
बावर सौ रस में फिरै खोजत नेह की बात।
अच्छे रस के वचन सुनि बेगि बिवस ह्वै जात॥

(भारतजीवन प्रेस, काशी से प्रकाशित 'ध्रुवसर्वस्व' के पृष्ठ १९५ पर दिए हुए 'भक्तनामावली' के दोहे नं० ७७–७९)

ध्रुवदास ने अपने 'रहस्यमंजरी' ग्रंथ का रचना-काल इस प्रकार दिया है—

सत्रह सै ह्वै ऊन अरु, अगहन पाछि उंजियारि।
दोहा चौपाई कही, ध्रुव इक सत परि चारि॥
('ध्रुवसर्वस्व'—भारतजीवन प्रेस, पृ० ८४)

[2] 'वार्ता' में दिया हुआ नंददास-संबंधी प्रायः समस्त वृत्तांत ऐसे स्पष्ट संकेतों से भरा पड़ा है, जिन से यह ध्वनि निकलती है कि वार्ताकार का तात्पर्य 'मानस' के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास से है न कि 'किसी' तुलसीदास से जैसा कि मिश्रबंधुओं ने अपने 'विनोद' में माना है।

[3] नंददास की वार्ता 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के डाकोर-वाले संस्करण से श्री धीरेंद्र वर्मा द्वारा 'अष्टछाप' के नाम से संकलित, रामनारायण लाल, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित ग्रंथ, पृष्ठ ९४–१०३; अथवा 'वार्ता' का डाकोरवाला संस्करण, पृष्ठ २८–३५

इन ग्रंथो के अतिरिक्त गार्सां द तासी-कृत इस्त्वार दे ला लितेरात्यूर हेंदुए हेंदुस्तानी',[1] ठाकुर शिवसिंह के 'सरोज', डा० ग्रियर्सन-कृत 'माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर अव् हिंदुस्तान' तथा मिश्रबंधुओं के 'विनोद' आदि हिंदी साहित्य के इतिहास की कोटि के ग्रंथो मे भी नंददास की जीवनी अथवा उन के समय के संबंध मे कोई विशेष ज्ञातव्य बात नही दी गई है। साहित्यिक परंपरा और किंवदंतियो के आधार पर 'सरोज' 'वर्नाक्युलर लिटरेचर अव् हिंदुस्तान' और 'विनोद' मे नंददास गोसाई विट्ठलनाथ द्वारा स्थापित 'अष्टछाप'[2] मे से एक बतलाए गए है।

सं० १९९० मे 'सुकवि-सरोज' नामक एक ग्रंथ प्रकाशित हुआ है।[3] इस मे सनाढ्य जाति के साहित्य-सेवियो का परिचय और उन की कविता के उदाहरण दिए है। ग्रंथकार ने 'स्वर्गीय श्री पं० गोस्वामी तुलसीदास जी शुक्ल' ('रामचरितमानस' के रचयिता) तथा 'स्वर्गीय श्री पं० नंददास जी शुक्ल' दोनो को ही सनाढ्य जाति का मान कर[4] इन का परिचय भी दिया है। इस ग्रंथ मे 'दो सौ बावन वार्ता' का यह कथन प्रामाणिक माना गया है कि तुलसीदास और नंददास भाई-भाई थे और उसी की पुष्टि की गई है। इसी मुख्य आधार पर तुलसीदास सनाढ्य माने गए है।

---

[1] इस ग्रंथ की रचना एक फ्रेंच विद्वान ने अपनी मातृभाषा में 'सरोज' से भी ३८ वर्ष पूर्व की थी और यह हिंदी साहित्य के इतिहास के वर्ग का सर्व-प्रथम ग्रंथ है। इस का प्रथम संस्करण सन् १८३९ तथा द्वितीय संस्करण सन् १८७१ में प्रकाशित हुआ था। इस मे हिंदुस्तानी (हिंदी व उर्दू दोनों) कवियो तथा उन के ग्रंथों का 'सरोज' के ढंग का परिचय दिया हुआ है।

[2] गोसाई जी (विट्ठलनाथ) द्वारा 'अष्टछाप' की स्थापना का तत्कालीन उल्लेख सूरदास के एक पद में इस प्रकार मिलता है:—

'श्री गुसाईं करी मेरी आठ मध्ये छाप ॥'

('दृष्टिकूट', पद नं० ११०, नवलकिशोर प्रेस, पाँचवाँ संस्करण, पृष्ठ ८९)

[3] संपादक पं० गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर' और प्रकाशक सनाढ्यादर्श ग्रंथमाला टीकमगढ़, बुंदेलखंड।

[4] इस ग्रंथ में 'दो सौ बावन वार्ता' से जो उद्धरण दिए है, उन में नंददास के सनाढ्य होने का उल्लेख है—'तब एक वैष्णव ने तुलसीदास सो कही, जो एक सनौडिया (सनाढ्य) ब्राह्मण है, सो ताको नाम नंददास है, सो वह पढ्यौ बहुत है।' परंतु 'वार्ता' के एकमात्र प्राप्त डाकोरवाले संस्करण में तो नंददास के संबंध में यह वाक्य कहीं भी नहीं मिलता। (देखिए श्री धीरेंद्र वर्मा-संकलित 'अष्टछाप', पृष्ठ ९४–१०३)

इस ग्रंथ के अनुसार—(१) नंददास का जन्म सं० १५९४ के लगभग[1] सोरो जिला एटा के निकट रामपुर नगर में हुआ था। नंददास के पिता रामपुर से हट कर सोरो के योगमार्ग मोहल्ले में रहने लगे। बाद में नंददास ने धन-संपन्न हो कर रामपुर को फिर से हस्तगत किया और उस का नाम बदल कर रामपुर से श्यामपुर किया।[2] (२) नंददास के पुत्र का नाम कृष्णदास था और वे अपने चाचा गोस्वामी तुलसीदास को लिवाने राजापुर गए किंतु वे नहीं आए, और (३) नंददास जी के वंशजों का सं० १८९० तक पता लगता है।[3]

अस्तु, नंददास की जीवन-संबंधी जो सामग्री प्राप्त है उस का तथा उस के आधारों का परिचय ऊपर दिया जा चुका है। अब इस विवेचना की आवश्यकता है कि दी हुई बातों में से कौन-कौन सी प्रामाणिक और ग्राह्य हैं। यह संकेत पहले ही किया जा चुका है कि 'मूल गोसाईंचरित' की ऐतिहासिकता संदिग्ध है, अतः उस का अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' के संबंध में विद्वानों ने जो प्रकाश डाला है उसे देखते हुए इस ग्रंथ की नंददास-संबंधी इतनी ही बात प्रमाण की कोटि तक पहुँचती है कि नंददास विट्ठलनाथ के शिष्य थे और पुष्टिमार्गी हो जाने पर वे गोवर्धन और गोकुल में रहा करते थे। 'भक्तमाल' की प्रामाणिकता पर संदेह करने का अभी तक कोई कारण नहीं जान पड़ता है। इस के साथ ही नंददास के समकालीन होने के कारण इस ग्रंथ के उल्लेख अपेक्षाकृत अधिक मूल्यवान हैं। साहित्यिक परंपरा के आधार पर साहित्य के इतिहास के लेखकों की यह बात भी मानने योग्य है कि नंददास अष्टछाप के कवियों में से एक हैं। 'सुकविसरोज' में नंददास के जन्म की तिथि और उन के जीवन-संबंधी जो विस्तारपूर्ण उल्लेख हैं वे केवल पुस्तक में उपस्थित विवरणों के आधार पर ही साहित्यिक खोज की दृष्टि से माननीय नहीं हैं।

इस प्रकार नंददास की जीवनी के बारे में इस समय निर्विवाद रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि वे विट्ठलनाथ के शिष्य, पुष्टिमार्गी भक्त, और उन के द्वारा स्थापित

[1] 'सुकविसरोज' (द्वितीय भाग), पृ० ३५
[2] वही, पृ० ९
[3] वही, पृ० १२

अष्टछाप के एक सदस्य थे वे रामपुर गाँव के रहनेवाले उच्च कुल अथवा शुक्ल आस्पद के थे, और उन के भाई का नाम चंद्रहास था। पुष्टिमार्गी हो जाने पर वे गोवर्धन और गोकुल में रहते थे और श्रीनाथ जी की सेवा किया करते थे। उन की सेविका रूपमजरी से नददास की मित्रता थी। गोसाई विट्ठलनाथ (१५१५–१५८५ ई०) के शिष्य और सूरदास (१४८३–१५६३ ई०) के समकालीन[1] होने की बात को ध्यान मे रख कर नंददास के समय के सबंध मे प्रामाणिक रूप से केवल यही कहा जा सकता है कि वे ईसा की सोलहवी शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान रहे होंगे।

## रचनाएँ

नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा कराई गई हस्त-लिखित ग्रथो सबधी खोज की रिपोर्टो से नददास द्वारा रचित निम्न १५ ग्रथो का पता लगता है :—

( १ ) 'अनेकार्थ मजरी'[2];

( २ ) 'नाममाला'[3];

( ३ ) 'नासिकेतपुराण भाषा'[4];

( ४ ) 'दशमस्कंध'[5];

( ५ ) 'पचाध्याई'[6];

( ६ ) 'भँवरगीत'[7],

---

[1] सूरदास भी 'अष्टछाप' के एक सदस्य माने जाते है। इस प्रकार नंददास कुछ समय तक सूरदास के समकालीन अवश्य रहे।

[2] खो० रि० सन् १९०२, नं० ५८; सन् १९०३, पृ० ८९; सन् १९०९–११, पृ० २९८; सन् १९२०–२२, पृ० ३१९ व ३२०

[3] खो० रि० सन् १९०३, पृ० ८९; सन् १९०९–११, पृ० २९७; सन् १९१७–१९, पृ० २६२; सन् १९२०–२२, पृ० ३१६–३१८ तथा ३१९

[4] खो० रि० सन् १९०९–११, पृ० २९७

[5] खो० रि० सन् १९०१, पृ० १७

[6] खो० रि० सन् १९०१, पृ० ५९; सन् १९०६–८, पृ० ३१२; सन् १९१७–१९, पृ० २६३

[7] खो० रि० सन् १९२०–२२, पृ० ३२१

(७) 'भागवत'[1];

(८) 'मानमंजरी'[2];

(९) 'रसमंजरी'[3],

(१०) 'रूपमंजरी'[4],

(११) 'विरहमंजरी'[5],

(१२) 'नाम-चिंतामणिमाला'[6];

(१३) 'जोगलीला'[7],

(१४) 'श्यामसगाई'[8]; और

(१५) 'रुक्मिनीमंगल'[9]।

गार्सां द तासी ने अपने ग्रंथ में नंददास के चौदह ग्रंथों के नाम और विवरण दिए हैं। इन में से दस तो खोज-रिपोर्टोंवाले १,२,४,५,६,८,९,१०,१३, व १५ नं० के ग्रंथ हैं। जिन ४ और नए ग्रंथों का उल्लेख द तासी ने किया है उन के नाम निम्न हैं —

(१) 'सुदामाचरित्र',

(२) 'प्रबोध-चंद्रोदय नाटक',

(३) 'गोवर्धनलीला',

(४) 'रासमंजरी'।

खोज के ग्रंथ नं० ३,७,११,१२ व १४ के नाम उस की पुस्तक में मौजूद नहीं हैं।[10]

---

[1] खो० रि० सन् १९०६–८, पृ० ३१२
[2] खो० रि० सन् १९०२, नं० २०९; सन् १९०९–११, पृ० २९८
[3] खो० रि० सन् १९०९–११, पृ० २९९
[4] खो० रि० सन् १९०६–८, पृ० ३०१
[5] खो० रि० सन् १९०९–११, पृ० २९९
[6] खो० रि० सन् १९०६–८, पृ० ३१२
[7] खो० रि० सन् १९०६–८, पृ० ३१२
[8] खो० रि० सन् १९०६–८, पृ० ३१२
[9] खो० रि० सन् १९१२–१४, पृ० १५२
[10] द तासी ने 'रासपंचाध्याई' के मदनपाल-द्वारा संपादित और कलकत्ते में बाबू-राय के यंत्रालय में मुद्रित एक संस्करण को देखा था। इस में ५४ पृष्ठ थे। इसी प्रकार

ठाकुर शिवसिंह न 'सरोज में नददास के ७ ग्रथो के नाम दिए हं इन म से ऊपर कहे गए ग्रथो के अतिरिक्त 'दानलीला' और 'मानलीला' नामक दो नए ग्रथो के नाम मिलते है।[१] इसी प्रकार 'मिश्रबधुविनोद' मे भी नददास के दो अन्य ग्रथो का उल्लेख है। इन के नाम 'ज्ञानमंजरी' और 'विज्ञानार्थ-प्रकाशिका' है। 'विज्ञानार्थ-प्रकाशिका' सस्कृत ग्रथ की व्रजभाषा टीका बतलाई गई है।[२] 'सुकविसरोज' के सपादक ने नंददास के एक और नवीन ग्रथ 'हितोपदेश' का उल्लेख किया है।[३]

इस प्रकार कुल मिला कर नददास रचित २४ ग्रंथो का पता चलता है।[४] इन मे से छ ग्रथ मुद्रित हो चुके है। 'अनेकार्थमजरी', 'नाममाला', 'रासपचाध्याई', और 'भंवर-गीत' नामक चार ग्रथ तो पुस्तक के रूप में प्राप्त हैं, किंतु 'रुक्मिनी-मंगल'[५] और 'स्याम सगाई'[६] मुद्रित तो हुए है परतु पुस्तक के रूप मे प्राप्त नही है।

---

'अनेकार्थमंजरी' और 'नाममाला' के दो संस्करणो को उन्हों ने स्वयं देखा था। इन का एक संस्करण खिदिरपुर से सन् १८१४ में संयुक्त-रूप से प्रकाशित हुआ था और दूसरा हीराचंद-द्वारा सपादित 'ब्रजभाषा-काव्य संग्रह' के अंतर्गत बंबई से सन् १८६५ में प्रकाशित हुआ था। इन तीनो ग्रथो तथा शेष अन्य ११ ग्रंथों को द तासी ने एक साथ संगृहीत रूप में डाक्टर स्प्रेंजर के पुस्तकालय में देखा था। समस्त चौदह ग्रंथों का यह संग्रह ५७६ पृष्ठों में समाप्त हुआ था, और इसे करीमुद्दीन ने संगृहीत किया था। देखिए 'इस्त्वार दे ला लितेरात्यूर हेंदुए हेंदुस्तानी,' द्वितीय संस्करण, भाग २, पृष्ठ ४४५–४४७

[१] 'शिवसिंहसरोज' (सातवाँ संस्करण, सन् १९२६), नवलकिशोर प्रेस, पृ० ४४३

[२] 'मिश्रबंधुविनोद,' द्वितीय संस्करण, सं०, १९८३, भाग १, पृ० २४८ व २४९

[३] 'सुकविसरोज', भाग २, पृ० ३७

[४] इन में से १९ ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियों को श्री जवाहरलाल चौबे कुँआवाली गली, मथुरा ने संग्रह किया है। इन के नाम इस प्रकार हैं:—

(१) 'भागवत'; (२) 'रासपंचाध्याई,' (३) 'भँवरगीत', (४) 'रुक्मिनी-मंगल' (५) 'दानलीला', (६) 'मानलीला', (७) 'रसमंजरी', (८) 'रूपमजरी', (९) 'विरहमंजरी', (१०) 'नाममंजरी', (११) 'ज्ञानमंजरी', (१२) 'नामचिंता-मणिमाला', (१३) 'अनेकार्थ', (१४) 'नाममाला', (१५) 'स्यामसगाई', (१६) 'हितोपदेश', (१७) 'नासिकेतपुराण' (गद्य ग्रंथ) (देखिए 'माधुरी', वर्ष ८, भाग २, संख्या ५, पृ० ६३४), (१८) 'सुदामाचरित्र' तथा (१९) 'पदावली' (देखिए—'विशालभारत', दिसंबर सन् १९३१ पृ० ७३०)

[५] 'विशाल-भारत', जनवरी सन् १९२९, पृ० १२६–१३०

[६] वही, दिसंबर सन् १९३१, पृ० ६५४–६५६

ऊपर दिए गए ग्रंथो के अतिरिक्त नंददास द्वारा रस तथा रीति-ग्रंथ लिखने तथा कृष्णलीला-संबंधी फुटकर पदों[1] की एवं कवित्तो[2] की रचना करने का उल्लेख मिलता है, परंतु वे न तो इस समय उपलब्ध है और न उन का पता चलता है। नवंबर सन् १९३० में, नंददास के ग्रंथों की खोज में मैं ने मथुरा-वृंदावन की यात्रा की थी। उसी समय मथुरा के गोकुलनाथ जी के मंदिर में मैं ने 'वर्षोत्सव के कीर्तन' नाम का एक पुराना संग्रह-ग्रंथ देखा था।[3] इस मे पुष्टिमार्ग मे मनाए जानेवाले साल भर के उत्सवों के संबंध मे विविध कवियो के पदो का संग्रह है। इस मे नंददास के कृष्णलीला-संबंधी अनेक पद मुझे दिखाई दिए।[4] इस के अतिरिक्त इस मे नंददास-कृत एक पद मुझे रामचरित-संबंधी भी दिखाई दिया। उस का आदि और अंत इस प्रकार दिया हुआ है—

आदि—

राग मारू ॥ जब कूधो हनुमान उदधि जानकी सुधि लेन को।

---

[1] 'लीलापद रस-रीति-ग्रंथ-रचना में नागर' (नाभादास, 'भक्तमाल', पृ० ६७८ प्रथम संस्करण, नवलकिशोर प्रेस)

[2] 'रमन सदा अदभुतहुते, करन कवित्त सुठार।' (ध्रुवसर्वस्व', पृ० १९५, दोहा नं० ७८, भारतजीवन प्रेस)

[3] पत्र सं० ३५९; प्रति पृष्ठ २४ पंक्ति: आकार १२″ × ९″; नागरी लिपि; छोटे अक्षर। आरंभ का एक पत्र नहीं है।

[4] इसी यात्रा मे मुझे श्री जवाहरलाल चौबे कुँआवाली गली, मथुरा, के यहाँ इसी प्रकार का एक और संग्रह-ग्रंथ दिखलाई पड़ा। नंददास का एक पद इस में से उदाहरण-स्वरूप यहाँ दिया जाता है:—

नंददास को पद ॥ राग जे जें वंती ॥
माई आज गोकुल ग्राम कैसो रह्यो फूलि कें ॥
ग्रह फूले दीसें अति संपति समूल कें ॥१॥
फूली फूली बरषा होत झर लायो भूमि कें ॥
फूली घटा आई घर हर घूमि कें ॥२॥
फूलो फूल्यो पुत्र देंष लीयों उर लूमि कें ॥
फूली हें जसोदा माय ढोटा मुख चूमि कें ॥३॥
देवता अगिनित फूलें धृत षाड़ होमि कें ॥
. . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . .
मालिन बांधें बंदनमाला घर घर डोलि कें ॥
पाटंबर पहरायें अधिक अमोल कें ॥५॥
फूलें हें भंडार सब द्वारें दीयें षोलि कें ॥
नंद दान देत फूलें नंददास बोलि कें ॥६॥

अंत

श्री रामचंद्र पद प्रताप जग में जस आको ।।
नंददास सुरनर मुनि केशिक भूले ताको ।।[1]

बहुत संभव है कि नंददास के जिन चौबीस ग्रंथों का उल्लेख ऊपर किया गया है, उन में से दो एक किसी अन्य कवि की रचना हों, और वे भ्रमवश नंददास के मान लिए गए हों। गार्सां द तासी द्वारा उल्लिखित 'प्रबोध-चंद्रोदय नाटक' कदाचित् नंददास-कृत न होगा क्योंकि इस नाम का नाटक नेवाज कवि के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरी संभावना यह भी है कि एक ही ग्रंथ की गणना विभिन्न नामों से दो बार हो गई हो। इन ग्रंथों में से कुछ विशेष महत्व रखते हैं। प्रकाशित ग्रंथों में सब से प्रसिद्ध तथा उत्कृष्ट 'रासपंचाध्याई' और 'भँवरगीत' हैं। अप्रकाशित ग्रंथों में 'नासिकेतपुराण' ब्रजभाषा गद्य में होने के कारण विशेष उल्लेखनीय है और 'विज्ञानार्थ-प्रकाशिका' भी संस्कृत ग्रंथ की ब्रजभाषा टीका है। 'अनेकार्थमंजरी' और 'नाममाला' की विशेषता यह है कि ये हिंदी साहित्य में सर्व-प्रथम कोष-ग्रंथ हैं। इस से पूर्व केवल खुसरो की 'खालिकबारी' को ही हम इस कोटि में गिन सकते हैं। वैसे तो अधिकांश ग्रंथों का विषय भागवत में वर्णित कृष्ण और गोपियों का संयोगात्मक एवं वियोगात्मक शृंगार तथा कृष्णचरित्र से ही संबंध रखनेवाले कुछ अन्य प्रसंग हैं। सभी ग्रंथ आकार-प्रकार में छोटे जान पड़ते हैं। नंददास ने 'रास-पंचाध्याई'[2] तथा 'दशमस्कंध भागवत'[3] में इस बात का संकेत किया है कि वे अपने इन

---

[1] राम-संबंधी इस पद से किसी हद तक '२५२ वार्ता' के इस कथन की पुष्टि होती है कि नंददास ने समस्त भागवत का भाषा में उल्था करने का विचार किया, किंतु ब्राह्मणों द्वारा इस के विरुद्ध विट्ठलनाथ जी से विनती किए जाने पर उन की आज्ञानुसार नंददास ने इस विचार को त्याग दिया। (देखिए 'अष्टछाप', श्री धीरेंद्र वर्मा-संकलित, पृष्ठ ९९)

[2] परम रसिक इक मित्र मोहि तिन आज्ञा दीनी।
ताही ते यह कथा यथा मति भाषा कीनी ।।२०।।
('रासपंचाध्याई', पृ० २, छंद २० बालमुकुंद गुप्त-द्वारा संपादित, भारतमित्र प्रेस से १९०४ में प्रकाशित संस्करण)

[3] श्री जवाहरलाल चौबे, मथुरा के यहाँ 'दशमस्कंध भाषा' नाम का हस्तलिखित ग्रंथ मैंने देखा था। इस की पत्र सं० १८७ है और प्रति पृष्ठ में १५ पंक्तियाँ हैं। आकार

ग्रंथों की रचना अपने एक रसिक मित्र के आदेशानुसार उन के पढ़ने के लिए कर रहे हैं।[1] कथा की दृष्टि में नंददास के ग्रंथ मौलिक न ठहरेंगे, यद्यपि काव्य-व्यंजना और कल्पनाएँ नंददास की निजी हैं। ग्रंथों की भाषा संस्कृत को पुट लिए हुए विशुद्ध व्रजभाषा है। और उस में एक विशेष प्रकार की सरलता और माधुर्य है। नंददास ने वैसे तो पदों के अतिरिक्त अधिकतर दोहा, चौपाई और रोला छंदों का प्रयोग किया है परंतु उन का विशेष छंद रोला ही है और उस के लिखने में वे खास तौर से सफल हुए हैं। नंददास की कविता में शब्दों का चुनाव और उन का एक दूसरे के साथ पिरोना इस कला में उन का अत्यंत प्रवीण होना बतलाता है। शब्दों के सहारे वे उपस्थित विषय का सजीव चित्र खड़ा कर देते हैं। काव्य की सरलता उस की लय, प्रवाह, और माधुर्य को देखते हुए वे वास्तव में हिंदी साहित्य के जयदेव हैं।

---

१२″×६″। ग्रंथ एकोनत्रिंश अध्याय तक ही है। इस की प्रारंभिक पंक्तियों में इन 'रसिक मित्र' का उल्लेख इस प्रकार है।

परम बिचित्र मित्र इक रहै।<br>
कृस्न चरित्र सुन्यौ सो चहै॥<br>
तिन कह्यौ दशम स्कंध जु आहि।<br>
भाषा करि कछु बरनहु ताहि॥<br>
सब्द संस्कृत के हैं जैसे।<br>
मो पै समझि परैं नाहि तैसे॥

[1] बहुत संभव है कि नंददास के ये 'रसिक मित्र' श्रीनाथ जी की सेविका रूपमंजरी ही हों जिन के संबंध में 'श्रीनाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' में यह कहा गया है कि वे नंददास की मित्र थीं, और उन के नाम से नंददास ने अपने 'रूपमंजरी' नामक ग्रंथ की रचना की।

# चित्रकार "कवि" मोलाराम की चित्रकला और कविता

[ लेखक--श्रीयुत मुकंदीलाल, बी० ए० (आक्सन), बैरिस्टर-एट्-ला ]

[ २९ ]

## अजबराम का विद्रोह

मंत्रियों का आतंक और विद्रोह जयकृत शाह के भाग्य में लिखा था। डोभाल (कृपाराम) और खंडूड़ी (नित्यानंद) के षड्यत्रो से पीछा छुटा तो घमंडसिह और अजबराम नेगी की घनिष्टता हुई। जयकृत शाह के सिर पर राज्य का भार बाल्यावस्था ही मे पडने से मंत्रिगण राज्य-शक्ति को अपने हाथ में रखना चाहते थे, मोलाराम इस रगमच पर बैठ कर खूब तमाशा देखता और समय-समय पर अपने सत्परामर्श से इन राजसत्ता के प्यासे मंत्रि-दलो की सहायता करता। गढनरेश जयकृत शाह को कई बार मोलाराम ने इन दुष्टो के हाथो से बचाया। गढ़वाल मे कृपाराम और नित्यानद के प्रभुत्व के बाद घमंडसिह का आधिपत्य हुआ। अजबराम तटस्थ हो गया। किंतु वह राज्य के बाहर तटस्थ भाव दिखा कर, जयकृत शाह पर आक्रमण की तैयारी कर रहा था।

**मंत्रियों के षड्यंत्र**

अजबराम की श्रीनगर पर चढाई

**अजबराम श्रीनगरहि आये।**
**घमंडसिह बाहरहि रहाये॥**
**डेरा कियो उफल्डा मांही।**
**बांध मोरचा बैठ्यो तांही॥**

**अजबराम ने सहर दबायो।**
**सब फौज ले संग मांहि आयो ॥**

उफल्डा पुराने श्रीनगर से पश्चिम दिशा में प्राय एक मील पर है। वहाँ अजबसिंह ने अपना मोर्चा बाँधा। इधर राजा जयकृत शाह की सेना ने राजधानी (श्रीनगर) को सुरक्षित कर लिया।

जयकृत शाह के सेनापति घमंडसिंह की सेना के—

**बोक्षा बागहि बलिया बैठे।**
**केवल गद्दी संग इकैठे ॥**
**ढुमकी लछमण जाइ दबाई।**
**घमंडसिंह के सौंही जाई ॥**
**बिजैराम हरबंस हवेली।**
**और फौज सब आगे पेली ॥**

इस तरह अजबसिंह और जयकृत शाह के सेना-नायक घमंडसिंह की सेना का सामना हुआ।

**वार पार से तुपकें चटकी।**
**मानों दामिनि घन सौं मटकी ॥**
**तीन पहर निसि ही बिताई।**
**घमंडसिंह फिर दियो भजाई ॥**

घमंडसिंह के परास्त होने का समाचार देहरादून में केदारसिंह को मिला। वह अजबराम के भय से भाग गया। अब अजबराम के लिए मैदान साफ़ हो गया।

**अजबराम ने तब हमें, लीन्यो पास बुलाय।**
**श्रीबिलास नौटथाल हम, दिये डोभाल मिलाय ॥**
**अजबराम नेगी तब कह्यो।**
**हमहुँ तुमारो बदलो लयो ॥**

अजबराम ने मोलाराम से कहा अब मुझे राजा से मिला दो और राजा से कहो कि मैं उस की सेवा करने को तैयार हूँ। मोलाराम ने राजा से अजबराम का संदेश कहा।

**अजबराम का जयकृत शाह को संदेश**

तुमसों छीन घनडा लीने।
हम इह सौंप आफ पै दीने।।
इनकी हमरी करो सहाई।
अजबराम इह अरज पठाई।।

यह सुन कर जयकृत शाह प्रसन्न हुआ और अजबराम को सवेरे दरबार में आने को कहा। जयकृत शाह ने दरबार में अजबराम के स्वागत की तैयारी की।

मजलस मैं सब मंत्रि बुलाये।
गोलदार सब ही संग आये।।
सकल सिपाह को मुजरा लीन्यो।
सब ने आन सलामहि कीन्यो।।

जयकृत शाह ने अजबराम और उस के सहकारी विद्रोहियों को क्षमा प्रदान की। राज्य-कार्य चलने लगा। किंतु सिपाहियों की तनख्वाह राजा पूरी न दे सका. सिपाहियों में असंतोष फैला। इस असंतोष से अजबराम ने लाभ उठाना चाहा।

अजबराम का दूसरा विद्रोह

अजबराम लालच मँहि आये।
गोलदार सबहीं बहकाये।।
सब सिपाह ने जोरा कीना।
बनु गद्दी का घेरा दीना।।
अजबराम तब लयो बुलाई।
महाराम कौंसल ठहराई।।

राजा ने कहा अजबराम तुम हमारे पुराने नौकर हो। अब ऐसी तदबीर करो--

जासों राज रहे सो कीजे।
जुगत जगत सों सब को दीजे।।
अजबराम नेगी कह्यो, हमको देहु सलाण।[1]
सवालाख हमरी तलब, तब होवे दरम्यान।।

[1] सलाण वर्तमान लैन्सडौन सब-डिविजन अर्थात् गढ़वाल जिले का वह हिस्सा है जो देश अर्थात् जिला बिजनौर, देहरादून, और सहारनपुर से मिला है।

दो तलब हमारी।
औ सलाण की फौजहिदारी॥

महाराज ने कहा तुम को हम देहरादून का फौजदार बना कर वहाँ भेजते हैं।

करो दूण की तुम फौजदारी।
इह सलाण तो हैं सरकारी॥
याके दाम सिरकारहि आवें।
राजा राणी सबही पावें॥
कछु भंडार कछु खाहि खवासनि।
कछु बस्तर हीं आसन बासनि॥
इह मरजादा है चलि आई।
हमसों इह मेटी नहिं जाई॥
घमंडसिंह केदारसिंह, तुमहूँ दिये निकाल।
तिनकी खायल[1] मैं तुमैं, हमहूं करैं बहाल॥
चालिस कोस की दून हमारी।
सो हम करैं सपुरद तुमारी॥
पुस्तांपुस्त लौं बैठे खावो।
दुसमन बढ़े तो मार हटावो॥

अजबराम इस पर राजी न हुआ और घर जाकर राजा के विरुद्ध षड्यंत्र रचने लगा। उस ने किश्नू बुटोला द्वारा कुँवर पराक्रम को लिख भेजा कि—

तुमको हमहूँ राज बैठावें।
जो सलाण जागीरहि पावें॥

कुँवर पराक्रम इस पर राजी हो गया और सलाण की जागीर का पट्टा अजबराम के नाम लिख कर किश्नू बुटोला के हाथ भेज दिया।

अजबराम फौज लेकर दरबार में आया और उस ने कहा—

---

[1] जागीर।

तीन दिवस के बीच महि, तलब देहु निबटाय ।
जो तुम अब चेतो नहीं, राज उलट हो जाय ॥
महाराज सुनि सोच मंहि आये ।
श्रीबिलास भवानंद बुलाये ॥

जयकृत शाह ने उन को अजबराम के विद्रोह का हाल सुनाया। सुन कर श्री-बिलास और भवानंद घबरा गए और राजा को—

राजा के प्रति मोला-राम की सेवा और सहायता

प्रति उत्तर कछु देन न आये ।
हमको तबही पास बुलाये ॥
पास बुलाइ हमे फरमायो ।
कठन महा इह कालहि आयो ॥
अजबराम बिपरीत ठैराई ।
राज लेन को बाढ्यो आई ॥

अजबराम के डर के मारे—

मंत्री बाहर निकसत नाहीं ।
निकसे कोइ तो पकड़े बाहीं ॥
तीन दिवस आयुर्बल हमरी ।
यामें अकल चलें कछु तुमरी ॥
तो हमको कछु मंत्र बताओ ।
अबके हमरो राज बचाओ ॥

राजा के करुणामय बचन सुन कर मोलाराम ने कहा—

धीरज धरे विपत्त मंहि, छिमा हि संपद मांहि ।
मोलराम अरजी करै, ता सम दूजो नांहि ॥
तीन दिवस जुगती नंहि जानो ।
महाराज तुम भय मत मानों ॥
आमल दोय घड़ी को भारी ।
उलट पुलट करि डारे सारी ॥

आजहि रात सब काज बनावें।
धींग पै धींग दूसरा लाव॥
जान बचे तो माल बहुतेरो।
हमरे कहे सो माल बखेरो॥
दस हजार की थैली आवे।
तो सब आपस माहि भिड़ावे॥

जयकृत शाह ने दस हजार रुपया मँगवा कर मोलाराम के सिपुर्द कर दिया। मोलाराम ने राज्य उच्चाधिकारी, दीवान, सेनापति और लेखवार को अपने पास बुलाया। उन से कहा तुम सिपाहियों को समझाओ कि सब का वेतन दिया जावेगा। उक्त राज-कर्मचारियो ने—

उनहूँ जाय गुलदार समझाये।
आधीरात गुलदार ले आये॥
दस हजार हम तिनको दीने।
बातन सैं परसन्नहि कीने॥
कमर बँधाय गुपत हि लाये।
महल नृपति के आन बैठाये॥
चार तरफ मजबूती कीनी।
अजबराम तब पाछे चीनी॥

मोलाराम ने बागी सेना को अपनी तरफ कर के चारो तरफ से राजधानी (श्रीनगर) को सुरक्षित कर लिया। अजबराम और बिजैराम घबरा कर राजा की शरण आए। जयकृत शाह ने अजबराम से कहा हम को तुम्हारी निमकहरामी पसद नही—

**अजबराम की हार**

तुम सलाण फौजदारी चाहो।
पाछे पाछे राज दबाओ॥
अपनी तलब ले हमको काढ़ो।
ऐसो तुमको गरब ही बाढ़ो॥

यह सुन कर अजबराम और बिजैराम दोनों भयभीत हो कर आधी रात में भाग गए। और धनु गदी को भी अपने साथ ले गए। जो राजविद्रोही सैनिक श्रीनगर में रह गए थे वे मरवा दिए गए। और

राज करन महाराजहि लागे।
केवल बलिया रहे जो आगे॥
नेगी सोभनसिंह सिंहारे।
उच्छवसिंह दिवानहि मारे॥
भवानंद औ श्रीविलास हि।
सर्वोपै भये मंत्री खास हि॥

कुछ समय के बाद ये दोनो मत्री भवानद और श्रीविलास घमंडी हो गए और राजा के आज्ञाकारी नही रहे। राजा ने उन को भी निकाल दिया। यह समाचार सुन कर अजबराम ने फिर से श्रीनगर पर आक्रमण किया। अजवराम ने घमडसिह को भी अपनी तरफ कर लिया। दोनो ने मिल कर राजा को दबा लिया। अब राजा के पास कोई बलवान मत्री नही रहा। जयकृत शाह को विवश हो कर अजबराम और घमडसिह को अपनाना पड़ा। अजबराम—

**अजबराम का तृतीय आक्रमण**

फौज ले फिर गढ़ माँह आये।
घमंडसिह ही फेरि बुलाये॥
महाराज ही जपत जो कीन्ही।
अपने गांउ ठांव सब लीनी॥
अजबराम फौजदार बनाये।
घमंडसिह मुखतार कहाये॥
बिजेराम गुलदारी लीनी।

. . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . .

मुलक बाँटि सबही ने लीना।
जैकृतसाह को काबू कीना॥

अजबराम का आतक

बस्तर भोजन बठ खावे
हुकम चलावन कछू न पावें ॥

अजबराम ने जयकृत शाह को इस तरह एक प्रकार से अपना कैदी बना लिया था। राज्य-शक्ति अपने हाथ मे ले ली थी। जयकृत शाह ने चाहा कि वह अपने पडोसी सिरमौर (नाहन) के राजा की सहायता से अजबराम को परास्त करे। इस लिए जयकृत शाह ने फिर मोलाराम की शरण ली। राजा मोलाराम के पास उस की चित्रशाला में स्वय आया।

[ ३० ]

## सिरमोर के राजा जयप्रकाश की सहायता

मोलाराम की चित्रशाला मे जा कर जयकृत शाह उस की सहायता माँगता है—

महाराज अति दुखित भयो।
चित्रसाल माँहि हमको कह्यो ॥
मोलाराम काम तजि जावो।
चित्रसाल नाहक हि बनावो ॥
चित्रसाल लिखि तुम क्या पायो।
हमको दुष्टन आन दबायो ॥
याको कुछ उदिम ठहरावो।
हमरी अपनी जान बचाओ ॥

तब हमहूँ बिनती करी, महाराज सुन लेहु।
हम उदिम याको करें, जो तुम आज्ञा देहु ॥

हुकम होय तो नाहण जावें।
राजा सहित फौज ले आवें ॥
महाराज तब यह फरमाईं।
तुम मत छाड़ो हमरें ताहीं ॥

नाहन को घनिराम पठावै।
तुम जो कही ताहि सिखलावै ॥
याही सभा को छंद बनावो।
अक्कलबरिसौं ताहि बुलावो ॥
तब हम कीन्यो इहै सवैया ॥
लगे तीर नहिं लगे रुपैया ॥

मोलाराम ने पद्य में नाहण के राजा के पास जयकृत शाह की विज्ञप्ति भेजी।

**जगत प्रकाश से जयकृत शाह की विज्ञप्ति**

मोलाराम ने इसी विषय पर एक चित्र बना कर सिरमौर के राजा जगत प्रकाश के पास धनीराम के हाथ भेजा। जयकृत शाह की ओर से मोलाराम ने राजा जगत प्रकाश के लिए लिखा—

जगप्रकास तुम भानुसम, हमहूं तम किय ग्रास।
ग्राह गह्यो ज्यों गजहि कौं, धर्मडसिह दिय त्रास ॥

सूर पै सूर सावंत सावंत पै,
भीर मैं वीर पै वीर पधारैं।
साह को साह विसाह करै,
जो गिरै वह काम सौं फेर सुधारैं ॥
रीत सबैं अपने कुल की,
कवि मोलाराम न कोउ बिसारैं।
कीच के बीच में हाथी फंसै,
तब हाथी को हाथ दे हाथी निकारैं ॥

इहै छंद हम दियो बनाई।
चित्र सहित लिखि दियो पठाई ॥

चित्राकण के लिए यह कितना अच्छा शब्दचित्र है। संभव है यह चित्र अब भी सिरमौर के दरबार में हो। चित्रकला व कविता में जो स्वाभाविक घनिष्ट सबंध है उस का प्रमाण मोलाराम की कविता व चित्रकारी है।

उक्त चित्र और पद्य-संदेश को

धनीराम लेला कौ गयो।

उस को पढ़ कर—

सिरमौर का राजा जगत प्रकाश जयकृत शाह की सहायता को आया

राजा ब्राह्मण को खुश भयो ।।
महावीर रस सुनतहि छायो।
सकल समाज फ़ौज ले आयो ।।

जगत प्रकाश फ़ौरन अपनी सेना को साथ ले गढवाल के राजा की सहायता को आया। जगत प्रकाश—

जगत प्रकाश की बागियो पर विजय

सकल समाज फौज ले आयो।
बिजैराम नेगी चढ़ धायो ।।
कपरोली म्हि पड़ी लड़ाई।
भाग्ये बिजैराम कौं आई ।।
घमंडसिंह यह सुनत भगायो।
पाछे ताके कटक दौड़ायो ।।
घेर धार वह दियो भगाई।
जैंकृतसाह जू लियो छुटाई ।।
प्रद्युमन प्राक्रम कुंवरहि भागे।
वहै कुमाऊं जाय हि लागे ।।
जगप्रकास श्रीनगरहि आये।
जैंकृतसाह जू राज बैठाये ।।

प्रद्युम्न और पराक्रम जयकृत शाह के छोटे भाई अजबराम, बिजैराम और घमडसिह के परास्त होने पर भाग कर कुमाऊँ चले गए।

जगत प्रकाश समझता था कि ये दोनो कुँवर कुमाऊँ के मंत्रियो की सहायता से जयकृत शाह को हटा कर एक भाई (प्रद्युम्न) गढवाल के सिहासन पर बैठेगा और दूसरा (पराक्रम) कुमाऊँ के राजसिहासन पर बैठेगा।

**जगत प्रकाश का उचित परामर्श**

वह यह भी जानता था कि ये दोनों कुँवर गढवाली और कुमाऊँनी मंत्रियो के हाथ के कठपुतले बने रहेंगे। इस लिए जगत प्रकाश ने जयकृत शाह

से कहा कि चलिए अभी कुमाऊँ पर आक्रमण कर तुम्हारा रास्ता साफ करे और तब तुम निर्भय हो कर राज्य करना।

इस लिए—

जैकीर्तिशाह सौं कही, जगत प्रकास सलाह।
चलो हमारे संग तुम कुर्मांचल दै दाह॥
कुर्मांचलि नित तुमै सतावै।
उनको हमहूं जाय खपावै॥
चलो फौज ले संग हमारे।
कुर्मांचल सब उलटहि डारैं॥

जगत प्रकाश की कुमाऊँ पर आक्रमण करने की सम्मति

जगत प्रकाश ने कहा अगर मैं इस समय कुमाऊँ पर आक्रमण कर तुम्हारे शत्रुओ को परास्त न करूँ, तो कुमाऊँ के मंत्रिगण जो गढवाल से बदला लेना चाहते है, वे प्रद्युम्न और पराक्रम को ले कर आयेंगे और तुम से तुम्हारा राज्य छीन लेगे। उस समय मैं तुम्हारी सहायता के लिए यहाँ नही होऊँगा।

जो हम इत सौ घर को जावें।
प्रद्युमन्न प्राक्रम ले वह आवें॥
तुम्हें काढ़ि वह राजहि लैहे।
फेरि यहाँ हम नाही अइहैं॥
जगप्रकास यह कही जवानी।
गढ़ मंत्रिन हूं नै नहि मानी॥

गढवाल के मंत्रियो ने सिरमौर के राजा का कहा नही माना

गढवाल के मंत्रियो ने जयकृत शाह को बहका दिया और कहा कि जगत प्रकाश की सहायता से कुमाऊँ को परास्त करने पर जगत प्रकाश का सुयश सारे ससार मे फैल जायेगा और लडाई के खर्च मे अर्थात्—

तलब माहि दोहु राजहिं जावें।
फेर तुहारे हाथ न आवें॥
हंसी होय जग माहिं तुहारी।
इह मसलत महाराज हमारी॥

जयकृत शाह ने मंत्रियों का कहना माना और कुमाऊँ पर आक्रमण करने का विचार छोड़ दिया। सिरमौर के राजा जगत प्रकाश को बिदा के वक़्त—

जगत प्रकाश की बिदाई

जीगा कलंगी जड़े जड़ाये।
भूषण वस्त्र सबहिं पहिराये॥
मुक्तमाल गल डालहि दीनी।
माल जगीर भेंट ही कीनी॥
चालिस कोस की माल[1] दे, बिदा करी सब फौज।
सवा लाख धन लेइ कै, करते चले जो मौज॥
जगप्रकास नाहृण माँहि आये।
गढ़ मंत्रिन ने शत्रु बुलाये॥

[ ३१ ]

## जयकृत शाह का अंतिम समय

अजबराम, घमंडसिंह जैसे बागी मंत्रियों से जगत प्रकाश की सहायता से जयकृत शाह ने अपना पिंड छुड़ाया। किंतु उस के भाग्य में तो मंत्रियों के विद्रोह और षड्यंत्र लिखे थे। गढ़वाल के राजाओं के इतिहास में जितना दुःख राजा व प्रजा को स्वार्थी मंत्रियों के द्वारा, जयकृत शाह के पाँच वर्ष के राज्य में मिला, उतना जयकृत शाह के पूर्वजों के ५० वर्ष के राज्य-शासन में भी नहीं मिला। कृपाराम से पीछा छुटा तो नित्यानंद ने अपना आतंक फैलाया। फिर घमंडसिंह ने आ घेरा। घमंडसिंह के पश्चात् देवीदत्त, धनीराम और श्रीविलास का तूती बोलने लगा। उस के बाद अजबराम और बिजयराम ने खुल्लमखुल्ला राजा से युद्ध किया। उन से छुटकारा पाया तो अब मंत्रि-मंडली दूसरा षड्यंत्र रचने लगी। वे कुमाऊँवालों को गढ़वाल पर आक्रमण करने की सलाह देने लगे। और कुँवर प्रद्युम्न और पराक्रम, जयकृत शाह के छोटे भाइयों को कूर्माचलियों की सहायता

जयकृत शाह के मंत्रियों का नया षड्यंत्र

---

[1] गढ़वाल में तराई को माल कहते हैं अर्थात् पर्वत-शृंखला जहाँ समाप्त होती है और जहाँ से देश (मैदान) शुरू होता है उस भूमि को माल कहते हैं।

से गढ़वाल राज्य पर हाथ फेरने के लिए भडकाने लगे। इधर तो जयकृत शाह् को नवरात्रों में देवलगढ की देवी की पूजा करने मे लगा दिया और उधर—

तहां कुंमाई कुंवर बुलायो।
दसमी कौं महाराज मंगायो॥
लाखन तहां दर्ब ही छूटचो।
कुरमांचल की फौज ने लूटचो॥
जयकृत साह जू गये भगाई।
मंत्री मिले कुंवर कौं आई॥
कुंवर फौज ले सहर में आयो।
सिरीनगर सब सहर लुटायो॥
प्रजा लोक कोइ मिले न आई।
दीनो अपने महल जलाई॥
तीन बरस गढ़ मांहि रहाये।
पीछे फेर कुमाऊं धाये॥
जयकृत साह जू डोलत रहे।
धनीराम फिर नाहृण गये॥
केती अरज करी तहं रहचे।

प्रद्युम्न शाह् और पराक्रम का आक्रमण

. . . . . . . . . . . . . . . . . . . .

जगत परकास तऊ नांहि आये।
कह्यो कुमाऊं तब नांहि धाये॥
हमहूं तुम सों तबही कही।
जो हमने सब सोई भई॥
बार बार हम कैसे आवें।
सत्रु हमारे संघ लखावें॥
जो हम फौज लेइ गढ़ धावें।
दुसमन हमरो राज दबावें॥

जगत प्रकाश उतना ही दूरदर्शी और बुद्धिमान राजा था जितना कि वह बलवान था। वह गढवाल के मंत्रियों के बहकाने में नही आया। धनीराम निराश हो कर जयकृत शाह के पास वापस आया और कहा—

बिना माल फौज नहिं आवें।
बातन सों कोइ नाहिं पत्यावें॥

राजा ने कहा कि अब तुम मेरे मंत्रिगण उद्योग करो और अपनी शक्ति का परिचय कराओ। तुम लोगों ने धन बहुत संचय कर रक्खा है, यह सुन कर धनीराम ने सेना को अपने काबू में कर राजा को घेर लिया—

तीन दिवस लौं कायल कीने।
राजा परजा बहु दुख दीने॥

जयकृत शाह ने—

जयकृत शाह का शरीरान्त
तब जड़ाउ संदूक मंगायो।
ताकों दे निज प्राण बचायो॥

राजा—

अहंकार करिके बौराये।
रैंका से देप्रागहि आये॥
देवप्राग हरि दरसन कीन्यो।
चौथे दिवस प्राण तहं दीन्यो॥
सती चार राजा की भई।
श्राप कुंवर मंत्रिन दे गई॥
इह कही नृप के संगहि जली।
सूरज मंडल भेद हि चली।
देवप्राग भंडार लुटायो।
जिन पायो तिन ही ने छिपायो॥

मोलाराम अपने काव्य में यह नही लिखता है कि जयकृत शाह की मृत्यु कैसे हुई। श्री हरिकृष्ण रतूडी भी इस के विषय में कुछ नहीं लिखते हैं। न गढवाल के गजे-

टियर में ही इस के विषय में कुछ लिखा है। यह देखते हुए कि जयकृत शाह चारो ओर

**जयकृत शाह का आत्मघात**

बागियो से घिरा हुआ था, मंत्री एक के बाद दूसरा षड्यंत्र उस के विरुद्ध रच रहे थे, उस के भाई प्रद्युम्न और पराक्रम उस के खिलाफ हो गए थे, राज्य छोड़ कर उसे प्राणरक्षा के लिए इधर-उधर भागना पड रहा था, राज्य उस से छीना जा चुका था, सभवत: जयकृत शाह ने आत्महत्या की। जयकृत शाह की मृत्यु २५ वर्ष की अवस्था मे १८ गते कार्तिक सवत् १८४३ (सन् १७८५) मे हुई।

गढवाल मे सती-प्रथा प्रचलित थी, राज्य-वश और राजघराने से संबध रखने वाले तथा पुराने गढवाली छोटे-छोटे राजाओ के वशजो मे कभी-कभी सती हुआ करती

**रानी**

थी।[1] जयकृत शाह की रानी अपना और राजा के पास जो धन व आभूषण थे वह सब दान कर के अपने बालक पुत्र सुदर्शन को मंत्रियों को सौंप कर जयकृत शाह के साथ स्वर्ग को सिधारी। अस्तु राजा व रानी दोनो ने आत्महत्या कर दुष्ट मत्रियो के षड्यत्रो से अपना पिड छुड़ाया। जयकृत शाह की मृत्यु (जो २५ वर्ष की अवस्था मे हुई) व उन की रानी के देहात के कारण स्वार्थी राज्य-कर्मचारी थे।

[ ३२ ]

## प्रद्युम्न शाह (सन् १७८६-१८०४ ई०)

गढवाल के गजेटियर के अनुसार जयकृत शाह की मृत्यु पर सब से छोटे भाई पराक्रम शाह ने गढवाल के राजमुकुट को अपने शिर पर रख लिया था। प्रद्युम्न शाह

**प्रद्युम्न और पराक्रम**

अल्मोडे में ७ वर्ष राज्य करने के बाद जयकृत शाह की मृत्यु का समाचार सुन कर श्रीनगर आया और गढवाल के

---

[1] सतियों के मंदिर, जिन को वास्तव में छोटे-छोटे स्मारक या चौरे कहना चाहिए अब तक कई मौजूद है, अब तक हमें सती का आखिरी उल्लेख यही सन् १७८५ का मिला है। मालूम होता है कि इस के बाद सती की प्रथा बंद हो गई थी। लैंसडौन और कोटद्वार से १५ मील के फ़ासले पर डाडामंडी जो पौड़ी-श्रीनगर की आम सड़क पर है, वहाँ दो छोटे नालों के मिलान पर तीन सतियों के मंदिर अब भी मौजूद हैं। जयकृत शाह की सती रानी का मंदिर देवप्रयाग में विद्यमान है।

राजसिंहासन पर बैठा और कुमाऊं के राजसिंहासन पर बैठने के लिए पराक्रम शाह को भेज दिया[१]

प्रद्युम्न और पराक्रम डोटी की लाडली रानी से उत्पन्न थे। इस के विषय में मोलाराम लिखते हैं---

**बड़ो प्यार डोटी की रानी।**
**कहन में छोटी अति मनमानी ।।**

और उस के अनुरोध पर ललित शाह प्रद्युम्न शाह को अपना उत्तराधिकारी बनाने का वचन दे गए थे। किंतु जयकृत शाह के ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण उसी को मंत्रियों ने ललित शाह की मृत्यु के बाद गढ़वाल के राजसिंहासन पर बैठाया। प्रद्युम्न शाह को गढ़वाल का राजसिंहासन ललित शाह की इच्छानुसार उस की मृत्यु के बाद मिलता।

किंतु ललित शाह के जीवन-काल में ही उसे प्रद्युम्न शाह के लिए कुमाऊँ का राज्य अनायास ही मिल गया। हर्षदेव और जयानंद जोशियों के आग्रह पर ललित शाह ने प्रद्युम्न शाह को कुमाऊँ का राजा नियत किया।

**प्रद्युम्न शाह को कुमाऊँ का राज्य कैसे मिला ?**

**शुभ दिन नीको छांटि के लीन्यो।**
**राजतिलक तब कुंवर को कीन्यो ।।**
**प्रदुमन चंद तहं नाम धरायो।**
**कुरमांचलि को नृपति ठैरायो ।।**

इस विषय में ऐटकिंसन लिखता है कि मोहनसिंह (मोहनचंद) जो अत्याचार कुमाऊँ में कर रहा था उस को देख कर ललित शाह दु:खी हुआ और उस ने अपनी सेना लेकर कुमाऊँ की प्रजा की सहायता के लिए प्रस्थान किया। "लोहबा के रास्ते ललित शाह एक बहुत बड़ी सेना प्रेमपति कुमारिया सेनापति को साथ लेकर द्वारा आया। मोहनसिंह ने अपने भाई लालसिंह को गढवालियों का सामना करने के लिए भेजा। मोहनसिंह ने हर्षदेव को बुलवाया और उसे विज्ञप्ति की कि कुमाऊँ के पुराने दुश्मनों के

---

[१] **'गढ़वाल गजेटियर', पृ० १२३**

साथ लडने के लिए जाओ और इस के पारितोषिक मे तुम को तुम्हारा दीवान-पद और जागीर वापस दे दी जायेगी। हर्षदेव ने बाहरी मन से अपनी स्वीकृति प्रकट की। इतने मे खबर आ गई कि कुमाऊँनी सेना गढ़वालियो ने बग्वाली पोख पर बहुत बुरी तरह से (सन् १७७९ मे) परास्त कर दी । यह समाचार सुन कर मोहनसिह गगोली काली हो कर भाग कर लखनऊ गया और वहाँ से रामपुर पहुँचा। उस का भाई लालसिह और उस के अन्य अनुयायी भी वही पहुँच गए। मोहनसिह चाहता था कि हर्षदेव भी उस के साथ जाय। लेकिन उस ने इन्कार किया । ललित शाह ने हर्षदेव को अपने पास बुलाया। और उस के परामर्श के अनुसार अपने बेटे प्रद्युम्न को प्रद्युम्नचंद का नाम दे कर चंद राजाओ के राजसिहासन पर बैठा कर अलमोडे का राजा नियत किया।"[१]

[ ३३ ]

## प्रद्युम्न शाह का कुमाऊँ में राज्य (१७७६-१७८६)

प्रद्युम्न शाह ने अलमोडे (कुमाऊँ) में ७ वर्ष (सन् १७७९–८६) राज्य किया। ऐटकिसन के अनुसार प्रद्युम्न शाह ने हर्षदेव, जयानद और गंगाधर जोशियो को राज्य के बडे-बडे पदों पर नियत किया। ऐटकिंसन का खयाल है कि प्रद्युम्न शाह अलमोडे मे बहुत अच्छी तरह से राज्य करता, किंतु अलमोडे के लोग राज्य-क्राति के अभ्यस्त हो गए थे। इस लिए वहाँ सुशासन का चिरस्थाई होना आसान नही रहा।

**भाइयों में अपने-अपने राज्य के गौरव के लिए लड़ाई**

जब ललित शाह की मृत्यु के बाद सन् १७८० ई० मे जयकृत शाह गढवाल के राजसिहासन पर बैठा तो उस ने कहा कि मै बडा भाई हूँ। इस लिए गढवाल के राजा के सामने तुम छोटे भाई प्रद्युम्न शाह कुमाऊँ के राजा को सिर नवाना पडेगा। प्रद्युम्न शाह इस पर राजी नही हुआ। उस ने कहा कि 'कुमाऊँ ने गढवाल के आधिपत्य को कभी स्वीकार नही किया है। मै कुमाऊँ के राजसिहासन के उच्चासन को नीचा नही होने दूँगा।' इस पर दोनो भाइयो के बीच अनबन हो गई।

---

[१] ऐटकिंसन, 'हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स', जिल्द ३, पृ० ६०१–२

इसी बीच मोहनसिंह १४०० नाग फकीरो के एक जत्थे को इलाहाबाद से प्रद्युम्न शाह से लड़ने के लिए लाया। उस ने नागे फकीरो से कहा था कि अलमोड़े को जीतने पर तुम उसे लूट लेना। ये नागे अपने चार महन्तो के साथ कोसी और स्याल नदियों के सगम तक आ पहुँचे थे। प्रद्युम्न शाह की कुमाऊँनी सेना ने चरलख पर नागों का सामना किया। ७०० नागे रणभूमि में काम आए। बाकी ७०० बचे हुए नागे भाग कर चले गए। तब से कुमाऊँ में एक कहावत प्रसिद्ध है "जोगी का बाबू को कटक क्या धरियो छियो।"

**अलमोड़े पर नागों की चढ़ाई**

जयकृत शाह और प्रद्युम्न शाह के बीच की अनबन बढ़ती गई। पुराना वैमनस्य जो गढ़वाल ओर कुमाऊँ के बीच में था उस की चिनगारियाँ अब भी मौजूद थी। जयकृत शाह के मन्त्रियो ने उसे भड़काया। जयकृत शाह ने कहा कि चूँकि वह बडा भाई है इस लिए वह दोनों राज्यो (गढ़वाल और कुमाऊँ) का अधिकारी है। हर्षदेव अपने साथ एक सेना लेकर जयकृत शाह से मिलने गया। जयकृत शाह ने उस से मिलने से इन्कार किया, और हर्षदेव पर आक्रमण कर दिया। हर्षदेव के साथ सेना बहुत थी, इस लिए उस ने जयकृत शाह को हरा दिया। जयकृत शाह भाग गया। कुमाऊँनी फ़ौज ने जयकृत शाह का पीछा किया और रास्ते में जितने गाँव पडे उन को लूटा और जला दिया। देवलगढ के मंदिर को भी लूटा। और गढवाल की राजधानी श्रीनगर पर अधिकार कर लिया। जयकृत शाह के श्रीनगर को छोड अलकनदा के पार वर्तमान टेहरी गढवाल मे जाने पर पराक्रम ने गढवाल के राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया। प्रद्युम्न शाह ने चाहा कि वह स्वयं गढवाल का राजा बने और पराक्रम के सिपुर्द कुमाऊँ का राज्य कर देवे। पराक्रम पहले तो इस बात पर राजी नही हुआ। परंतु पीछे प्रद्युम्न शाह का कहना मान गया। गढवाल की राजगद्दी पर प्रद्युम्न शाह ने कब्जा किया और पराक्रम शाह अलमोड़े मे राज्य करने चला गया।

**गढ़वाल पर जोशियो का धावा**

मोलाराम और ऐटकिसन दोनों के अनुसार प्रद्युम्न शाह ने प्रद्युम्न चद के नाम

से कुमाऊँ में ७ वर्ष (सन् १७७९–१७८६) तक राज्य किया। वास्तव में प्रद्युम्न शाह अलमोडे के मंत्रियो के हाथ का कठपुतला था। उन को खुश रखने के लिए प्रद्युम्न शाह ने अलमोडेवालो को जागीरे दी। सन् १७८१ मे कृष्णानद जोशी के वश को, सन् १७८२ में वेणीराम उपरेती के वश को और सन् १७८४ मे खोधर तथा वालकृष्ण जोशी के वश को जागीरे मिली, जिन के दानपत्र मौजूद है।

**अलमोड़े में प्रद्युम्न शाह की जागीरे**

जयकृत शाह की मृत्यु के बाद जब प्रद्युम्न चद कुमाऊँ के राजसिंहासन को छोड कर गढवाल की गद्दी पर जा बैठा तब पराक्रम शाह अलमोडे पर राज्य करने को आया। वह गढवाल से अपने साथ, कुमाऊँ राज्य के शत्रु मोहनसिह और लालसिह से कुमाऊँ को बचाने के लिए, गढ़वाली सेना लाया और उस को नैथाणा के किले मे, (जो पट्टी दोरातला मे है) नंदराम, मोहनसिह और लालसिह की फौज से लडना पडा। हर्षदेव कुछ सिपाहियों को लेकर वहाँ पर पराक्रम शाह की बाट देख रहा था। ये कुमाऊँनी सिपाही जी लगा कर नही लड़े। और उन में से कुछ भाग भी गए। क्योंकि उन का पराक्रम के विषय मे ख्याल था कि वह अलमोडे के बजाय श्रीनगर को ज्यादा चाहता है। अस्तु मोहनसिह की जीत हुई। हर्षदेव भाग कर देश चला गया (सन् १७८६ ई०) और मालूम होता है कि पराक्रम शाह यहाँ से वापस गढवाल को गया और जैसा कि हम ऊपर मोला-राम के शब्दो मे बता चुके है पराक्रम शाह ने कुछ गढ़वाली मंत्रियों को अपनी तरफ कर के प्रद्युम्न शाह से कुछ समय के लिए राज्यसिंहासन छीन लिया। इस बात को ऐटकिंसन भी दर्शाता है, कि जब मोहनसिह ने सन् १७८६ मे हर्षदेव और पराक्रम शाह को पराजय किया, तब उस ने पराक्रम शाह से यह समझौता किया कि तुम गढवाल में राज्य करो और हम कुमाऊँ मे राज्य करेंगे। इन दोनो के बीच एक सधि भी हुई कही जाती है, जिस के अनुसार गढवाल और कुमाऊँ की सरहद कायम कर दी गई थी। मालूम होता है कि यही कारण है कि जब हर्षदेव ने मोहनसिह के विरुद्ध लड़ने के लिए गढ़वाल के राजा की सहायता माँगी तो उस ने नही दी। और तब हर्षदेव ने देश मे आकर मोहनसिह और लालसिह का सामना किया। उन को परास्त कर लालसिह को क्षमा-प्रदान की, और मोहनसिह को मार डाला (सन् १७८८)। मोहनसिह का लड़का महेंद्रसिह भाग कर

**पराक्रम का अलमोड़े में राज्य और आधिपत्य**

रामपुर चला गया हर्षदेव अलमोड़े में आया और वहाँ से उस ने प्रद्युम्न शाह को लिखा कि यहाँ का राजसिंहासन खाली है, तुम फिर आ कर कुमाऊँ में राज्य करो। किंतु प्रद्युम्न शाह इस बात पर राज़ी नहीं हुआ। लालसिंह और मोहनसिंह के अन्य अनुयायी और सहायकों ने अलमोड़े पर हमला किया, जोशीदल को परास्त किया, और भागते हुए हर्षदेव का पीछा गढ़वाल में उल्कागढ़ तक किया। उल्कागढ़ में प्रद्युम्न शाह ने हर्षदेव की सहायता के लिए एक गढ़वाली फौज भेजी। पराक्रम शाह जो मोहनसिंह का मददगार था उस ने अपने भाई प्रद्युम्न शाह के विरुद्ध लालसिंह की मदद के लिए गढ़वाली सिपाही भेजे। इस लिए हर्षदेव सफल न हुआ। वह श्रीनगर प्रद्युम्न शाह के पास चला गया। पराक्रम शाह को लालसिंह ने एक लाख रुपया सालाना कर देना स्वीकार किया, और इस के बदले पराक्रम शाह मोहनसिंह के पुत्र महेंद्रसिंह को अलमोड़े के राजसिंहासन पर रखने के लिए राज़ी हो गया। इधर तो प्रद्युम्न शाह ने महेंद्रसिंह के शत्रु को श्रीनगर में शरण दी, उधर उस के छोटे भाई पराक्रम ने स्वयं अलमोड़े जा कर महेंद्रसिंह को महेंद्रचंद बना कर कुमाऊँ का राजा नियत किया, और स्वयं श्रीनगर वापस आ गया और हर्षदेव को वहाँ से भगा दिया। इस तरह गढ़वाल के राजा प्रद्युम्न शाह और पराक्रम शाह का राज्य जो कुमाऊँ में शुरू हुआ था उस का पराक्रम शाह ने स्वयं सन् १७८८ में अंत कर दिया।

## [ ३४ ]

## प्रद्युम्न शाह का गढ़वाल में राज्य (१७८६-१८०४)

मोलाराम के काव्यानुसार जयकृत शाह के देवप्रयाग में प्राण त्याग करने पर गढ़वाल राज्य के मन्त्रियों ने, प्रद्युम्न शाह जिस की अवस्था उस वक्त २१ वर्ष की थी, और जो उस समय कुमाऊँ में राज्य कर रहा था, उस के लिए अलमोड़े पत्र भेजा। प्रद्युम्न शाह, जिस को अलमोड़े में चंद राजाओं के उत्तराधिकारी नियत होने के कारण प्रद्युम्न चंद कहते थे, अलमोड़े से हर्षदेव जोशी को साथ लेकर श्रीनगर आया। अर्थात्—

**प्रद्युम्न शाह जयकृत शाह का उत्तराधिकारी नियत हुआ**

स्वर्गबास जब जयकृत भये ।
मंत्रिन लिखी चिठ्ठी दये ।।

अल्मोडे से—

प्रद्युमन प्राक्रम सुनतहि आये ।
हरखदेव जोशी संग लाये ।।
प्रद्युमनसाह कौं राज बैठायो ।
अजबराम नेगी हि मरायो ।।
गढ़मंत्री मिलि मंत्र ठैरायो ।
हरखदेव इह भलो न आयो ।।
कुरमांचली छली अन्यायी ।
सब ने मिलि के दयो धपाई ।।

गढ़मंत्री आपसहि मैं, राखन लगे सिपाहि ।
प्रद्युमन प्राक्रमसाह कौं, दीना फूट गिराहि ।।

कुंवर आपनो हुकम चलावे ।
राजा कौं खातर नहि लावे ।।
मंत्री मिले कुंवर संग जाई ।
आपस दीने दुहू भिड़ाई ।।
राजमंत्रि राजा को चाहे ।
कुवर मंत्रि राजा को रिसाहैं ।।
कुंवर मंत्रि सकल्याणी भये ।
राजमंत्रि ह्वे रामा रहे ।।
रामा धरणी दोऊ भाई ।
जाल खंडूड़ी उमर जवाई ।।
सीसराम सिवराम सहोदर ।
ज्यों रावण के मंत्रि महोदर ।।

दोनो राजाओं (प्रद्युम्न शाह और कुँवर पराक्रम शाह) की हुकूमत चलने लगी।

राजकाज सब कुवर कों दीन्यो
राजा हुकम जपत कर लीन्यो ॥
राजमंत्रि तब भये किनारे ।
गये[1] सु राजपुत्र के द्वारे ॥
राजपुत्र को दियो चिताई ।
पिता तुहारे लिये दबाई ॥
तुमहूं अब कछु होस सिभालो ।
हमरे संग बाहर तुम चालो ॥
बाहर चलि हम करें लड़ाई ।
तुमकौं राज देंइ बैठाई ॥
साह सुदरसन तिन को नामा ।
तिनसों मंत्र कियो इह रामा ॥
कुंवर सुनत इह बाहर आये ।
रामा पनि निज द्वार बिठाये ॥

राजा (प्रद्युम्न शाह) और कुँवर (सुदर्शन शाह) की लड़ाई

लगे मोरचा सहर में सारे ।
सिरीनगर ओर राजहि द्वारे ॥
भगे लोक सबही अकुलाई ।
चचा भतीजे लगी लड़ाई ॥
राजा कुंवर ने कीन्यो काबू ।
बाहर वे छत्री नर बाबू ॥
चहूं गिरद सौं चलें बंदूकें ।
मानों घन महि केका कूकें ॥
पथर कला बाजें घन गाजें ।
चमकें वाला बिजली लाजें ॥

---

[1] सुदर्शन शाह, जिस को जयकृत शाह की रानी सती होते समय मंत्रियों के पास छोड़ गई थी ।

बिचली फल गढ़ पडी लड़ाई ।
निकसे बाहर दोनो भाई ॥

महाराज ले कुंवर ही, उतरे गंगा पार ।
साह सुदरसन फौज ले, रहे जो गंगा वार ॥

मालूम होता है कि सुदर्शन शाह का पक्ष बलवान था। प्रद्युम्न शाह और पराक्रम शाह से लोग खुश नहीं थे। प्रजा की सहानुभूति युवा सुदर्शन शाह के साथ थी। इस परिस्थिति को देख प्रद्युम्न शाह और पराक्रम शाह श्रीनगर राजधानी को छोड गंगा (अलकनंदा) के उस पार चले गए और तब—

वार पार सौ फौजे आवे ।
करें लड़ाई लड़ भिड़ जावें ॥
केते दिवसहि लडते भये ।
पूरब पाप उदय ह्वे गये ॥
कटे मरे जो लोक हजारों ।
सिरीनगर औ धारा धारों ॥

---

# देवनागरी लिपि-सुधार

[ लेखक—डाक्टर बाबूराम सक्सेना, एम्० ए०, डी० लिट्० ]

लिपि का उद्देश्य भाषा की ध्वनियों को अंकित करना है। इस के द्वारा वक्ता (लेखक) की अनुपस्थिति में भी उस का अभिप्राय प्रकट किया जा सकता है। इसी कारण सभ्यता के अन्य साधनों में लिपि-कला भी अपना विशेष महत्व रखती है।

लिपि-कला का आविष्कार कब, कहाँ, और कैसे हुआ, इस विषय में विद्वानों का एक मत नहीं है। भारतवर्ष में लिपि-बद्ध प्रथम लेख सम्राट् अशोक के है। इन लेखों की तिथि प्राय. २५० ई० पू० के इधर-उधर समझी जाती है। यह लेख दो लिपियों में मिलते हैं—खरोष्ठी तथा ब्राह्मी में। इन में से खरोष्ठी दाहिनी ओर से बाईं ओर को और ब्राह्मी बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी। खरोष्ठी केवल पश्चिमोत्तर प्रदेश में, शहबाजगढी और मानसेहरा के शिलालेखों में प्रयुक्त पाई गई है, अन्य लेखों में सर्वत्र ब्राह्मी है।

अशोक के लेखों के पश्चात् प्राय. सभी पुराने लेख ब्राह्मी अथवा उस से प्रादुर्भूत लिपियों में ही लिखे हुए मिले है। गुप्त सम्राटों के समय तक ब्राह्मी के दो रूप प्रचलित हो गए थे, एक उत्तरी दूसरा दक्खिनी। उत्तरी रूप का एक रूपांतर देवनागरी लिपि है। वर्तमान देवनागरी लिपि का कोई न कोई रूप प्राय ईसवी आठवीं शताब्दी से मिलता है, और ईसवी बारहवीं शताब्दी से इस का रूप प्राय स्थिर-सा हो गया है।

रूप स्थिर होने पर भी यह नहीं है कि इस में कोई परिवर्तन नहीं होते रहे है। अभी गत सौ दो सौ वर्षों की ही हस्तलिखित पुस्तकों के अवलोकन मात्र से ही पता चलता है कि 'अ' में मात्राएँ लगा कर 'इ', 'उ', 'ए' आदि स्वरों का बोध होता था, 'य' को 'य़' बनाने के लिए उस के नीचे केवल बिंदी लगा दी जाती थी, अन्यथा उस से 'ज' का बोध

होता था इसी प्रकार 'य' के नीचे बिंदी लगाने पर ही 'व' का बोध होता था अन्यथा 'ब' का। हिंदी हस्तलिखित पुस्तकों में 'ष' से सर्वत्र 'ख' का तात्पर्य निकलता है। और अभी हम लोगों के देखते-देखते 'क', 'ग', 'ज', 'झ', 'फ' के नीचे बिंदी लगा कर फारसी 'क' (ق), 'ग' (غ), 'ज' (ظ-ض-ز-ذ), 'झ' (ژ) तथा 'फ' (ف) का बोध कराने की प्रथा प्रचलित की गई है। इस प्रकार समय की आवश्यकता के अनुसार पूर्व में भी सुधार होते रहे हैं और अब भी करना उचित और युक्तिसंगत प्रतीत होता है। इस विषय में कुछ वर्षों से इधर कई बार प्रयत्न किए जा चुके हैं।

अखिल भारतवर्षीय हिंदी साहित्य-सम्मेलन के गत (इंदौरवाले) अधिवेशन में इस विषय की चर्चा फिर छेड़ी गई। सम्मेलन ने उचित सुधारों का निर्देश करने के लिए एक उपसमिति नियत कर दी। इस उपसमिति में भारतवर्ष के प्रायः प्रत्येक प्रांत के प्रमुख भाषा-वैज्ञानिकों तथा लिपितत्व-विदों का सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया है। उपसमिति के संयोजक आचार्य काका कालेलकर जी हैं। इस उपसमिति की प्रथम बैठक वर्धा में २५,२६ जून १९३५ को हुई थी और इस में जो प्रस्ताव स्वीकृत हुए वे संयोजक द्वारा पत्र-पत्रिकाओं में उचित सम्मति प्राप्त करने के निमित्त प्रकाशित किए गए हैं।

भारतवर्ष में बंगाली, गुजराती आदि प्रांतीय लिपियों को छोड़ कर इस समय तीन लिपियाँ ऐसी हैं जो भारतवर्ष भर में प्रचलित हैं—देवनागरी, उर्दू तथा रोमन। उर्दू लिपि फ़ारसी तथा उर्दू व सिंधी लिखने में प्रयोग में लाई जाती है, और इस का विकृत (पर मौलिक) रूप अरबी लिखने में। यह लिपि भारतीय भाषाओं को अंकित करने के लिए इतनी अनुपयुक्त है कि इस पर विचार करना ही समय का दुरुपयोग करना होगा। रोमन को इस देश में स्थापित करने के कई प्रयत्न हुए[1] और जब तक विदेशी सभ्यता

---

[1] मिस्टर ए० लतीफ ने महाराज गायकवाड़ के आदेश से रोमन लिपि को भारतीय भाषाओं के उपयुक्त बनाने का प्रयास किया, पर उन के प्रस्तावों को बड़ोदा सरकार तथा महाराज ने अस्वीकार कर दिया। इधर डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने 'इंडोरोमन अल्फाबेट' नाम की एक पुस्तिका लिख कर कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित कराई है। इस में डा० चटर्जी ने रोमन को काट-छाँट कर तथा उस में उचित परिवर्द्धन कर के उसे भारतीय भाषाओं के योग्य बनाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार के जो अब तक प्रयास हो चुके है उन में डा० चटर्जी का प्रयास श्रेष्ठ और बहुमूल्य है।

का आधिपत्य है, होते रहेंगे, पर निकट भविष्य में रोमन इस देश में भारतीय भाषाओं को अंकित करने के लिए स्थान स्थिर कर सकेगी यह दुराशा है। देवनागरी का व्यवहार प्रायः सभी प्रांतों में संस्कृत लिखने के लिए और भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा हिंदी और प्रांतीय भाषा मराठी लिखने के लिए पहले से ही है। विद्वानों का विचार है कि यदि इस की त्रुटियों को दूर कर दिया जावे तो संभव है इस के अधिक पृष्ठपोषक हो जावें। आशा की जाती है कि यह किसी समय भविष्य में सुयोग पाने पर अखिल-भारतीय लिपि का पद प्राप्त कर सकेगी। कुछ भी हो, यदि त्रुटियाँ दूर की जा सकें तो उन्हें अवश्य दूर कर देना चाहिए।

इन पंक्तियों के लेखक ने जनवरी १९३२ (पृ० १-१४) में 'देवनागरी लिपि तथा हिंदी अक्षर-विन्यास' शीर्षक एक लेख दिया था, और उस में हिंदी भाषा की दृष्टि से कुछ प्रस्ताव जनता के सामने उपस्थित कर अनुरोध किया था कि लिपि तथा अक्षर-विन्यास संबंधी "प्रश्नों पर समुचित विचार कर लिया जावे और सर्व-सम्मति से कुछ निर्णय कर लिया जावे।" देवनागरी लिपि के सुधार के प्रश्न को अब केवल हिंदी भाषा की दृष्टि से ही नहीं पर अखिल भारत की संस्कृतोद्भूत भाषाओं तथा संस्कृत को आदरणीय माननेवाली तामिल, तेलगू आदि भाषाओं की दृष्टि से सुलझाना है। प्रसंगवश यदि कोई अवैज्ञानिक बात अपनी लिपि में हो तो उसे भी इसी समय दूर कर देने का प्रयत्न आवश्यक है। इस दृष्टि से साहित्य-सम्मेलन की उपसमिति के प्रस्तावों पर विचार करना वाञ्छनीय है।

(१) समिति का निर्णय है कि देवनागरी-लिपि के अक्षरों पर शिरोरेखा आवश्यक नहीं है। इस लिए समिति ने सिफारिश की है कि लिखने में शिरोरेखा वैकल्पिक हो और छापने में प्रेस वाले उसे हटाने की कोशिश करें।

शिरोरेखा देवनागरी लिपि में है, गुजराती, बंगाली आदि में नहीं है। इस के खींचने में कुछ समय का अपव्यय भी होता है। देवनागरी लिपि में भी यह ग्यारहवीं शताब्दी में इधर की पोथियों में मिलती है, इस से पूर्व केवल अक्षरों में ऊपर नोकें रहती थीं, इन्हीं को आजकल 'सेरिफ' कहते हैं। समिति का प्रस्ताव 'सेरिफ़' रखने का है ही। शिरोरेखा-विहीन अक्षर देखने में भद्दे लगेंगे वा नहीं यह रुचि-विभिन्नता की बात है। कोई सीधी रेखा खींचते हैं, कोई जंजीरदार और कोई खींचते ही नहीं, यह तीन विकल्प

आज भी लिखने में उपस्थित है समय की बचत की दृष्टि से शिरोरेखा को हटा देना ही श्रेयस्कर प्रतीत होता है। कुछ अक्षरों में शिरोरेखा के रूप के कारण ही आजकल देवनागरी में भेद माना जाता है, यथा 'घ' और 'ध' तथा 'म' और 'भ' में। ऐसे अक्षरों में भेद रखने के लिए 'ध' और 'भ' को जरा ऊपर से उठा कर लिख सकते हैं (देखिए चित्र १)।

चित्र-१

ध = ध, ध = घ, भ = भ, म = म

(२) समिति का प्रस्ताव है कि 'इ' की मात्रा जो आजकल व्यंजन के पूर्व (यथा 'कि', 'हि', 'लि') लगाई जाती है वह व्यंजन के उपरांत लगाई जावे। यह प्रस्ताव इस वैज्ञानिक नियम के अनुसार है कि ध्वनियाँ उच्चारण-क्रम से अंकित की जावे। पर 'इ' और 'ई' की मात्राओं ('ि' और 'ी') में भेद प्रायः स्थानभेद के कारण है। यदि दोनों व्यंजन के उपरांत लगेंगी तो दोनों में भ्रम हो जाना संभव है। अतएव 'इ' की मात्रा का क्या रूप हो यह निश्चय करना चाहिए।

(३) इस समय स्वरों के मूल-रूप कुछ और उन की मात्राएं कुछ हैं। उदाहरण के लिए 'इ' और 'ि', 'ए' और 'े' में कुछ समता नहीं दिखाई पड़ती। व्यंजनों का एक मूल-रूप 'क', 'ग' आदि है, इसी प्रकार समिति का प्रस्ताव है कि समस्त स्वरों का एक मूल-रूप ('अ') रक्खा जावे और उसी में मात्राएँ जोड़ कर विभिन्न स्वरों का बोध कराया जावे। इस प्रकार चित्र नं० २ में अंकित स्वर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ऐ, ओ, औ के स्थान पर माने जावें। इस प्रस्ताव को मान लेने से दो लाभ होंगे—एक तो विभिन्न

चित्र-२

अ अा अि अी अु अू अृ अे अै अो अौ

कु कू कृ के कै कॆ कॊ

स्वरों और उन की मात्राओं में समानता आ जावेगी, दूसरे 'इ', 'ई', 'उ', 'ऊ', 'ऋ', 'ए', 'ऐ' इन सात स्वरों की आकृतियों के बहिष्कार से कुछ सरलता भी हो जावेगी।

(४) कुछ भाषाओं में ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' व्यवहार में आते हैं; दक्षिण

की लिपियो मे इन के लिए चिन्ह है। देवनागरी मे भी चित्र न० ३ में प्रदर्शित चिन्ह स्वीकार कर लिए जाने का प्रस्ताव मान्य होना चाहिए। यदि अन्य भाषाओ मे और ध्वनियाँ हो तो उन के लिए चिन्ह निर्धारित हो जाने चाहिए।

चित्र-३

स्वर अे, मात्रा े

स्वर ओ, मात्रा ो

(५) समिति का यह प्रस्ताव कि "युक्ताक्षरो में भी सब व्यजन और स्वर उच्चारण के क्रम से लिखे जावे, रेफ भी उच्चारण के क्रम से दो अक्षरों के बीच में आ जाए" सर्व-मान्य होना चाहिए। इस समय रेफ को उसके उपरात आने वाले व्यंजन पर अथवा उस के भी उपरात वाले स्वर (मात्रा रूप) के ऊपर लिखने की प्रथा है, यथा, 'धर्म', 'कर्ता' आदि। यह प्रथा छोडनी चाहिए। उच्चारण क्रम से 'कर्ता' को 'क॔ता' और 'धर्म' को 'ध॔म' लिखना चाहिए; कुछ दिनो तक यह रूप खटकेगे पर शीघ्र ही नेत्रो को इन का अभ्यास हो जावेगा। इस नियम के अनुसार जो-जो मात्राएँ व्यंजनों के ऊपर-नीचे लगती है, यथा 'कु', 'के' आदि में वे व्यजन के जरा आगे हटा कर लगाई जावे पर लगाई ऊपर नीचे ही जावे। इस के स्वरूप का उदाहरण चित्र २ मे दिया है।

समिति ने ॐ, श्री और ज्ञ के रूप मे कोई परिवर्तन इस कारण से नही किया कि यह अक्षर पवित्र माने गए है।

(६) अनुस्वार और चंद्रविंदु मे बराबर गडबड पडती रही है; बहुधा अनुस्वार से चद्रविदु का ग्रहण होता है, जैसे कहां = कहाँ। समिति का प्रस्ताव है कि दोनो ध्वनियो मे भेद स्पष्ट रखने के लिए अनुस्वार को '०' और चंद्रविदु को 'ँ' से अकित किया जावे। संस्कृत आदि मे आवश्यकता के अनुसार जहाँ हिदी आदि आधुमिक भाषाओ में अनुस्वार का व्यवहार होता है, वहाँ तदनुकूल पचमाक्षर (ङ, ञ, ण, न, म) का प्रयोग करना वैज्ञानिक होगा, यथा हिंदी कलंक, सस्कृत कलङ्क।

इस विषय मे समिति के प्रस्ताव का कुछ अश मे सशोधन करना आवश्यक प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए, हिंदी मे 'कपटी' से 'कम्पटी' का बोध न हो 'कन्पटी' का

हो इस लिए तवर्ग और पवर्ग के व्यजनो के पूव (न् अथवा म्) लिखना अनिवार्य होना चाहिए, अन्यों के साथ अनुस्वार का प्रयोग रह सकता है[१]।

(७) "अक्षर के नीचे बाई ओर यदि बिंदी लगाई जावे तो उस का अभिप्राय यह होगा कि उस अक्षर की ध्वनि उस की मूल ध्वनि मे भिन्न है। उस ध्वनि का निर्णय प्रचलन के अनुसार होगा।" इस प्रकार चित्र ४ मे अंकित सभी ध्वनियों का निर्माण हो सकेगा। इन में से कुछ फारसी, कुछ अंगरेजी और कुछ प्रातीय बोलियो की हैं।

चित्र-४

क, ष, ग, ज, फ, भ, ऽ, ढ, ध, ढ, फ, ल

(८) समिति ने प्रचलित सभी विराम-चिन्ह, यथा अर्धविराम ',', प्रश्नसूचक '?', भावसूचक '!', उद्धरण-सूचक " " तथा ' ', आदि स्वीकार कर लिए है केवल पूर्ण-विराम के लिए खडी पाई '।' रक्खी है।

समिति को इस प्रस्ताव पर भी विचार करना चाहिए कि नए पैराग्राफ अथवा नए वाक्य के प्रथम अक्षर का आकार कुछ बडा होवे। यह लिखाई में सभव नही। पर छपाई में सरलता से काम में लाया जा सकता है और उपयोगी सिद्ध होगा।

(९) देवनागरी मे अक कई रूपो मे लिखे जाते हैं। चित्र ५ मे निर्दिष्ट रूपो को स्टैंडर्ड मानने की सिफारिश समिति द्वारा की गई है।

चित्र-५

१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, ०

अन्य प्रचलित रूप १, ३, ५, ५, ६, ७, ८, ९ आदि

(१०) वर्तमान 'ख' का भ्रम 'रव' से हो जाता है, 'खाना' को 'रवाना' पढ सकते है। इस लिए 'ख' का रूप क्या रक्खा जावे यह प्रश्न है। समिति ने कोई रूप निर्धारित नही किया है, परामर्श माँगा है। कुछ लोगो का प्रस्ताव था कि गुजराती 'ख' ले लिया

---

[१] देखिए 'देवनागरी लिपि तथा हिंदी अक्षर-विन्यास', पृष्ठ २

जावे। पर सभवतः यह अच्छा होगा कि पुराने 'प' की मध्य अंतर-रेखा को चित्र न० ६ के अनुसार दूसरी ओर से खीच कर प्रयोग मे लाया जावे। 'प' पुरानी पोथियो मे 'ख' के स्थान पर बराबर मिलता है। 'ष' का प्रयोग भी बिरले ही शब्दो मे होता है इस कारण भ्रम की भी अधिक सभावना नही। सयुक्ताक्षर मे भी केवल आडी पाई हटाने से कार्य चल जावेगा।

चित्र-६

प, सयुक्त प

(११) अन्य अक्षरो मे भी जहाँ विकल्प है, यथा 'ल', 'ळ', 'ञ', 'श' आदि में समिति ने कुछ रूपो को स्टैंडर्ड मानने की सिफारिश की है। हिंदी के 'ल' और 'श' को पसद किया है और बंबई के 'अ' और 'झ' को तथा 'क्ष' को। 'क्ष' रूप गणित के लिए परिमित कर दिया है।

(१२) समिति ने यह भी सिफारिश की है कि जिन प्रांतीय भाषाओ में 'ऋ' और 'लृ' नही आते उन मे वे पढ़ाने में व्यवहार मे न आवे। हिंदी में 'ऋ' (ह्रस्व) का उच्चारण ठीक ('रि') होता है। इस लिए हिंदी के लिए आवश्यक है कि हिंदी शब्दो मे 'ऋ' के स्थान पर 'रि' (जैसे 'रिण') लिखे और 'ऋ' को हिंदी वर्णमाला से निकाल दें। इसी प्रकार 'ष' और विसर्ग को हटा कर उन के स्थान पर 'श' और 'ह' का प्रयोग श्रेयस्कर होगा। सस्कृत की बात दूसरी है।

(१३) देवनागरी में सयुक्ताक्षर बड़े जटिल है। इन को सुगम करने के लिए समिति ने प्रशंसनीय नियम निर्धारित किए हैं। जिस अक्षर के अत में आड़ी पाई है उस के सयुक्त रूप से वह हटा दी जावे यथा 'ग', 'ग'; 'प', 'प' आदि; जहाँ ऐसी सुविधा नही है वहाँ संयोजक चिन्ह ( ‿ ) शृंखला की एक कडिया के रूप मे लगाया जावे। शब्द के अंत में स्वर-विहीनता दिखाना आवश्यक हो तो प्रचलित हल् चिन्ह ' ् ' ही रक्खा जावे। रेफ का ' ˚ ' रूप स्वीकार हुआ। इन नियमो को कार्य मे परिणत करने से संयुक्ताक्षरो की भारी जटिलता दूर हो जावेगी।

समिति की सम्मति के अनुसार अक्षरो के जो रूप होग वे चित्र ७ म दिए जाते

चित्र ७

अ आ अि अी अु अू अृ (अॄ अॢ)

अे अै ओ औ (अॆ ओ)

ा ि ी ु ू ृ (ॄ ॢ) ँ ँ

े ै (ॆ ॊ) ं ः

क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण

त थ द ध न प फ ब भ म य र ल व ळ

श ष स ह ह्‍ (क्ष) ज्ञ ॐ श्री

संयुक्ताक्षर - [illegible]

[illegible]

[illegible]

क्र = क्‍र ; प्र = प्‍र ; त्र = त्‍र ; ह्र = ह्‍र

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ ०

, । ? ! ‘ ’ “ ” ..

है। इन लिपि चिन्हो मे लिख कर एक पैराग्राफ़ भी (चित्र ८) उपस्थित किया जाता है। इस समय भले ही यह आँखो को अटपटा मालूम हो पर भविष्य मे यही अच्छा लगने लगेगा।

इन प्रस्ताओं को कार्य में परिणत करने से टाइप-राइटर, छापे की मशीनों, लाइनो टाइप मशीन आदि की प्राय: सभी कठिनाइयाँ दूर हो जावेगी। अपनी लिपि के पर्याप्त चिन्ह छूट जावेंगे और हिंदी का लिखना और भी सरल हो जावेगा। देखने से यह प्रस्ताव क्रातिकारी जान पड़ते हैं पर वास्तव में ऐसा है नही। क्रांतिकारी तो ऐसा प्रस्ताव होगा कि वर्तमान चिन्हों को कम कर के केवल २५ तक रक्खे जावें और इस प्रकार रोमन की

बराबरी की जावे। प्रस्ताव तो केवल वर्तमान लिपि मे छोटे-मोटे परिवर्तनो का है। इन परिवर्तनो को साहस कर के स्वीकार करना चाहिए। वर्तमान पीढ़ी को सभव है

चित्र-८

"अेक सज्जन ने जिनके कअी स्वजन क्वेटा के भूकम्प में मर गये हैं, अेक १७ वर्ष की युवती की दशा का वर्णन करते हुअे अेक बड़ा हृदयविदारक पत्र लिखा है। वह युवती अपना पति, दो महीने का अेक बच्चा, ससुर और देवर यानी ससुराल के सभी स्वजनों को क्वेटा के भूकम्प में गंवा बैठी है। पत्रलेखक सज्जन कहते हैं कि यह लडकी किसी तरह बच गअी, और जो कपड़े अुस वक्त अुसके तन पर थे वही पहने हुअे यहां आअी है।"

अिस गद्यांश में प्रस्तावित चिह्नों में से केवल कुछेक का ही समावेश हो सका है।

इन के कारण कुछ असुविधा हो पर आनेवाली पीढियों को कितना लाभ होगा उस का अनुमान कर के आगे कदम बढ़ाना चाहिए। इसी मे कल्याण है।

# मैथिलकविकुलचूड़ामणि महामहोपाध्याय विद्यापति ठाकुर

[ लेखक—डाक्टर उमेश मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्० ]

बालचन्द विज्जावइ भासा,
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर सिर सोहइ,
ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ ॥

(कीर्तिलता)

## जन्मभूमि तथा वंशपरिचय

कविवर विद्यापति ठाकुर का जन्म मिथिला प्रात मे दरभगा जिला के अतर्गत जरैल परगना के विसपी नामक ग्राम मे हुआ था। यह ग्राम दरभगे से उत्तर कमतौल वी० एन्० डब्ल्यू रेलवे स्टेशन के बहुत ही समीप है। इस को लोग पहले गढ़विसपी भी कहा करते थे। सभव है यहाँ पूर्व मे किसी राजा का गढ़ रहा हो। ऐसे अनेक गढ अभी भी मिथिला मे खडहर के समान पडे है। इन मे खोज करने से अभी भी अनेक प्राचीन सिक्के आदि मिलते है। यही ग्राम विद्यापति के पूर्वजो का तथा विद्यापति का भी वासस्थान अनेक दिनो तक रहा। अभी कुछ ही दिन पूर्व इन के वंशज उक्त ग्राम को छोड़ कर मधुबनी सब डिवीजन के समीप सौराठ नामक ग्राम मे आ कर बस गए है।

विद्यापति के गुणो से लुब्ध महाराज मिथिलेश शिवसिह ने इसी ग्राम को अपने राज्यकाल मे कविवर को दान दे दिया था। यह दानपत्र ताबे के एक बडे पत्र में खुदा हुआ है। इसी दानपत्र के बल पर विद्यापति के वशजों ने १२५७ (फसली वर्ष) तक इस

ग्राम को अपने आयत्त में रक्खा था बाद को अंगरेजी सरकार के सेटलमेंट-अफ़सरों दानपत्र को जाली समझ कर उन लोगों से ग्राम छीन लिया। प्राय इसी कारण विद्यापति के वंशज सौराठ चले आए। इस दानपत्र का लेख निम्नलिखित प्रकार है ---

स्वति श्रीगजरथेत्यादिसमस्तप्रक्रियाविराजमान---श्रीमद्रामेश्वरीवरलब्धप्रसादभवानीभवभक्तिभावनापरायण---रूपनारायणमहाराजाधिराज---श्रीमच्छिवसिंहदेवपादा समरविजयिनो जरैलतप्पायां विसपीग्रामवास्तव्यसकललोकान् भूकर्षकाश्च समादिशन्ति मतमस्तु भवताम्। ग्रामोऽयमस्माभिः सप्रक्रियाभिनवजयदेव---महाराजपण्डितठक्कुर-श्रीविद्यापतिभ्यः शासनीकृत्य प्रदत्तोऽतो ग्रामकस्था यूयमेतेषां वचनकरीभूकर्षकादिकर्म करिष्यथेति लक्ष्मणसेन सम्वत् २९३ श्रावण सुदि ७ गुरौ।

श्लोकास्तु---

अब्दे लक्ष्मणसेनभूपतिमते वह्निग्रहद्व्यङ्किते (२९३ ल० सं०)
मासि श्रावणसंज्ञके मुनितिथौ पक्षेऽवलक्षे गुरौ।
वाग्वत्याः सरितस्तटे गजरथेत्याख्याप्रसिद्धे पुरे
दित्सोत्साहविबुद्धबाहुपुलकः सभ्याय मध्येसभम् ॥१॥

प्रज्ञावान् प्रचुरोर्वरं पृथुतराभोगं नदीमातृकं
सारण्यं ससरोवरं च विसपीनामानमासीमतः।
श्रीविद्यापतिशर्म्मणे सुकवये वाणीरसस्वादवित्
वीरश्रीशिवसिंहदेवनृपतिर्ग्रामं ददे शासनम् ॥२॥

येन साहसमयेन शस्त्रिणा तुङ्गवाहवरपृष्ठवर्त्तिना।
अश्वपत्तिबलयोर्बलं जितं गज्जनाधिपतिगौडभूभुजाम् ॥३॥

रौप्यकुम्भ इव कज्जलरेखा श्वेतपद्म इव शैवलवल्ली।
यस्य कीर्त्तिनवकेतककान्त्या म्लानिमेति विजितो हरिणाङ्कः ॥४॥

द्विषन्नृपतिवाहिनी रुधिरवाहिनी कोटिभिः
प्रतापतरुवृद्धये समरमेदिनी प्लाविता।
समस्तहरिदङ्गना चिकुरपाशवासःक्षमं
सितप्रसवपाण्डुरं जगति येन लब्धं यशः ॥५॥

मतङ्गजरथप्रदः कनकदानकल्पद्रुमः
तुलापुरुषमद्भुतं निजधनैः पिता दापितः।
अखानि च महात्मना जगति येन भूमीभुजा
परापरपयोनिधिप्रथममंत्रपात्रं सरः ॥६॥
नरपति कुलमान्यः कर्णशिक्षावदान्यः
परिचितपरमार्थो दानतुष्टार्थिसार्थः।
निजचरितपवित्रो देवसिंहस्य पुत्रः
स जयति शिवसिंहो वैरिनागेन्द्रसिंहः ॥७॥
ग्रामे गृह्णन्त्यमुष्मिन् किमपि नृपतयोहिन्दवोऽन्ये तुरुष्काः
गोकोल स्वात्ममांसैः सहितमनुदिनं भुञ्जते ते स्वधर्मम्।
ये चैनं ग्रामरत्नं नृपकररहितं पालयन्ति प्रतापैः
तेषां सत्कीर्त्तिगाथा दिशि दिशि सुचिरं गीयतां वन्दिवृन्दैः ॥८॥

विद्यापति के पूर्वजों का परिचय हमें अनेक प्रकार से प्राप्त है। कुछ तो इन के ग्रथो से ही तथा कुछ मिथिला मे प्रचलित 'पजीप्रबध' से। इन के पूर्वज सभी धुरंधर विद्वान् थे। सभो ने ग्रथ-रचना की है। प्राय ये लोग सभी मिथिला के भिन्न-भिन्न राजाओ के प्रधान कर्मचारी थे। विद्यापति के बीजीपुरुप विष्णुठाकुर थे। उन के पुत्र ठाकुर हरादित्य थे। इन के पुत्र कर्मादित्य थे। ये बडे विद्वान् तथा कर्मठ थे। इन्हो ने ऋक्, यजु., तथा साम वेद का विशेष अध्ययन किया था, जिस के कारण इन्हे 'त्रिपाठी' की उपाधि मिली थी। बाबू श्रीनगेद्रनाथ गुप्त का भी कहना है कि तिलकेश्वर नामक शिव के मठ मे एक कीर्तिशिला है जिस पर कर्मादित्य का नाम खुदा हुआ है। यह राजमत्री थे[1]। यह मिथिला के प्रथम ऐतिहासिक राजा कार्णाट-कुल-सभव नान्यदेव के मत्री थे[2] जिन की स्त्री का नाम सौभाग्यदेवी था। इन्ही की आज्ञा से कर्मादित्य ने मिथिलास्थ प्रसिद्ध हावीडीह के ऊपर एक देवी का सिंहासन बनवाया था, जिस के पत्थर मे खुदा हुआ है :—

[1] 'विद्यापति ठाकुरेर पदावली', भूमिका, पृ० १ (परिषद् ग्रन्थावली संस्करण)
[2] 'लिखनावली' की भूमिका, पृ० १

अब्दे (२१२)

मासि श्रावणसंज्ञके मुनितिथौ स्वात्यां गुरौ शोभने।
हावीपट्टनसंज्ञके सुविदिते हैहट्टदेवीशिला
कर्म्मादित्यसुमन्त्रिणेह विहिता सौभाग्यदेव्याज्ञया[1] ॥

इसी से यह मालूम होता है कि लक्ष्मणसेन संवत् २१२ अर्थात् १३३१ ख्रीस्ताब्द में कर्मादित्य वर्तमान थे। इन के दो पुत्र हुए—सांधिविग्रहिक देवादित्य (उपनाम प्रसिद्ध शिवादित्य) तथा राजवल्लभ भवादित्य। देवादित्य राजा हरिसिंह देव के प्रधान मन्त्री थे। इन्हों ने बहुत से तालाब खोदवाए, अनेक यज्ञ दानादि भी किए[2]।

देवादित्य के सात पुत्र हुए—(१) भाण्डागारिक वीरेश्वर, (२) महावार्तिक नैबंधिक धीरेश्वर, (३) महामहत्तक गणेश्वर, (४) भाण्डागारिक जटेश्वर, (५) स्थानांतरिक हरदत्त, (६) मुद्राहस्तक लक्ष्मीश्वर, (७) तथा राजवल्लभ शुभदत्त। ये सातों भाई मिथिला के प्रसिद्ध राजा कार्णाट-कुलालंकार हरिसिंह देव की सभा के प्रधान सभ्य थे। ये सब भिन्न-भिन्न राजविभागों के अध्यक्ष थे, यह इन के उपाधियों ही से विदित होता है।

इन से सब से ज्येष्ठ वीरेश्वर ठाकुर थे। इन के बनाए हुए एकमात्र ग्रंथ 'छंदोगपद्धति' से लोग परिचित है। इस के आदि में ग्रंथकार ने लिखा है—

देवादित्यकुले जातः ख्यातस्त्रैलोक्यसंसदि।
पद्धतिं विदधे श्रीमान् श्रीमान् वीरेश्वरः स्वयम्[3] ॥

अंत में भी लिखा है—'इति सप्रक्रियमहावार्तिकनैबंधिकठक्कुरश्रीवीरेश्वर-विरचिता छंदोगपद्धतिः समाप्ता[4] ॥

अपने पिता के समान वीरेश्वर भी राजसभा में पूर्ण आदृत थे, और अपनी बुद्धि के बल शत्रुओं को हरा कर इन्हों ने राज्य को निष्कंटक बना दिया था। इन्हों ने दहिभत

---

[1] 'पुरुषपरीक्षा', टिप्पणी, पृ० २६३ (राज दरभंगा-प्रेस संस्करण)
[2] 'कृत्यरत्नाकर', श्लोक ७, ८, पृ० २–३
[3] मिथिला हस्तलिखित पुस्तकों की सूची, जिल्द १, पृ० १२२
[4] वही।

ाम मे एक बहुत विस्तृत तालाब खुदवाया और वही अपने रहने के योग्य ए
नन भी बनवाया था। इन्हों ने बहुत से महादान किए और दरिद्र तथा योग
को पूर्ण दान दिए। विद्वानो की मंडली में सर्वदा इन की प्रशंसा होती थी
त-प्रसिद्ध धुरंधर विद्वान् थे[1]। इन के रचित 'छदोगपद्धति' ही के सहारे अ
थेला मे वैवाहिक सस्कार किया जाता है।

महावार्त्तिक नैबधिक धीरेश्वर ठाकुर भी अपने भाई के समान विद्वान् थे
ाजविभाग के प्रधानो मे गिने जाते थे। यद्यपि इन के बनाए हुए किसी भी
अभी तक नही लगा है तथापि इन के 'नैबधिक' उपाधि से यह स्पष्ट मालूम हो
न्हो ने भी कोई धार्मिक निबंध अवश्य रचा होगा, जिस के पाडित्य से मुग्ध हो
इन्ह भी नैबंधिक तथा महावार्त्तिक उपाधिओ से भूपित किया था।

इन से छोटे महामहत्तक गणेश्वर ठाकुर थे। यह भी राजमत्री थे और लो

---

[1] (क) गुणाम्भोधेरस्मादजनि रजनी जानिरुदधे-
रिवाम्भोजाद्देवो द्रविण इव मन्त्रीशतिलकः।
नवं पीयूषांशोरमृतमिव शक्तिप्रणयिनो
नयादर्थः श्लाघ्यादिव जगति वीरेश्वर इति ॥
—'कृत्यरत्नाकर', श्लो० ९

(ख) लक्ष्मीभाजो द्विजेन्द्रानकृतकृतमतिर्यो महादानदानैः
प्रादत्तोच्चैस्तु रामप्रभृतिपुरवरं शासनं श्रोत्रियेभ्यः।
वापी मर्केऽब्धिबन्धुं दहिसतनगरे निर्जितारातिदुर्गः
प्रासादस्तेन तुङ्गो व्यरचि सुकृतिना शुद्धसोपानमार्गः ॥
—'कृत्य०', श्लो० १०

(ग) यः सन्धिविग्रहविधौ विविधानुभावः
शौर्य्योदयेन मिथिलाधिपराज्यभारम्।
निर्मत्सरं सुनयसञ्चितकोषजालं
सप्ताङ्गसङ्घटनसम्भृतमेव चक्रे ॥
—'कृत्य०', श्लो० ११

(घ) प्रज्ञावतां सदसि संसदि वाक्पटूनां
राज्ञां सभासु परिषत्स्वपि मन्त्रभाजाम्।
चित्तेऽर्थिनाञ्च कवितास्वपि सत्कवीनां
वीरेश्वरः स्फुरति विश्वविलासकीर्त्तिः ॥
—'कृत्य०', श्लो० १२

(ङ) मिथिला ह० पु० सूची, जिल्द १, पृ० १०८, ५०८

प्रिय होने के कारण लोगो से राजा के समान आदत होते थे प्राय इन्ही कारणो से लोग इन्हे महासामताधिपति[१] तथा महाराजाधिराज[२] भी कहा करते थे। ये बडे धुरधर विद्वान् थे, इसी कारण इन्हे महामहोपाध्याय की उपाधि भी मिली थी[३]। ये आगमशास्त्र में बडे निपुण थे।[४] इन्हो ने अनेक ग्रंथ लिखे, जिन म से (१) 'आह्निकोद्धार वाजसनेयि'[५], (२) 'गगापत्तलक' (गगा नदी के सबध मे)[६], (३) तथा 'सुगति-

---

[१] अभूद्देवादित्यः सद्विजतिलको मैथिलपते—
निजप्रज्ञाज्योतिर्दलितरिपुचक्रान्धतमसः ।
समन्तादश्रान्तोल्लसितसुहृदर्कोपलमणौ
समुद्भूते यस्मिन् द्विजकुलसरोजैर्विकसितम् ॥१॥
अस्मान्महादानतडागयागभूदानदेवालयपूतविश्वः
वीरेश्वरोऽजायत मन्त्रिराजः क्ष्मापालचूडामणिचुम्बिताङ्घ्रिः ।
लसन्महीपालकिरीटरत्नरोचिश्छटारञ्जितपादपद्मः
अस्यानुजन्मा गुणगौरवेण गणेश्वरो मन्त्रिमणिश्चकास्ति ॥२॥
संशोषयन्ननिशमौर्वनिभप्रतापैर्गौड़ावनीपरिवृढं सुरतानसिन्धुं
धर्म्मावलम्बनकरः करुणार्द्रचेता यस्तीरभुक्तिमतुलामतुलं प्रशास्ति ॥३॥
श्रीमानेष महामहत्तकमहाराजाधिराजो महा-
सामन्ताधिपतिर्विकस्वरयशः पुष्पस्य जन्मद्रुमः ।
चक्रे मैथिलनाथभूमिपतिभिः सप्ताङ्गराज्यस्थितिं
प्रौढानेकवशम्वदैकहृदयो दोःस्तम्भसम्भावितः ॥४॥
—'सुगतिसोपान'—मि० ह० पु० सूची, जिल्द १, पृ० ५०५–५०६

[२] वही।

[३] यह उपाधि यद्यपि आजकल सरकार की तरफ से मिलती है किंतु पूर्व में अध्यापक को 'उपाध्याय' कहते थे (इसी का अपभ्रंश आजकल 'ओझा' तथा 'झा' हो गया है), जब उपाध्याय के पढाए हुए विद्यार्थी अध्यापक होकर उपाध्याय हो जाते थे तो उन के गुरु 'महोपाध्याय' कहलाने लगते थे, जैसे अनेककाव्य-टीकाकार मल्लिनाथ थे; एवं उक्त उपाध्याय के शिष्य के शिष्य जब पढ़ाने लगते थे तब क्रमशः परमगुरु 'महामहोपाध्याय', गुरु 'महोपाध्याय', तथा स्वयं 'उपाध्याय' कहलाने लगते थे। यही विभाग प्राचीन काल में था। इस के अनुसार गणेश्वर रचित 'आह्निकोद्धार' के अंत में लिखा है—'इति महामहोपाध्यायमहामहत्तकश्रीगणेश्वरविरचिते वाजसनेय्याह्निकोद्धारः समाप्तः'।
—मि० ह० पु० सूची, जिल्द १, पृ० ३६

[४] महामहत्तकः श्रीमानागमज्ञो गणेश्वरः ।
—मि० ह० पु० सूची, जिल्द १, पृ० ३६

[५] मि० ह० पु० सूची, जिल्द १, पृ० ३६–३७

[६] वही, पृ० ८४–८६

सोपान' जिस में वैतरणीदान से ले कर सपिंडीकरण-पर्यंत की श्राद्ध-क्रिया का मार्ग बतलाया गया है।[१] इन्हें कविवर विद्यापति ठाकुर ने 'साख्य-सिद्धांतपारगामी' और 'दडनीतिकुशल' बतलाया है।[२] ये बडे चतुर थे। इन की चतुरता के संबध मे विद्यापति ने निम्नलिखित एक सच्ची घटना का उल्लेख किया है,[३] जिस का मैं अपने पाठको के विनोदार्थ यहां उल्लेख करता हूँ---

देवगिरि स्थान में वामदेव नामक एक राजा रहते थे। ये मंत्री गणेश्वर के गुण-गान सुन कर क्षुब्ध हो गए और गणेश्वर के सरक्षक महाराज हरिसिंहदेव से इन्हो ने मैत्री कर ली जिस में भविष्य मे हरिसिंहदेव के मित्र होने के कारण गणेश्वर इन की भी सहायता करें। एक समय राजा वामदेव ने एक पत्र द्वारा महाराज हरिसिंहदेव से उपहार-स्वरूप एक पंडित और एक मूर्ख की याचना की। मित्र का पत्र पा कर हरिसिंह चिंतित हो गए कि किस को किस को भेजूँ। राजा को चिंतित देख मंत्री गणेश्वर ने कहा कि महा-राज! आप चिंता न करें। यह पत्र केवल आप के मंत्री की (अर्थात् मेरी) बुद्धि की परीक्षार्थ भेजा गया है। यह तो विचारिए, देवगिरि नामक राज्य में कौन सी वस्तु दुर्लभ है। मूर्ख और विद्वान् सभी वहाँ भी अवश्य हैं। इस लिए आप इस पत्र के उत्तर मे यह लिख दीजिए कि पंडित तो न मेरे राज्य में न आप के (अर्थात् देवगिरि) राज्य मे देख पडते हैं। बुद्धि का फल तो आत्मज्ञान है इस लिए बुद्धिमान् पुरुष इन सासारिक व्यवहार से तन्मय स्थानो मे क्यों कर रहेंगे। ये तो प्राय: काशी या अन्य किसी पुण्यतीर्थ मे या किसी निर्जन पर्वत के कंदरो मे समाधि मे लीन मिलेंगे। अत इन्ही स्थानो में पंडित के लिए खोज करनी चाहिए। मूर्ख तो सभी स्थानो मे अनायास मिलते हैं। अतएव तुच्छ मूर्ख को भेज कर क्या लाभ होगा। मैं केवल मूर्ख को पहचानने के चिन्ह मात्र लिख भेजता हूँ---

सुन्दर कर सुन्दर चरण, दइब सुसम्पति पाव।
जनिकर निन्दा लोक में, से पुन मूर्ख कहाव॥

[१] मि० हु० पु० सूची, पृ० ५०५--५०६
[२] 'पुरुषपरीक्षा'---सुबुद्धिकथा, पृ० ६७ (दरभंगा संस्करण)
[३] वही।

पाओल पुण्य न संचित भल।
शुभ सुयश जनिकर ५ पुन, सूक्ष कोटि स गेल ॥

इस उत्तर को पा कर राजा और उन के सभासद गणेश्वर सहित हरिसिंह की बड़ाई करने लगे। इसी समय किसी कवि ने कहा था—

मन्त्रि गणेश्वर गुण सकल, जे गुणि गणथि उदार।
से समुद्र घट नाओ पर, श्रम बिनु उतरथि पार॥
लौकिक वैदिक कार्ज मे, जावत नहिं विज्ञत्व।
तावत एहन हुनक कत, विधु सम यशो महत्व॥

इन के अतिरिक्त वीरेश्वर के और जो चार भाई थे उन के संबंध में केवल इतना ही अभी ज्ञात है कि ये सब पूर्ण विद्वान् थे और हरिसिंहदेव की सभा के प्रधान गण्यमान पुरुष थे।

वीरेश्वर ठाकुर के दो पुत्र थे—रत्नाकर-ग्रंथों के रचयिता प्रसिद्ध चंडेश्वर तथा गोविंददत्त। इन में चंडेश्वर बड़े विद्वान् हुए। अपने पिता के बाद हरिसिंह के यह प्रधान मंत्री बनाए गए। इन के प्रयत्न से राजा हरिसिंहदेव ने नेपाल राज्य पर अपना आधिपत्य प्राप्त किया और पशुपतिनाथ महादेव के मंदिर तक पहुँचे। यह कहा जाता है कि नेपालियों में अतिरिक्त केवल यही प्रथम ब्राह्मण थे जिन्हों ने पशुपतिनाथ की पूजा की, तथा उन को स्पर्श किया।[1] इन्हों ने भी अनेक महादान किए तथा ब्राह्मणों को पूर्ण दान दिए। १३१५ ईस्वी में इन्हों ने वाग्वती नदी के किनारे सोने से 'तुलापुरुष' नामक महादान किया था।[2] अनेक शास्त्रों के यह विद्वान् थे। धर्मशास्त्र में तो इन के समान प्राय उन

---

[1] (क) नेपाल गिरिदुर्गमं भुजबलादुन्मूल्य तद्भूपतीन्,
सर्वान् राघववंशजान् रविरिपोस्तुल्यः प्रतापानलैः।
देवं विश्ववरप्रदं पशुपतिं संस्पृश्य योऽपूजयत्
केषां नैष धरातले स्तुतिपदं मन्त्रीन्द्रचण्डेश्वरः॥
(ख) एष मैथिलमहीभुजा भुजद्वन्द्वदारितसमस्तवैरिणा।
श्रीविधायिनि कुलक्रमागते सन्धिविग्रहपदे पुरस्कृतः॥
इन के अतिरिक्त और भी श्लोक 'कृत्यरत्नाकर' में देखिए।

[2] रसगुणभुजचन्द्रैः सम्मिते शाकवर्षे (१२३६)=१३१५ ईस्वी।
सहसि धवलपक्षे वाग्वतीसिन्धुतीरे।
अदिततुलितमुच्चैरात्मना स्वर्णराशि
निधिरखिलगुणानामुत्त...साम्मनाथ:(?)॥
—'दानरत्नाकर', हस्त० नं० २०६९, राजेन्द्रलाल मित्र की सूची।

दनो कोई भी नही था। इन्हो ने सात प्रधान निबध लिखे—'व्यवहाररत्नाकर', 'कृत्यरत्नाकर', 'दानरत्नाकर', 'शुद्धिरत्नाकर', 'पूजारत्नाकर', 'विवादरत्नाकर', तथा 'गृहस्थरत्नाकर'। इन के अतिरिक्त 'राजनीतिरत्नाकर'[१] तथा 'शैवमानसोल्लास'[२] भी इन्ही के बनाए हुए ग्रथ है। ये ग्रंथ सब मिथिला मे तो आदृत होते ही है किंतु अन्यत्र भी, यहाँ तक कि न्यायालयों मे भी पूर्ण सम्मानित होते है। चंडेश्वर ने इतने बडे विद्वान् होने पर भी अपनी मातृभाषा मैथिली का अनादर कभी न किया। अपने रत्नाकरो मे जहा कही उन्हे अपरिचित सस्कृत शब्दो का प्रयोग करना पड़ा तुरत उन्हों ने उसे समझाने के लिए उन शब्दों का अर्थ मैथिली मे भी दिया है। ऐसे शब्द लगभग एक सौ से अधिक अभी तक मिले है[३]।

इन के छोटे भाई गोविंददत्त के सबध मे केवल इतना ही अभी मुझे मालूम है कि इन्हो ने 'गोविंदमानसोल्लास' नाम विष्णुभक्ति-संबधी एक पुस्तक लिखी थी। इन्हो ने अपने को गुणी अर्थात् विद्वान्, नयसागर तथा हरिकिंकर[४] बतलाया है।

गणेश्वर ठक्कुर के एकमात्र पुत्र रामदत्त ठाकुर थे। यह भी सांधिविग्रहिक मत्री तथा राजपडित थे। इन के बनाए हुए अभी तीन ग्रथ मुझे मालूम है—(१) 'उपनयन-पद्धति', (२) 'विवाहादिपद्धति', तथा (३) 'शूद्रश्राद्धपद्धति'[५]। प्रथम दो ग्रंथ तो अनेक बार मुद्रित हो चुके है। इन्ही के आधार पर आजकल मिथिला मे उपनयनादि सस्कार होते है। यह भी महामहोपाध्याय[६] थे।

धीरेश्वर ठाकुर के भी दो पुत्र थे—कीर्त्ति ठाकुर तथा जयदत्त ठाकुर। इन

---

[१] 'बिहार ऐंड ओरिस्सा रिसर्च सोसाइटी जर्नल' में छपा हुआ है।

[२] मिथिला हस्तलिखित पुस्तक-सूची, जिल्द १, पृष्ठ ४५५—५६

[३] श्री उमेशमिश्र—'चंडेश्वर ठाकुर ऐंड मैथिली'।
—एलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज़, जिल्द ४, पृ० ३५३—३५६

[४] तस्यात्मजेन गुणिना नयसागरेण
गोविन्ददत्तकृतिना हरिकिंकरेण।
येनामुना जनयता जनतानुरागं
लोकत्रयं धवलितं विमलैर्यशोभिः॥
—'गोविन्दमानसोल्लास', हस्त०, मि० ह० पु० सूची, जिल्द १, पृ० १०७—१०८

[५] मि० ह० पु० सूची, जिल्द १, पृ० ४५२

[६] वही।

के संबंध की कथाएँ अभी भी अंधकार में पड़ी हुई हैं जयदत्त के भी दो पुत्र थे गौरीपति तथा गणपति। गणपति ठाकुर बड़े भाग्यवान् पंडित थे। यह उस गणपति ठाकुर से जिन्हो ने भाट्टमतमीमांसा का पूर्ण अध्ययन किया था[1] और जिन का बनाया हुआ केवल एकमात्र ग्रंथ 'गंगाभक्तितरंगिणी' हम लोगों को मिला है, भिन्न हैं। क्योंकि उक्त ग्रंथ में विद्यापति की तथा उन से भी अभिनव विद्वानों की सम्मति पाई जाती है। यह मिथिलेश महाराज गणेश्वर के सभापंडित थे।

गणपति ठाकुर के एकमात्र पुत्र मैथिलकविकुलचूड़ामणि महामहोपाध्याय विद्यापति ठाकुर हुए[2]। इन का जन्म किस वर्ष में हुआ था, उस का अभी तक कोई विशेष प्रमाण नहीं मिला है। किन्तु कतिपय घटनाओं के आधार पर, जिस का वर्णन नीचे किया जायगा, यह कहा जाता है कि २४१ लक्ष्मण सेन संवत् में इन का जन्म हुआ था।

जैसा कि आगे चल कर मालूम होगा विद्यापति का जीवन मिथिला के अनेक राजाओं के जीवन के साथ संबद्ध है और इन्हीं राजाओं के समय आदि की आलोचना ही से विद्यापति के जीवन की घटनाएँ भी मालूम होती हैं। अतः यहाँ पर संक्षेप में मिथिला के उन राजाओं का क्रमिक उल्लेख करना अधिक आवश्यक है जिन के दरबार में कवि ने अपना सारा जीवन व्यतीत किया था।

## विद्यापति-समकालीन मिथिला के राजाओं का अति संक्षिप्त विवरण

सब से प्रथम मिथिला के ऐतिहासिक राजा नान्यदेव थे। किसी कारण कार्णाट देश को छोड़ १०१९ शाके अर्थात् १०९७ ईस्वी में इन्हो ने सीतामढ़ी रेलवे स्टेशन से

---

[1] सद्विद्याकुलयोर्विशेषमखिलं विज्ञाय नान्यो ददौ,
वृत्तिं यस्य पितामहाय मिथिलाभूमण्डलाखण्डलः।
श्रीधीरेश्वरसूनुरन्वहमसावभ्यस्य भाट्टं मतं,
गंगाभक्तितरंगिणीं गणपतिर्ब्रूते सतां प्रीतये ॥

—मि० ह० पु० सूची, जि० १, पृष्ठ ८८, तथा
गं० भ० त० पृ० १ (दरभंगा संस्करण)

[2] 'जन्मदाता मोर गणपति ठाकुर, मिथिला देश करु वास।
पंच गौड़ाधिप सिवसिंह भूपति, कृपाकरि लेल निज पास ॥' इत्यादि विद्यापति ने स्वयं कहा है।

कुछ आगे कोउली ग्राम के समीप सिमराँवगढ़ ने अपनी राजधानी बनाई। इसी स्थान पर नान्यदेव तथा इन के वंशजों ने लगभग २२९ वर्ष राज्य किया। इस के बाद मिथिला का राज्य मैथिल ब्राह्मणों के आधिपत्य में आया।

ये मैथिल ब्राह्मण ओइनी ग्राम के उपार्जक थे और इसी लिए ये सब 'ओइनिवार' ब्राह्मण कहलाते थे। यह 'ओइनिवार' या 'ओइनी' वंश बहुत ही प्रसिद्ध था। इस वंश के लोग ब्राह्मण पंडित होते हुए भी युद्धक्षेत्र में शत्रुओं के साथ बड़ी वीरता से लड़ने वाले थे[१]। उन दिनों सुल्तान फीरोज शाह (१३५१-८८) के अधीन मिथिला का राज्य हो गया। सब से पहले ओइनी ग्रामोपार्जक नाहु ठाकुर के अतिवृद्धप्रपौत्र राजपंडित सिद्ध कामेश्वर को राज्य दिया गया[२]। किंतु उन्हों ने राज्य को विघ्नस्वरूप मान इसे स्वीकार नहीं किया। अतः उन के ज्येष्ठ पुत्र भोगीश्वर ठाकुर को राज्य मिला[३]। इन्हों ने बड़े गौरव के साथ लगभग ३३ वर्ष मिथिला का राज्य किया। और सन् १३६० ईस्वी में राजा भोगीश्वर ठाकुर मर गए। यह सुरतान के बड़े प्रिय थे।[४] इन की स्त्री का नाम पद्मा था[५]। महाराज कामेश्वर ठाकुर के द्वितीय पुत्र भवसिंह उपनाम भवेश्वरसिंह थे। भोगीश्वर के बाद इन के पुत्र गणेश्वर राजा हुए और कुछ राज्य का हिस्सा भवसिंह को भी मिला। इस लिए एक प्रकार से राज्य विभक्त हो कर इन दोनों के हाथ बट गया और ये दोनों राजा बन बैठे।

---

[१] ओइनी वंस पसिद्ध जग को तसु करइ न सेव।
दुहु एक्कत्थ न पाविअइ भुअबइ अरु भूदेव॥
—'कीर्तिलता', पल्लव १

[२] ताकुल केरा बड्डिपन कहवा कओन उँपाए।
जज्जम्मिअ उप्पन्नमति कामेसर सन राए॥
—'कीर्तिलता', पल्लव १

[३] तसु नन्दन भोगीसराअ वर भोग पुरन्दर
हुअ हुआसन तेजिकन्ति कुसुमा उँह सुन्दर।
जाचक सिद्धि केदार दान पञ्चम बलि जानल॥
—'कीर्तिलता', पल्लव १

[४] पिअसख भणि पिअरोजसाह सुरतान समानल।
—'कीर्तिलता', पल्लव १

[५] 'राउ भोगिसर गुन नागरा रे पद्मादेवि रमान'।
—विद्यापति, गान ८०१ (नगेन्द्रनाथ गुप्त संस्करण)

राजा गणेश्वर नीतिनिपुण थे और राजा के सभी गुणों से युक्त थे। यह बड़े दानी, मानी, बली, यशस्वी तथा प्रतापवान् थे[1]। इन्हों ने लगभग ११ वर्ष तक मिथिला का राज्य किया। इसी अवसर पर अगहन कृष्ण ५ मंगल, लक्ष्मण सेन संवत् २५२, (१३७१ ई०) को असलान नामी एक तुरक ने राज्य के लोभ से गणेश्वर को पहले अपना विश्वास दिला कर अन्त में मार डाला[2]। किन्तु फिर भी असलान को राज्य नहीं मिल सका। गणेश्वर के तीन वीर पुत्र थे—वीरसिंह, कीर्त्तिसिंह और राजसिंह।[3] जौनपुरेश्वर इब्राहीम शाह की सहायता से मलिक असलान को मार भगा कर इन्हों ने फिर से मिथिला का राज्य अपने अधीन किया[4]। प्रायः वीरसिंह उसी लड़ाई में मारे गए और इसी लिए इब्राहीम शाह ने लड़ाई के बाद कीर्त्तिसिंह को राजा बनाया[5]। कीर्त्तिसिंह बड़े प्रतापी राजा हुए। इन्हीं का वर्णन कवि विद्यापति ने अपनी 'कीर्त्तिलता' में किया है।

---

[1]तासु तनअ नअ बिनअ गुन गरुअ राए गएनेस।
जे पट्ठाइस दसओ दिस कित्तिकुसुम संदेस ॥
दान गरुअ गएनेस जेन जाचक मन रञ्जिअ।
मान गरुअ गएनेस जेन रिउँ वड्डिम भञ्जिअ ॥
सत्ते गरुअ गएनेस जेन तुलिअओ आखण्डल।
कित्ति गरुअ गएनेस जेन धवलिअ महिमण्डल ॥
लावन्ने गरुअ गएनेस पुनु देक्खि सभासई पंचसर।
भोगीस तनअ सुपसिद्ध जग गरुअ राए गएनेस बर ॥
—'कीर्तिलता', पल्लव १

[2]लक्खणसेन नरेश लिहिअ जवे पक्ख पंच वे।
तम्महु मासहि पढम पक्ख पञ्चमी कहिअजे ॥
रज्जलुद्ध असलान बुद्धि विक्कम वले हारल।
पास बइसि बिसवासि राए गएनेसर मारल ॥
—'कीर्तिलता', पल्लव २

[3]सिरि अह्म सहोअर राअसिंह
—'कीर्तिलता', पृ० ७५ (काशी ना० प्र० सभा संस्करण)

[4]महराअन्हि मल्लिकें चप्पि लिऊँ।
असलान निआन हु पिट्ठि दिऊँ ॥
—'कीर्तिलता', पल्लव ४

[5]बन्धवजन उच्छाह कर तिरहुति पाइअ रूप।
पातिसाह जसु तिलक करु कित्तिसिंह भउँ भूप ॥
—'कीर्तिलता', पल्लव ४

न तो कीर्त्तिसिंह के, न वीरसिंह के, न राजसिंह ही के कोई संतान हुई। अतएव मिथिला का राज्य कीर्त्तिसिंह के पितामह-भ्रातृपुत्र देवसिंह के अधिकार में आया। देवसिंह महाराज भवसिंह की दूसरी स्त्री के पुत्र थे। भवसिंह की तीन रानियाँ थीं। प्रथम स्त्री से उदयसिंह, द्वितीय से देवसिंह तथा त्रिपुरासिंह, तथा तीसरी से हरसिंह। राजा भवसिंह ने भी बड़े पराक्रम के साथ राज्य किया। शत्रुओं को जीत कर, नाना प्रकार के यज्ञ कर, ब्राह्मणों को विविध दान दिया। अंत में वाग्वती नदी के पवित्र तट पर शिव मूर्त्ति के समीप भवसिंह ने अपने शरीर को त्याग दिया। इन की दो रानियाँ इन के साथ सती हो गई[1]।

विद्यापति ने अपने 'शैवसर्वस्वसार' में लिखा है कि राजा भवसिंह का प्रताप इतना बढ़ा-चढ़ा था कि जितने छोटे-छोटे राजा उन दिनों थे, वे सब उन के चरण स्पर्श करते थे[2]। इस में कोई संदेह नहीं कि कवि ने अपने वर्णन में अत्युक्ति की है तथापि बिना किसी अंश के सत्य हुए अत्युक्ति भी नहीं की जा सकती।

उदयसिंह निस्संतान मर गए। त्रिपुरासिंह के दो पुत्र सर्वसिंह तथा अर्जुनसिंह हुए। इन के कोई संतान न हुई। हरसिंह के चार पुत्र थे—नरसिंह (उपनाम दर्पनारायण), रत्नेश्वरसिंह, राजा रघुसिंह (उपनाम विजयनारायण) तथा कुमार ब्रह्मसिंह (उपनाम हरिनारायण)। इन में केवल नरसिंह का वंश चला और अन्य तीनों निस्संतान ही परलोक चले गए।

इस लिए भवसिंह के बाद देवसिंह राज्य करने लगे। इन्हों ने अपना उपनाम 'गरुडनारायण' रक्खा था। इन्हों ने ओइनी राजधानी को छोड़ कर दरभंगा के समीप

[1]भुक्त्वा राज्यसुखं विजित्य हरितो हत्वा रिपून् संगरे
हुत्वा चैव हुताशनं मखविधौ भृत्वा धनैरर्थिनः।
वाग्वत्यां भवदेवसिंहनृपतिस्त्यक्त्वा शिवाग्रे वपुः
पूतो यस्य पितामहः स्वरगमद्दारद्वयालंकृतः॥
—'पुरुषपरीक्षा' के अंत में।

[2]गङ्गोत्तुङ्गतरङ्गितामललसत् कीर्तिच्छटाक्षालित-
क्षोणीक्ष्मातलसर्वपर्वतवरो वीरव्रतालङ्कृतः।
भूपालावलिमौलिमण्डलमणिप्रत्यर्चिताङ्घ्रिद्वया-
म्भोजश्रीभवसिंहभूपतिरभूत् सर्वार्थकल्पद्रुमः॥

नाम की अपने नाम पर बसाई[1] इन्हों ने अनेक बड़े-बड़े तालाब
जिन में सब से बड़ा एक सकुरी बी० एन्-डब्ल्यू स्टेशन के पास है। याचक ब्राह्मणों
ों ने ऐसे-ऐसे दान दिए, जो और दूसरा कोई नहीं दे सका था। सोने का तुला-
न कर ब्राह्मणों को बाँट दिया था। हाथी, घोड़े, रथ आदि का तो कहना ही क्या
पने पूर्वजों की तरह यह भी बड़े पराक्रमी तथा युद्ध में शत्रुओं को जीतने वाले
यह बड़े गुणी भी थे[4] और गुणवानों का आदर करते थे। इन के समय में विद्यापति
रिक्रमा' नामक ग्रंथ लिखा था[5]। और भी कितने ग्रंथ इन के आधिपत्य में रचे
यह सभी के बड़े प्रियपात्र राजा थे। ल० सं० २९३, शाके १३२४, तथा
ईस्वी में चैत्र कृष्ण (तिथि ६) बृहस्पतिवार, ज्येष्ठा नक्षत्र में गंगा जी के किनारे

[1] 'इंडियन ऐंटिक्वेरी', पृ० ५७, जिल्द २८, १८९९, 'हिस्ट्री अव् तिरहुत',
२

[2] (क) सक्कुरीपुरसरोवरकर्त्ता हेमहस्तिरथदानविदग्धः।

—'पुरुषपरीक्षा' के अंत में।

(ख) दत्तं येन द्विजेभ्यो द्विरदमथमहादानमन्यैरशक्यं
का वार्त्ता त्वन्यदाने कनकमयतुलापूरुषो येन दत्तः।
यस्य क्रीडातडागस्तुलयति सततं शासने वारिराशिं
देवोऽसौ देवसिंहः क्षितिपतितिलकः कस्य न स्यान्नमस्यः॥

—'शैवसर्वस्वसार' में विद्यापति।

[3] (क) भाति यस्य जनको रणजेता देवसिंहनृपतिः।

—'पुरुषपरीक्षा' का अन्त।

(ख) दृप्यद्दुर्वारवैरिद्विपकुलदलनाकण्ठकण्ठीरवश्रीः। इत्यादि

—'शैवसर्वस्वसार'।

[4] वही।

[5] देवसिंहनिदेशाच्च नैमिषारण्यवासिनः।
शिवसिंहस्य पितुः सुतपीडनिवासिनः॥
पञ्चषष्टिदेशयुतां पञ्चषष्टिकथान्विताम्।
चतुःखण्डसमायुक्तामाह विद्यापतिः कविः॥

—'भूपरिक्रमा'—हिस्ट्री अव् तिरहुत, पृ० ७१

[6] श्यामनारायणसिंह, 'हिस्ट्री अव् तिरहुत', पृ० ७१

इन्हो ने अपनी ऐहिक लीला समाप्त की[1]। इन की स्त्री का नाम हासिनी देवी था। विद्यापति ने इन दोनो के नाम पर भी कविताएँ बनाई[2]।

महाराज देवसिह के दो पुत्र थे---शिवसिह तथा पद्मसिह। शिवसिह ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण पिता के बाद राजा बने। इन्हो ने अपना उपनाम 'रूपनारायण' रक्खा था। देवकुली से हटाकर इन्हो ने राजधानी गजरथपुर उपनाम 'शिवसिहपुर' मे स्थापित की। इन का जन्म ल० स० २४३ अर्थात् १३६२ ईस्वी मे हुआ, ऐसी लोगो की धारणा है। २९३ ल० सं० मे शिवसिह राजगद्दी पर बैठे। विद्यापति ने लिखा है कि जिस समय देवसिह की मृत्यु हुई उसी समय मुसलमानो ने इन के ऊपर आक्रमण किए। परन्तु शिव-सिह ने बडी वीरता के साथ दोनो काम सम्हाला। पिता की अंत्येष्टि क्रिया तथा यवनो को यमघर भेजना। यवन सेना पराजित हो कर भाग चली। सभी लोग आनदित हुए और देवसिह के शोक को भूल गए[3]। राजा शिवसिह ने अपने पराक्रम से गौड़ देश तथा

---

[1] अनलरन्ध्रकर (२९३) लक्खण णरवइ सक समुद्द कर अगिनि ससी (१३२४)।
चैतकारि छठि जेठा मिलिओ वार बेहप्पइ जाउलसी ॥
देवसिह जी पुहमी छड्डइ अद्धासन सुरराअ सरू।
. . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . .
सतबले गंगा मिलित कलेवर देवसिह सुरपुर चलिओ।
---विद्यापति।

[2] (क) देवसिह नृपनागर रे, हासिनि देविकन्त
---'विद्यापति', प० सं० ३१ नगेन्द्रनाथ
(ख) हासिनिदेविपति देवसिह नरपति गरुडनारायण रङ्गे भुलली।
वही, २६९

[3] एक दिस यवन सकल दल चलिओ
एक दिस सञो जमराअ चरू।
दुहुए दलहि मनोरथ पूरओ
गरुअ दाप सिवसिह करू।
सुरतरुकुसुम घालि दिसि पुरेओ
दुन्दहि सुन्दर साद धरू।
वीरक्षत्र देखन्त को कारन
सुरगन सोभए गगन भरू।

राजाओ को पराजित किया[1] य बहुत मदर तथा सवि रग क य[2]
न की अनेक स्त्रियां थी—लक्ष्मणा देवी (प्रसिद्ध लखिमा देवी या ठकुराइनि),
वी[3], सुखमा देवी[4], मोरम देवी[5], मेधा देवी[6] तथा रूपिणी देवी[7]। इन
तो विद्यापति की कविताओ मे पाए जाते है। मालूम नहीं कि और भी रही
विरह-संबंधी पद मे विद्यापति ने कहा है—'राजा शिवसिंह बस दस सजनी,

- -

आरम्भिअ अन्तेट्ठि महामख
राजसूअ असमेध जहाँ।
पण्डित घर आचार बखानिअ
याचक काँ घर दान कहाँ।
विज्जावइ कइवर एहु गावए
मानव मन आनन्द भओ।
सिंहासन सिवसिंह बइट्ठो
उच्छवै बइरस विसरियओ।

[1] क्षोणीभर्त्तुरमुष्य वैरिवनितावैदग्ध्यदीक्षागुरो-
रद्भूतः शिवसिंहदेवनृपतिर्वीरावतंसः सुतः।
शौर्य्यार्बाज्जितगौडगज्जनमहीपालोपनम्रीकृता—
नै त्तुङगमतङगजाश्वकनकछत्राभिरामोदयः॥
—'शैवसर्वस्वसार', विद्यापति

[2] राजा सिवसिंह रूपनरायन सामसुन्दर काय।
—विद्यापति पद, पृ० ५५ (गंगानंदसिंह संस्करण)
विद्यापति कविवर एहो गावए, नव जउवन नव कन्ता।
सिवसिंह राजा एहो रस जानए, मधुमति देवि सुकन्ता
—'विद्यापति पदावली', भूमिका, नगेंद्रनाथ संस्करण, पृ० १६

[4] भनहि विद्यापति अरे वरजउवति मेदिनि मदनमसाने।
लखिमा देवि पति रूपनरायन सुखमादेवि रमाने॥
—'विद्यापति पदावली', भूमिका

[5] बूझ सिवसिंह ई रस रसमय सोरमदेवि समाज
—वि० प० पृ० १५
यद्यपि यहाँ "समाज" से यह सम्बंध ठीक नहीं मालूम होता है
० ९६

[6] मेधादेविपति रूपनराएन, सुकवि भनथि कण्ठहार रे
—नगेंद्रनाथ, पद सं० ६०

[7] विद्यापति भन एहो रस जान, राए सिवसिंह रूपिनिदेइ रमान
—'विद्यापति पदावली', भूमिका, नगेंद्रनाथ

मोदवती देड कन[1]।' इस से 'मोदवती' भी शिवसिंह की स्त्री थी, यह मालूम पडता है। किंतु कोई-कोई इस को विद्यापति का पद होने मे सदेह करते है, परंतु इस से क्या ?

इन मे से लखिमा देवी प्राय सब से बडी थी। इन्ही को राजा ने पट्टमहिषी बनाया था। अतएव सब कार्य मे इन की प्रधानता देख पडती है। यह बडी पडिता थी। इन के रचित मैथिली मे कोई पद्य है वा नहीं यह अभी नहीं कहा जा सकता, किंतु संस्कृत मे तो अनेक है। पाठको के मनोरंजन के लिए उन की कुछ कविताओ का उल्लेख यहाँ कर देना अनुचित न होगा।

लखिमा देवी की एक कन्या थी और उचित समय पर इन का विवाह भी हो गया था। जामाता किसी कारणवश बहुत दिनो तक अपनी पत्नी के पास नहीं आया यह समाचार किसी सखी के मुख मे सुन लखिमा देवी ने जामाता के पास निम्नलिखित पद्य लिखवा कर भेज दिया—

> सन्तप्ता दशमध्वजस्थ[2] गतिना संमूर्च्छिता निर्जले
> तुर्य्य[3]द्वादश[4]वद्द्वितीय[5]मतिमन्नेकादशा[6]भस्तनी।
> सा षष्ठी[7] कटिपंचमी[8] च नवमभ्रू:[9] सप्तमी[10]वर्जिता
> प्राप्नोत्यष्टम[11]वेदनां त्वमधुना तूर्णं तृतीयो[12] भव॥

कहा जाता है एक समय लखिमा को देख कर किसी पंडित ने उनको संबोधन कर कहा—

> किं मां हि पश्यसि घटेन कटिस्थितेन
> वक्रेण चारुपरिमीलितलोचनेन।
> अन्यं हि पश्य पुरुषं तव कार्ययोग्यं
> नाहं घटांकितकटीं प्रमदां स्पृशामि॥

---

[1] पदावली सं० ६९४। नगेंद्रनाथ गुप्त का कहना है कि सिवसिंह की छः स्त्रियाँ थीं। परिषद्ग्रंथावली, पृ० ४१६

[2] इस श्लोक में जितने संख्यावाचक शब्द हैं उन से मेष आदि राशिओं की गणना यहाँ होती है। यथा—दशम=मकर; मकर + ध्वज=कामदेव। [3] तुर्य=कर्क=केकड़ा। [4] द्वादश=मीन। [5] द्वितीय=वृष=पशु या मूर्ख। [6] एकादश=कुम्भ=घड़ा=कुम्भस्तनी। [7] षष्ठी=कन्या। [8] पंचमी=सिंह=सिंह के समान पतली कटिवाली। [9] नवम=धनुष। [10] सप्तमी=तुला। [11] अष्टम=वृश्चिक=वृश्चिक के डंस के वेदना के समान। [12] तृतीय=मिथुन=गृहस्थोचित कर्म करो।

इस मिथ्या दोषारोपण से दुखी लखिमा ने कहा

सत्यं ब्रवीमि मकरध्वजबाणलुब्ध
नाहं त्वदर्थमनसा परिचिन्तयामि।
दासोऽद्य मे विघटितस्तव तुल्यरूपः
स त्वं भवेसहि भवेदिति मे वितर्कः॥

इन के अतिरिक्त और भी कुछ श्लोक लखिमा के नाम से प्रसिद्ध हैं। जैसे—

चपलं तुरग परिणर्तयतः
पथि पौरजनान् परिमर्दयतः।
नहि ते भुजभाग्यभवो विभवो
भगिनीभगभाग्यभवो विभवः॥

भङक्त्वा भोक्तुं न भुङक्ते कुटिलविषलतां कोटिमिन्दोर्वितर्कात्
ताराकारास्तृषार्त्तः पिबति न पयसा विप्लुषः पत्रसंस्थाः।
छायामम्भोरुहाणामलिकुलशबलां वीक्ष्य सन्ध्यामसन्ध्यां
कान्ता विश्लेषभीरुर्दिनमपि रजनी मन्यते चक्रवाकः[1]॥

और भी—

उत्कूजति श्वसति मुह्यति याति तीरं
तीरात्तरुं तरुवरात् पुनरेति वापीम्।
वाप्यां न रज्यति न चात्ति मृडालखण्डं
चक्रः क्षपासु विरहे खलु चक्रवाक्याः॥

आवेपते भ्रमति सर्पति मोहमेति
कान्तं विलोकयति कूजति दीनरूपम्।
अस्ते हि भानुमधिगच्छति चक्रवाकी
हा जीवितेरपि वरं मरणं वियोगे॥

---

[1] ये सब श्लोक मिथिला में प्रसिद्ध हैं। 'इंडियन एंटिक्वेरी'—१८८६, पृ० ३४८ में भी देखिए।

बाले विश्राम्भकाले तव वदनविधौ कान्तिपानीयपूरे
मग्नं मे नेत्रयुग्मं कुचकलशसमालम्बनं प्राप्य तस्थौ।
तस्मान्नाभीहृदान्तं सुललितत्रिवलिप्रान्तकाल्यालसन्तं
दूरादालोक्य भीतं द्वयमपि कलशं नैव हातुं शशाक[१]॥

इत्यादि अनेक श्लोक लक्ष्मणा देवी के बनाए हुए मिलते है। इस से यह स्पष्ट है कि वह स्वय परम विदुषी थी। इसी लिए विद्यापति की कविताओ पर मुग्ध रहा करती थी। इन्ही गुणों के कारण शिवसिंह भी इन्ही से विशेष स्नेह रखते थे।

शिवसिह बाल्यकाल ही से बडे पराक्रमी थे। उन्हे सुल्तानो की अधीनता बचपन ही से अप्रिय थी। इस लिए एक बार देवसिह के राज्य-काल ही में मुसलमानो ने मिथिला पर चढाई की और देवसिह पराजित हो गए। किन्तु फिर आधिपत्य स्वीकार करने पर देवसिह को राज्य मिल गया। परन्तु मुसलमान शिवसिह ही को अनर्थमूल जान इन्हे दिल्ली ले गए। इस से सभी बडे दुखी रहने लगे। शिवसिह के परमप्रिय वयस्य कवि विद्यापति शिवसिंह को छुडा लाने के उद्देश्य से दिल्ली को गए। वहाँ जा कर बादशाह से अपना परिचय निवेदन किया और कहा कि—मै न देखी हुई चीज का भी देखी हुई के समान वर्णन कर सकता हूँ। तुरत यवनो ने इस की परीक्षा आरभ कर दी। बिना देखे हुए एक सद्य स्नाता का वर्णन करने की आज्ञा पा कर विद्यापति ने कहा—

कामिनि करए सनाने
हेरितहि हृदय हनए पँचबाने।
चिकुर गरए जलधारा
जनि मुख-ससि डर रोअए अँधारा।
कुचजुग चारु चकेवा
निअ कुल आनि मिलाओत कोने देवा।
तें संकाञो भुजपासे
बाँधि धएल उडि जाएत अकासे।

---

१ ये श्लोक 'विद्याकर-साहस्री' नामक अमुद्रित मिथिला-कवितावली से लिए गए हैं। लखिमा के बनाए हुए ऐसे बहुत से श्लोक और भी हैं।

१४

तितल वसन तनु लागए

मुनिहुक मानस मनमथ जागए।

भनइ विद्यापति गावए

गुनमति धनि पुनमत जनि पावए॥

किंतु सुल्तान को इस से पूरा संतोष न हुआ। विद्यापति की दूसरी परीक्षा हुई। एक दिन एक काठ की संदूक में विद्यापति बंद कर एक कुएँ के भीतर डोरी से लटका दिए गए। और आदेश मिला कि कुएँ के ऊपर भाग में जो कुछ होता हो उस का वर्णन करो। इसी अवसर पर एक सुंदरी दासी कुएँ पर आ कर किसी कार्य के लिए झुक कर अपने मुँह से आग फूँक रही थी। झट विद्यापति ने कविता बनाई—

सुन्दरि निहुरि फुकु आगि।

तोहर कमल[1] भमर[2] मोर देखल

मदन ऊठल जागि।

जों तोंहे भामिनि भवन जएवह

ऐवह कोनहु वेला

जों ई संकट सञों जी वाँचत

होयत लोचन मेला।

इतना सुनते ही बादशाह को विद्यापति के वचनों पर पूरा विश्वास हो गया और कविता के माधुर्य से मुग्ध हो कर उन्हों ने तुरत विद्यापति ही को नहीं किंतु शिवसिंह को भी मुक्त कर दिया। स्वाभाविक कविओ में ऐसी अद्‌भुत शक्ति अधिकतर पाई जाती है।

फिर क्या था ? विद्यापति ने अति प्रसन्न हो कर ऊपर कही हुई कविता की पूर्त्ति इस प्रकार की—

भन विद्यापति चाहथि जे विधि[3]

करथि से से लीला।

राजा सिवसिंह बन्धन मोचल

तखन सुकवि जीला॥

---

[1] कुच। [2] नेत्र। [3] विधाता या ईश्वर।

इस प्रकार मक्त हो कर शिवसिह अपने घर आए शिवसिह स्वय बड गणी थे और गुणवालो का पूर्ण आदर करते थे। इन की दानशीलता अभी भी मिथिला मे अविच्छिन्न रूप मे प्रख्यात है[1]। मिथिला के रजवाडो में तुला-पुरुष दान करने की प्रथा बहुत प्राचीन थी और बडे लोग इसे आवश्यक भी समझते थे। इस लिए शिवसिह ने भी अपने पिता से सुवर्ण का तुलादान करवाया[2]। देवो के मदिर इन्हो ने बनवाए तथा इन्ही ने अनेक बडे-बडे तालाव खुदवाए जिस के सबंध में मिथिला मे प्रसिद्ध कथन है---

**पोखरि रजोखरि आओर सब पोखरा**

**राजा सिवसिह आओर सब छोकरा।**

इन्ही की आज्ञा से विद्यापति ने 'पुरुषपरीक्षा' तथा 'कीर्त्तिपताका' नामक ग्रथ लिखे। राजकुमार ही की अवस्था मे शिवसिह राजा के समान लोगो से आदर पाते थे, तथा यह भी उसी प्रकार प्रजावर्ग का पालन पोषण करते थे।

जब ल० स० २९३ मे देवसिह मरे और शिवसिह ने सर्वथा राज्यभार अपने हाथ मे लिया, उसी समय पूर्व ही से अप्रसन्न दिल्लीश्वर ने मिथिला पर चढ़ाई कर दी। किंतु शीघ्र ही शिवसिह ने यवन सेना को मार भगाया। और आचार-विचार के साथ यज्ञ दानादि करते हुए शिवसिह राज्य करने लगे। इन्हो ने अपने नाम पर सिक्के चलाए थे।[3]

ऐसा अवसर पा कर राजा अपने प्रिय कवि का पूर्ण सत्कार करना नही भूले। राज्यासन पर बैठते ही उन्हो ने विद्यापति को विसपी ग्राम समर्पण किया जिस का वर्णन ऊपर हो चुका है। विद्यापति से राजा तथा उन की रानी लखिमा बहुत प्रसन्न रहती थी। ये दोनो विद्यापति की कविता को प्रेम से सुनते थे और कवि के उत्साह को बढ़ाते थे।

---

[1] **वीरेषु मान्यः सुधियां वरेण्यो विद्यावतामादिविलेखनीयः।**
**श्रीदेवसिंहक्षितिपालसूनुः जीयाच्चिरं श्रीशिवसिंहदेवः**
**---'पुरुषपरीक्षा', मङ्गलाचरण, पृ० १**

[2] **का वार्त्ता त्वन्यदाने कनकमयतुलापूरुषो येन दत्तः।**
**--- 'शैवसर्वस्वसार', विद्यापति।**

[3] **'आर्कियालाजिकल सर्वे अव् इंडिया' का वार्षिक विवरण, १९१३-१४**

यवन सेना हार तो गई थी किंतु दूसरी चढ़ाई के लिए अवसर ढूंढ रही था लगभग ल० स० २९६ अर्थात् १४१४ ई० मे फिर से युद्ध छिड़ा। शिवसिंह ने इस बार भी बड़ी वीरता दिखलाई, किंतु अन्त मे यह हार गए। किसी का कहना है कि यह युद्ध क्षेत्र मे मारे गए और कोई-कोई कहते है कि यह नेपाल के जगलो मे छिप गए। जो कुछ हो, इस के बाद शिवसिंह की खबर किसी को नही है। इन की एकमात्र कन्या लखिमा से उत्पन्न हुई थी।

इस के बाद गजरथपुर की राजधानी उजड गई। कविवर विद्यापति लखिमा सहित अन्य राज-परिवार के साथ शिवसिंह के मित्र द्रोणवार (दोनबार) वशीय राजा पुरादित्य के यहाँ जनकपुर के समीप राज बनोली नामक स्थान मे जाकर रहने लगे[1]। इन्ही की आज्ञा से विद्यापति ने २९९ ल० स० मे 'लिखनावली' लिखा था[2]।

मैथिल इतिहासवेत्ताओ का कहना है कि शिवसिंह के मरने पर रानी लखिमा ने १२ वर्ष तक स्वय राज्य किया। किंतु इस का प्रमाण अभी तक नही मिला। जिस विद्यापति ने इस समय के राजाओ के राज्यक्रम का उल्लेख किया है, वह भी लखिमा की राज्य-सबंधी वार्ता का समर्थन नही करते। वस्तुस्थिति तो यही कहती है कि ये लोग यवनेश्वर के भय से पुरादित्य के यहाँ रक्षा के लिए रहते थे।

कहा जाता है कि इस के बाद राजा शिवसिंह के मत्री अमृतकर कायस्थ चद्रकर के पुत्र ने पटना जा कर बादशाह के मुख्य कर्मचारी मे प्रार्थना-पूर्वक भिक्षा-स्वरूप मे मिथिला का राज्य माँग लिया। और गजरथपुर को छोड जिला दरभगा, परगना बछौर, के पदुमा नामक स्थान मे, अपनी राजधानी बना कर शिवसिंह के छोटे भाई पद्मसिंह राज्य

---

[1] 'लिखनावली', भूमिका, पृ० २-३; 'पुरुषपरीक्षा', टिप्पणी, पृ० २६०

[2] सर्वादित्यतनूजस्य द्रोणवारमहीपतेः।
गिरिनारायणस्याज्ञां पुरादित्यस्य पालयन्॥
अल्पश्रुतोपदेशाय कौतुकाय बहुश्रुताम्।
विद्यापतिस्सतां प्रीत्यै करोति लिखनावलीम्॥

—'लिखनावली' के आदि श्लोक।

१। पद्मसिंह बड़े पराक्रमी,[२] दानी और यशस्वी थे। उन के गुणों में सभी लुब्ध
थे। मालूम होता है कि इन्हों ने बहुत थोड़े वर्ष तक राज्य किया। इन के कोई
न नहीं थी, इस लिए इन के मरने के बाद इन की धर्मपत्नी श्री विश्वास देवी ने
ग्ता से बहुत दिनों तक राज्य किया[३]। इन्हों ने जनकपुर ही के समीप विसौलि
ाम को अपने नाम पर बसाया और उसी को राजधानी स्थिर किया। यह पद्मसिंह
प्रिय रानी थीं[४]। बड़ी दाता और यशस्विनी थीं। इन्हों ने अनेक बार तुला-
महादान किए[५]। विद्यापति ने 'शैवसर्वस्वसार', शैव० 'प्रमाणभूतपुराणसग्रह' तथा

[१] 'पुरुषपरीक्षा' टिप्पणी, पृ० २६०। इसी 'अमियकर' के नाम पर कवि विद्या-
क पद भी बनाया है—'पदावली' सं० ८६ (गंगापतिसिंह का संस्करण) देखिए

[२] (क) संग्रामाङ्गणसीमभीमसदृशस्तस्यानुजस्संलसत्
दाने स्वलिपतकल्पवृक्षमहिमाऽसौ पद्मसिंहो नृपः।
कैलासोदरसोदरीयति शरद्राकाशशांकीयति
प्रालेयाचलशेखरीयति यशो यस्यारविन्दीयति॥

(ख) विद्यामङ्गिरसः सुतस्य विनयं रामस्य वृत्तं मुनेः
शौर्य्यं सूर्यसुतस्य धैर्य्यभवनं गाम्भीर्य्यमम्भोनिधेः।
दानं दानवनन्दनस्य सकलं सारं समुच्चिन्वता
धात्रा यश्शरदिन्दुसुन्दरयशाः क्षोणीपतिर्न्निर्म्मितः॥

—'शैवसर्वस्वसार', विद्यापति

[३] दुग्धाम्भोधेरिव श्रीर्गुणगणसदृशे विश्वविख्यातवंशे
सम्भूता पद्मसिंहक्षितिपतिदयिता धर्म्मकर्म्मैकसीमा।
पत्युः सिंहासनस्था पृथुमिथिलमहीमण्डलं पालयन्ती
श्रीमद्विश्वासदेवी जगति विजयते चर्य्ययाऽरुन्धतीव॥

—'शैवसर्वस्वसार'।

[४] विष्णोः श्रीरिव पद्मसिंहनृपतेरेषापरा प्रेयसी।

—'शैवसर्वस्वसार'।

[५] नैकोऽपि प्रथितः प्रदानयशसो विश्वासदेव्या समो
दातारः कति नाभवन् कति न वा सन्तीह भूमण्डले।
यस्याः स्वर्णतुलामुखाखिलमहादानप्रदानाङ्गण—
स्वर्गग्राममृगीदृशामपि तुलाकोटिध्वनिः श्रूयते॥

—'शैवसर्वस्वसार'।

गावली' नामक ग्रंथ इन्हीं के आदेश से बनाए[1] विद्यापति ने इन ग्रंथों में रान
प्रशंसा की है। इन के भी प्राय: कोई संतान नहीं हुई।
इस लिए राज्यभार अब की बार भवसिंह की तृतीय स्त्री के पुत्र हरिसिंह वा हर्गसि
पड़ा[2]। मालूम पड़ता है कि इन्हों ने बहुत ही थोड़े दिन राज्य किया। इ
विद्यापति ने 'विभागसार'[3] में, वाचस्पति (द्वितीय) ने 'कृत्यमहार्णव' तथ
निर्णय' में, मिसरू मिश्र ने 'विवादचन्द्र' में तथा वर्द्धमान ने अपने 'गंगाकृत्यविवेक
है।

इन के बाद राजा नरसिंहदेव उपनाम दर्पनारायण राजा हुए। यह भी ब
दानी, यशस्वी तथा गुणवान राजा हुए[4]। इन्हीं की आज्ञा से विद्यापति

---

[1] नित्यं देवद्विजार्थं द्रविणवितरणारम्भसम्भावितश्रीः
धर्मज्ञा चन्द्रचूडप्रतिदिवससमाराधनैकाग्रचित्ता।
विज्ञानुज्ञाप्य विद्यापतिकृतिनमसौ विश्वविख्यातकीर्त्तिः
श्रीमद्विश्वासदेवी विरचयति शिवं शैवसर्वस्वसारम्॥
—'शैवसर्वस्वसार'।

[2] 'हिस्ट्री अव् तिरहुत', पृ० ७३

[3] राज्ञो भवेशाद्धरिसिंह आसीत्।
—'विभागसार', विद्यापति।

[4] (क) स्वस्ति श्रीनरसिंहदेवमिथिलाभूमण्डलाखण्डलो
भूभृन्मौलिकिरीटरत्ननिकरप्रत्यर्चिताङ्घ्रिद्वयः।
आपूर्वापरदक्षिणोत्तरगिरिप्राप्तार्थिवाञ्छाधिक—
स्वर्णक्षोणिमणिप्रदानविजितश्रीकर्णकल्पद्रुमः॥
—विद्यापति, 'दुर्गाभक्तितरंगिणी

(ख) श्रीरामेश्वरराजपण्डितकुलालङ्कारसारः श्रिया—
मावासो नरसिंहदेवमिथिलाभूमण्डलाखण्डलः।
दृप्यद्दुर्द्धरवैरिदर्पदलनोऽभूद्दर्पनारायणो
विख्यातः शरदिन्दुकुन्दधवलश्चास्य यशोमण्डलः॥
—विद्यापति, 'दानवाक्यावली

(ग) अभूदभूतप्रतिपक्षभीतिः सदा समासादितभूरिनीतिः।
चिरं कृतार्थीकृतभूमिदेवः स्फुरत्प्रतापो नरसिंहदेवः॥
—रुचिपति 'अनर्घराघवटीका', पृ० २ (काव्यमाला-संस्करण

ार' नामक ग्रथ लिखा[1]। इन की दो स्त्रियाँ थी—धीरमति तथा हीरा देवी।
बडी दयाशीला, गुणवती थी। इन्हो ने अनेक महादानादि दान किए और जला-
ाए तथा अनेक बाग लगवाए। इन की आज्ञा से विद्यापति ने 'दानवाक्यावली'
।

इन के दो पुत्ररत्न उत्पन्न हुए—धीरसिह उपनाम हृदयनारायण तथा भैरवसिह
रूपनारायण। इसी प्रकार द्वितीय स्त्री हीरा देवी से भी दो पुत्र उत्पन्न हुए—
तथा दुर्ल्लभसिह उपनाम रर्णासिह। इन सभों मे ज्येष्ठ धीरसिह थे इस लिए
त्र के मरने के बाद धीरमति देवी के पुत्र धीरसिह सिहासनारूढ हुए।

धीरसिह के समयनिरूपण के संबंध मे यह कहा जा सकता है, कि ल० स० ३२१
१४४० ईस्वी मे धीरसिह राज्य करते थे, क्योकि इसी वर्ष कार्त्तिक कृष्ण अमा-
ानि के दिन प्राकृत-काव्य 'सेतुबध' की टीका 'सेतुदर्पणी' हस्तलिखित की गई

---

[1] राज्ञो भवेशाद्धरिसिंह आसीत् तत्सूनुना दर्पनारायणेन।
राज्ञा नियुक्तोऽत्र विभागसारं विचार्य विद्यापतिरातनोति॥
—हस्त० पुस्तकसूची, सं० २०३७ (राजेंद्रलाल मित्र)

[2] (क) तस्योदारगुणाश्रयस्य मिथिलाक्ष्माधालचूडामणेः।
श्रीमद्धीरमतिः प्रिया विजयते भूमण्डलालङ्कृतिः॥
—'दानवाक्यावली', पृ० १-२

(ख) दाने कल्पलतेव चारुचरिते याऽरुन्धतीव स्थिरा
या लक्ष्मीरिव भैरवे गुणगणे गौरीव या गण्यते।
वापी कूपजलाधिकाशिविमला विज्ञानवापीसमा
रम्यं तीर्थनिवासिवासभवनं चन्द्राभमभ्रंलिहम्॥ १॥
उद्यानं फलपुष्पनम्रविटपच्छायाभिरानन्दनं
भिक्षुभ्यः सरसान्नदानमनघं यस्या भवान्या इह।
लक्ष्मीभाजः कृतार्थो न कृतसु मनसो या महादानहेम—
ग्रामैराजीवराजीबहलतरपरागाप्तरागैस्तडागैः॥२॥
विज्ञानुज्ञाप्य विद्यापतिमतिकृतिनं सप्रमाणामुदारा
राज्ञी पुण्यावलोका विरचयति नवां दानवाक्यावलीं सा।
—'दानवाक्यावली' का आरंभ

थी[1] यह भी बड़े प्रतापी शत्रुजेता तथा कीर्तिमान् राजा हुए[2] धीरसिंह के दो पुत्र हुए—राघवसिंह तथा जगन्नारायणसिंह।

धीरसिंह के बाद उन के छोटे भाई भैरवसिंह राज्याधिकारी हुए। कहीं-कहीं भैरवसिंह का उपनाम 'हरिनारायण' भी मिलता है[3]। यह भी बड़े पराक्रमी तथा यशस्वी राजा हुए। इन्हों ने पाँचों गौड़ राजाओं को पराजित किया था[4]। उन के समय में भी अनेक संस्कृत ग्रंथ लिखे गए। पंडितों का आदर इन के यहाँ विशेष होता था। राजनीति में भी यह बड़े चतुर थे इसी कारण प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता था[5]।

---

[1] परमभट्टारकेत्यादि-महाराजाधिराज-श्रीमल्लक्ष्मणसेनदेवीयैकाविंशत्यधिकशतत्रयतमाके(ब्दे?) कार्त्तिकामावास्यायां शनौ समस्तप्रक्रियाविराजमानरिपुराजकंसनारायण-शिवभक्तिपरायण-महाराजाधिराज-श्रीश्रीमद्धीरसिंहसंभुज्यमानायां तीरभुक्तौ अलापुरतपाप्रतिबन्धसुन्दरीग्रामे वसता सदुपाध्यायश्रीसुधाकराणामात्मजेन छात्रश्रीरत्नेश्वरेण स्वार्थं परार्थञ्च लिखितमिदं सेतुदर्पणीपुस्तकमिति।

—'हिस्ट्री अव् तिरहुत', पृ० ७४

[2] विश्वख्याततनयस्तदीयतनयः प्रौढप्रतापोदयः
संग्रामाङ्गणलब्धवैरिविजयः कीर्त्याऽऽप्तलोकत्रयः।
मर्यादानिलयः प्रकामनिलयः प्रज्ञाप्रकर्षाश्रयः
श्रीमद्भूपतिधीरसिंहविजयी राजत्यमोघक्रियः॥

—विद्यापति, 'दुर्गाभक्तितरंगिणी', पृ० १

[3] (क) इति समस्तप्रक्रियाविराजमानरिपुराजकंसनारायणभवभक्तिपरायणश्रीहरि नारायणपदसमलङ्कृतमहाराजाधिराजश्रीमद्भैरवसिंहदेवनिदेशप्रोत्साहितबेजौलीग्रामवास्तव्यखौआलवंशप्रभवश्रीरुचिपतिमहोपाध्यायविरचितायामनर्घराघवटीकायां सप्तमोऽङ्कः।

—'मुरारिनाटकटीका', काव्यमालासंस्करण, पृ० ३२१

(ख) 'हिस्ट्री अव् तिरहुत', पृ० ७५

[4] शौर्यावर्जितपञ्चगौडधरणीनाथोपनम्रीकृता-
नेकोत्तुङ्गतुरङ्गसङ्गतसितच्छत्राभिरामोदयः।
श्रीमद्भैरवसिंहदेवनृपतिर्यस्यानुजन्मा जय-
त्याचन्द्रार्कमखण्डकीर्तिसहितः श्रीरूपनारायणः॥

—'दुर्गाभक्तितरंगिणी', पृ० १

[5] (क) सूनुस्तस्य वसुन्धरापरिवृढस्यानन्दकन्दः क्षिते-
राधारो जगतामशेषविदुषां विश्रामकल्पद्रुमः।
दाने कर्णकथावलेपनिपुणः संसाररत्नाङ्कुरो
भूमीपालशिरोमणिर्विजयते श्रीभैरवेन्द्रो नृपः॥

—रुचिपति, 'अनर्घराघवटीका', पृ० २

न इन्हीं की आज्ञा से 'दुर्गाभक्ति-तरंगिणी' लिखा था[1] रुचिपति ठाकुर न
व' नाटक की टीका लिखी थी[2]।

रवसिंह के समय में वाचस्पतिमिश्र ने 'व्यवहारचिंतामणि', 'कृत्यमहार्णव' तथा
र्णय' लिखा; वर्द्धमानोपाध्याय ने 'दंडविवेक'। ये दोनों इन के सभासद थे।
धर्माधिकारी थे[3]। वाचस्पति ने लिखा है कि इन्होंने सैकड़ों तालाब बनवाए,
, पत्तन आदि के दान इन्होंने किए तथा तुलापुरुषदान भी किए[4]।

---

(ख) अर्थितप्रार्थितपूरकोऽपि रमतां स्वीये बलिर्मन्दिरे
नाकेऽनेकफलान्वितोऽपि स सुखेनास्तां च देवद्रुमः।
श्रीमान् सम्प्रति भैरवेन्द्रनृमणिः सर्वार्थचिन्तामणिः
जातो लोचनगोचरो यदि तदा किं तेन तेनापि वा॥

—वही।

(ग) यस्मिन् राजनि राजनीतिचतुरे पाथोधितीरावधि
प्रख्यातप्रथितप्रतापनिचये पृथ्वीमिमां शासति।
कोकं राजकरो न लोकनिकरं संतापयत्युन्नतो
विख्यातः सुदृशां महोत्सवविधौ कान्तेन पाणिग्रहः॥

—वही।

देवीभक्तपरायणः श्रुतिमुखप्रारब्धपारायणः
सङ्ग्रामे रिपुराजकंसदलनप्रत्यक्षनारायणः।
विश्वेषां हितकाम्यया नृपवरोऽनुज्ञाप्य विद्यापतिं
श्रीदुर्गोत्सवपद्धतिं स तनुते दृष्ट्वा निबन्धस्थितिम्॥

—विद्यापति, 'दुर्गाभक्तितरंगिणी', पृ० १

खाआलवंशजातस्तस्यादेशान्महीशस्य।
श्रीरुचिपतिरतिगूढाः स्पष्टीकुरुते मुरारिकविवाचः॥

—'मुरारिनाटकटीका', पृ० २

'हिस्ट्री अव् तिरहुत', पृ० ७६

(क) विधाय सरसीः शतं नगरपत्तनादीनदात्
विजित्य रिपुभूपतीनदीतयस्तुलापूरुषान्।
स एष नृपभैरवः समरसीम्नि पञ्चाननो
जयत्यविधिदारको जगति राजवृन्दारकः॥

(ख) श्रीवाचस्पतिधीरं सहकारितया समासाद्य।
श्रीभैरवेन्द्रनृपतिः स्वयं महादानिर्णयं तन्यते॥

यह हस्तलिखित ग्रंथ नेपालराज दरबार में ल० सं० ३९२=१५११ ई० का
है।

इन की दो स्त्रियाँ थीं एक का नाम जया देवी[1] था जिन के पुत्र महाराज पुरुषोत्तम उपनाम गरुड़नारायण थे[2]। दूसरी स्त्री का नाम तो मुझे मालूम नहीं किंतु उन के पुत्र रामभद्रसिंह उपनाम रूपनारायण थे। इन लोगों ने क्रमिक राज्य किया।

उधर धीरसिंह के दो पुत्र थे—राघवसिंह तथा जगन्नारायणसिंह। राघवसिंह की स्त्रियों का नाम मोदवती तथा सोनमति था[3]। इन्हों ने कब राज किया यह तो अभी किसी से प्रमाणित नहीं होता है किंतु इतना कहा जा सकता है कि कविवर विद्यापति इन के भी राज्यकाल में जीवित थे और कवि ने इन के नाम का अपने कुछ पदों में उल्लेख किया है[4]। इसी प्रकार जगन्नारायणसिंह के प्रायः पांच पुत्र हुए। उन में से एक का नाम रुद्रनारायण था। विद्यापति ने कुछ पदों में एक राजा रुद्रसिंह का उल्लेख किया है,[5] इसी से यह भी अनुमान होता है कि वह रुद्रसिंह यही 'रुद्रनारायणसिंह' थे, क्योंकि तत्कालीन रुद्रसिंह नामक किसी भी अन्य राजा का परिचय आज तक मुझे नहीं मिला है।

राजा नरसिंहदेव की द्वितीय स्त्री हीरा देवी के ज्येष्ठ पुत्र चंद्रसिंह भी बड़े प्रतापी राजा थे। इन्हों ने भी राज्य किया था यह इन के नाम के आगे बारबार 'नृप' शब्द के

---

[1] विष्णोर्व्यक्तः पुरमिव शाम्भोरिव देहवामार्धम्।
देवी सनाभिरेषा जयति जयात्मामहादेवी ॥
—'हिस्ट्री अव् तिरहुत', पृ० ७६

[2] श्रीभैरवेन्द्रधरणीपतिधर्म्मपत्नी राजाधिराजपुरुषोत्तमदेवमाता।
—वही।

[3] (क) मोदवती पति राघवसिंह मति कवि विद्यापति गाई।
—विद्या० पदा० गङ्गानन्दसिंह, पृ० २७२

(ख) भनइ विद्यापति बुझ रसमन्त, राघवसिंह सोनमतिदेविकन्त।
—विद्यापति पदावली, नगेन्द्रनाथ, पद सं० ७२४

[4] (क) भनहि विद्यापति सुनु परमान।
बुझ नृपराघव नव पचवान ॥
—वि० पद०, सं० ७०० (नगेंद्रनाथ)

(ख) फुटनोट सं० ३ (क, ख)—ऊपर।

[5] (क) कवि विद्यापति भान, मानिनि जीवन जान।
नृप रुद्रसिंह वरु, मेदिनि कलपतरु ॥
—वि० पद०, पृ० २४४ (गंगानन्दसिंह)

(ख) रुद्रसिंह नरपति वरदायक, विद्यापति कवि भणित गुणे।
—वही, पृ० ३१२

प्रयोग देखने से ज्ञात होता है[1] संभव है कि इन्हों ने मिथिला राज्य के कुछ भाग पर ही राज्य किया हो। इन की भी स्त्री का नाम लखिमा था।[2] इन के दरबार मे भी अनेक विद्वान् थे जिन मे मिसरु मिश्र का प्रधान नाम है। इन्हो ने 'विवादचंद्र' तथा 'पदार्थचंद्र' नामक ग्रंथ बनाए[3]। इन के यहाँ भी मैथिली कवि थे जिन मे 'भानु' के नाम के पद देख पड़ते है[4]।

विद्यापति से संबंध रखनेवाले मिथिला के राजाओ की संक्षिप्त इतिवृत्ति हमे मैथिलो के बनाए हुए अनेक ग्रंथो से मिलती है। थोड़ा सा परिश्रम किया जाय तो इन सभों के यथार्थ राज्यकाल का भी परिचय लग सकता है। कुछ दिग्दर्शन तो ऊपर कराया गया किंतु पूरी चेष्टा अभी बाकी ही है। फिर कभी आगे देखा जायगा। इस आधार पर यह कहा जाता है कि विद्यापति का जीवनकाल राजाओं के सभा मे अनेक प्रकार के प्रकांड विद्वानो के साथ व्यतीत हुआ था। इस लिए विद्यापति ने यद्यपि मैथिली भाषा की उन्नति ही मे अपना प्रधान समय लगाया, तथापि शास्त्रो का भी पूरा व्यवसाय रक्खा था। आजकल के भाषा-कवियो की तरह कोरे भाषा-कवि ही वह नही थे। इस के फलस्वरूप उन्हो ने कितने अच्छे-अच्छे संस्कृत के ग्रंथ बनाए जिन का अति संक्षिप्त परिचय आगे दिया जायगा। मैथिलों के लिए यह कोई नवीन बात नही है, वे तो पूर्व मे और अभी भी कोरे भाषा-कवि न हुए और न है।

---

[1] चंद्रसिंहनृपतेः —'विवादचंद्र' के आरंभ में।
पुनः 'श्रीचंद्रसिंहनृपतेः' —'पदार्थचंद्र' के प्रारंभ में।

[2] (क) श्रीमल्लखिमादेवी तस्य चंद्रसिंहनृपतेर्दयितस्य।
मिसरूमिश्रद्वारा रचयति विवादचंद्राभिरामम्॥
—'विवादचंद्र' के आरंभ में।

(ख) श्रीचंद्रसिंहनृपतेर्दयिता लखिमामहादेवी।
रचयति पदार्थचंद्रं मिसरूमिश्रोपदेशेन॥
—'पदार्थचंद्र' के आदि में।

[3] फुटनोट नं० २ ऊपर।

[4] चंद्रसिंह नरेस जीवओ, भानु जम्पए रे॥
—वि० पदा०, सं० ३२२ (नगेंद्रनाथ)

यद्यपि गुप्त जी ने इसे विद्यापति की कविता बतलाया है किंतु मुझे ठीक नहीं जँचता, इस लिए मैंने इसे 'भानु' नामक कवि का बनाया हुआ समझा है।

इसी के आधार पर अब विद्यापति के जीवनकाल का भी कुछ निर्णय हो सकता है। ऊपर कहा गया है कि सभवत २४१ ल० सं० अर्थात् १३६० ईस्वी में इन का जन्म हुआ था। इस के प्रमाण में यह कहा जाता है कि इन के पिता गणपति ठाकुर महाराज गणेश्वरसिंह के राजसभासद थे और राजसभा में अपने पुत्र विद्यापति को ले जाया करते थे। महाराज गणेश्वर की मृत्यु २५२ ल० स० में हुई थी। अत. विद्यापति उस समय अतत: १० या ११ वर्ष की अवस्था के अवश्य रहे होंगे जिस में उन का राजदरबार में आना जाना हो सकता था। दूसरी बात यह है कि विद्यापति के प्रधान आश्रयदाता शिवसिंह का जन्म २४३ ल० स० में हुआ और ५० वर्ष की अवस्था में राज्यगद्दी पर बैठे यह माना जाता है और यह भी लोगों की धारणा है कि कवि विद्यापति उन से दो वर्ष मात्र बड़े थे। तीसरी बात यह है कि विद्यापति ने 'कीर्त्तिलता' में अपने को खेलन कवि[1] कहा है इस लिए वह अवश्य कीर्त्तिसिंह या वीरसिंह की दृष्टि में अल्प वयस के साथ-साथ खेलने के लायक रहे होंगे। इन सभी बातों से यही अनुमान होता है कि विद्यापति २५२ ल० स० में लगभग १० या ११ वर्ष के थे। विद्यापति ने कीर्त्तिसिंह के सुनने के लिए 'कीर्त्तिलता' काव्य की रचना की थी[2]। अब यदि यह कहा जाय कि विद्यापति 'कीर्त्तिलता' की रचना के समय अवश्य कम से कम लगभग बीस वर्ष के रहे होंगे, क्योंकि इस अवस्था से बहुत पूर्व वयस में 'कीर्त्तिलता' के समान काव्य की रचना करने की शक्ति नही रही होगी, तब भी यही मालूम होता है कि विद्यापति २४१ ल० सं० या उस के लगभग उत्पन्न हुए थे या इस से भी पहले हुए हों तो कोई आश्चर्य नही। २४१ ल० स० के बाद के तो कदापि नही हो सकते। अत उक्त बातो को विचार कर मैं ने भी इन्हें उसी समय में रक्खा है।

इसी प्रकार इन के मृत्यु-समय का भी कुछ ठीक पता नहीं लगता है। ऊपर कहा

---

[1] एवं सङ्गरसाहसप्रमथनप्रालब्धलब्धोदयां
पुष्णाति श्रियमाशशाङ्कतरणीं श्रीकीर्त्तिसिंहो नृपः।
माधुर्यप्रसवस्थली गुरुयशोविस्तारशिक्षासखी
यावद्विश्वमिदञ्च खेलनकवेर्विद्यापतेर्भारती ॥

—'कीर्त्तिलता' का अंतिम श्लोक।

[2] श्रोतुर्ज्ञातुर्वदान्यस्य कीर्त्तिसिंहमहीपतेः।
करोतु कवितुः काव्यं भव्यं विद्यापतिः कविः ॥

—'कीर्त्तिलता', पल्लव १

जा चुका है कि विद्यापति ने 'दुर्गाभक्तितरंगिणी' महाराज भैरवसिंह के समय में बनाया था और ३२१ ल० स० अर्थात् १४४० ई० में धीरसिंह जीवित ही थे। इस लिए ३२१ के बाद भैरवसिंह आए होंगे। कम से कम अब १० वर्ष और व्यतीत हो गया होगा। अतएव यह कहा जा सकता है कि ३३१ के लगभग विद्यापति ने 'दुर्गाभक्तितरंगिणी' लिखी थी। इस के बाद ही इन की मृत्यु हुई होगी।

दूसरी तरफ देखें तो यह मालूम होता है कि विद्यापति ने न केवल धीरसिंह के पुत्र राघव का नाम अपने पदों में लिया है किंतु धीरसिंह के पौत्र तथा जगन्नारायणसिंह के पुत्र रुद्र (नारायण) सिंह का भी। अब यदि समय का हिस्सा लगाया जाय तो धीरसिंह के बाद कम से कम २० वर्ष तो और अवश्य मानना होगा। अर्थात् रुद्र (नारायण) सिंह लगभग ३४१ में अवश्य जीवित थे। विद्यापति ने इन के नाम पर भी कविता बनाई है। अत ३४१ के बाद विद्यापति की मृत्यु हुई होगी।

एक और भी बात विचारणीय है। वाचस्पति मिश्र भैरवेंद्रसिंह के सभासद, विद्वान् और विद्यापति के समकालीन थे। वाचस्पति मिश्र का समय १४७५[1] ईस्वी तक होना माना जाता है अतएव विद्यापति को भी उसी समय तक या उस के लगभग रखना ही पड़ेगा। इन सब बातो को विचार कर यह कहा जा सकता है कि विद्यापति लगभग ३५६ ल० सं० अर्थात् १४७५ ईस्वी में अवश्य जीवित रहे होंगे। अतएव जब तक कोई इस से भी विशेष प्रामाणिक बात नही मिलती तब तक विद्यापति का जन्म २४१ ल० स० (१३६८ ईस्वी) में तथा मृत्यु ३५६ ल० सं० (१४७५) के बाद में हुई यह माना जा सकता है। इस प्रकार विद्यापति १०० वर्ष से भी अधिक दिनों तक अवश्य जीवित रहे होंगे।

शिवसिंह के स्वप्न के संबंध में इतना ही कहना उचित मालूम होता है, कि ऐसा कोई प्रमाण नही है कि स्वप्न-फल बहुत ही शीघ्र मिले। कुछ तो स्वप्न मिथ्या भी होते है। यदि फलवान् भी हुए तो कब, यह नही कहा जा सकता।

और भी एक विचारणीय बात मन में आती है। स्वप्नवाली कविता—

**सपन देखल हम सिवसिंह भूप**
**बतिस बरिस पर सामर रूप।**

---

[1] **'प्रिंस अव् वेल्स् सरस्वती भवन स्टडीज', ग्रंथ ३, पृ० १५२**

बहुत देखल गुरुजन प्राचीन
आब भलहुँ हम आयु विहोन।
सिमटु सिमटु निज लोचन नीर
ककरहु काल न राखथि थीर।
विद्यापति सुगतिक प्रस्ताव
त्यागि के करुना रसक स्वभाव।

के अतिम दो पंक्तिओ से यह मालूम होता है, कि विद्यापति ने अब तक (अर्थात् २९६+३२=३२८ ल० स०=१४४७ ई०) केवल शृंगाररस में ही अपना समय लगाया था। किंतु शृंगार ही से सुगति नही मिल सकती यह जान कर उस के बाद कवि ने मोक्षमार्ग के निमित्त अपनी कवित्व-शक्ति की शरण ली और मोक्षदाता शिव के ही भजनो में अवशिष्ट समय लगाया। इसी समय इन्हो ने गगा जी (जिन का शिव से घनिष्ठ सबध है) की भी कविताएँ बनाई।

इन्ही दिनों की कुछ विरक्ति की कविताएँ भी बडी रोचक है तथा इन से यह भी मालूम होता है, कि कवि ने शृंगारिक रचना ही में अधिक समय लगाया था।

माधव, हम परिनाम निरासा।
तुहु जगतारन दीन दयामय अतए तोहर विसवासा।
आध जनम हम नींद गमायनु जरा सिसु कत दिन गेला।
निधवन रमनि रभसरंग मातनु तोहे भजब कओन बेला।[1]

बाद को भी हम विस्तृत स्वरूप मे कहेगे और अभी भी संक्षेप मे यह कहते है कि जितनी कविताएँ राधाकृष्ण को लेकर कवि ने बनाई प्राय: सभी शृगारिक है और कवि ने ससार के स्त्री पुरुष को राधाकृष्ण के नाम से अन्योक्ति-रूप मे मिथिला देशीय सब प्रकार के मनुष्यों के उचित आचार-विचार तथा व्यवहार के अनुकूल शृंगारिक मात्र सभी बातो का संग्रह अपने पदों में किया है। राधाकृष्ण के नाममात्र से यह कभी न समझना चाहिए कि लेखक केवल भक्तिरस की चरम काष्ठा पर पहुँच जीव ब्रह्म के ऐक्य ही को शृगारिक

---

[1] यह कविता मैं ने कुमार गंगानंदसिंह के संस्करण से उद्धृत की है।

शब्दो में कह रहा है। हमे उन भावो को कवि के प्रत्येक शब्दो को ले कर मनन करना चाहिए कि किस उद्देश्य से कवि ने लिखा है। इस से मै यह कभी नही कहता कि विद्यापति के मन मे हरि भगवान् की भक्ति न थी या किन्हीं एक या दो कविताओं में उन्हो ने भगवान् के यथार्थ स्वरूप को लक्ष्य न किया हो किंतु प्राय. कर के सभी कविताएँ एकमात्र लौकिक प्रेम के ही अग-प्रत्यग स्वरूप हैं।

इसी बात को कवि ने उक्त पदो मे सूचित भी किया है। कहते हैं कि हे माधव ! मेरा अत भविष्य शून्यमय, निरास अभी देख पडता है। क्यो कि जीवन का आधा समय तो मैं ने आँख मूँद कर सासारिक बातो ही मे व्यतीत किया अर्थात् भगवान् का भजन मैं ने नही किया। कुछ समय तो बालकपन ही में गया और कुछ वृद्धावस्था ने खाया, अवशिष्ट मे मैं शृंगाररस के पीछे पागल था। बताओ ! अब मैं तुम्हारा कब भजन करूँ। अब तो समय नही है। परंतु भगवन् ! एकमात्र आशा यह है कि तुम दीनो के प्रति दयामय हो, ससार से दुखिओ का उद्धार करनेवाले हो। इसी लिए तुम्हारा विश्वास है कि मुझ पर भी दया करोगे और ससार से मुक्ति दोगे।

इसी भावना को कवि ने वृद्धावस्था के यथार्थ रचनाओं मे स्पष्ट किया है —

**ए हरि वन्दों तुअ पद नाय।**
**तुअ पद परिहरि पाप पयोनिधि पारक कओन उपाय॥**
**जावत जनम नहिँ तुव पद सेविनु जुवती मतिमय मेलि।**
**अमृत तजि किए हलाहल पीअनु सम्पद अपदहि भेलि॥**

इस प्रकार का पश्चात्ताप वह कभी नही करते, यदि जब से उन्हो ने रचना आरभ की तब से केवल भगवान् की भक्ति ही में डूबे रहते और सच्चिदानद-सागर ही मे डूब-डूब कर कवितारूपी मोतिओ को बाहर बिखेरते रहे होते। यह तो स्पष्ट मालूम होता है कि कवि ने अपने जीवन के अधिकाश समय को ससार ही के सुख-दुख मे लगाया और अब पश्चात्ताप कर रहे है। भक्त को आरंभ मे पश्चात्ताप होता है और होना संभव भी है किंतु यदि वह सालो-भक्ति समुद्र में डूबा रहे तो पश्चात्ताप बाद को होना असंभव ही मालूम होता है।

( अपूर्ण )

---